शिल्प और दर्शन

UNIVERSITY LIBRARY
29 AUG 1963
ALLAHABAD.

श्री सुमित्रानंदन पंत

प्रकाशक

रामनारायण लाल बेनी माधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९६१ [मूल्य ८)

प्रकाशक
रामनारायण लाल बेनी माधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
प्रयाग

252351

२० मई १९६१

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

श्री इलाचंद्र जी जोशी को
सप्रेम

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	१	विपुलत पुष्पो; की	विपुलता; पुष्पो की
१४	२८	स्थल	स्तल
२१	१६	कूलन	कूलन मे
२६	२६	वाले मे	वाले चरण मे
३६	२२	हुए	हुई
३६	२३	हुए	हुई
४०	६	सबध यदि	यदि
५४	३	शाखा रहित	शाखा सहित
७१	२७	की	किए
७२	२८	मार्क्सवादी	मार्क्सवादी,
९९	१३	पर	पैर
१०१	३	प्रसार	प्रस्तार
१०८	शीर्षक	चिन्ह	चिह्न
११६	१८	रुक्ष	रूक्ष
१२१	६	शान्त	सान्त
१५६	१२	प्रगतिवद	प्रगतिवाद
१५६	२८	प्रकृतिवादी	प्रगतिवादी
१५६	३०	करुण	करुणा
१६१	१५	स्वन्त	स्वान्त
१६७	५	मिली	मिलती
१६७	१४	ही	भी
१७२	१४	मद	नद
१७३	१४	हुए	हुए भी
१८५	२१	उसकाया	उकसाया
२१२	१३	मनुष्य के	मनुष्य की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२१	६	एकाकी	एकाकी
२२७	१	नहीं होता,	नही,
२३९	११	जब	अब
२४१	२९	आभा	आत्मा
२६३	५	के	मे
२६५	२५	सगन	सगठन
२७१	२२	सामने	सामने से
२७७	१३	यह कि	कि यह
२८५	८	जनक	जनक।
२९४	५	ही	नही
२९४	२२	तथा विद्युत्	विद्युत् तथा
२९५	१९	कवि को	कवि की
२९६	१३	वसती	वासती
३०९	२	मानस-जीवन	मानस जीवन-
३०९	२६	के पूर्ण	को पूर्ण
३१९	१७	ये है	यह . है
३२४	८	अत	अन्त·
३२९	२६	के	से
३३५	६	अनर्थ	अनर्थकर
३४०	८	बन	बेन
३४७	६	जाहरि	जाहारे
३५१	६	जाते	जाती
३६५	२१	उनकी	अनेक
३६९	५	वह पडी	पडी

विज्ञापन

'शिल्प और दर्शन' मेरे निबंधो का सग्रह है। इसके प्रथम खड मे मेरे कुछ काव्य सकलनों की प्रस्तावनाएँ तथा द्वितीय खंड मे आकाशवाणी से प्रसारित मेरी वार्ताओं के साथ ही मेरे कुछ अभिभाषण तथा पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित मेरे अन्य निबंध सगृहीत हैं। 'गद्य पथ' नामक मेरे निबध सग्रह की सामग्री भी इसमे सम्मिलित कर दी गई है, जिससे पाठको को कला, शिल्प तथा जीवन दर्शन संबधी मेरे विचारो का सग्रह एक साथ सुलभ हो सके।

'शिल्प और दर्शन' के अनेक निबंधों में मैंने अपनी रचना प्रक्रिया तथा काव्य कला पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है और समय समय पर उनके बारे मे जो जिज्ञासाएँ पाठकों तथा आलोचकों के मन में उठी हैं उनका समाधान करने का प्रयास किया है। अनेक निबन्धो में सास्कृतिक तथा युगीन समस्याओं पर भी विचार विमर्श किया गया है। आज जिन अतिवादों में उलझकर मानव मन की वृत्ति एकागी बनती जा रही है तथा अतिवैयक्तिक कला रुचि विषयक चोर बालू में फँसकर जीवन मूल्यो की गति कुंठित होती जा रही है, उन अनेक प्रकार की गूढ़ पहेलियों तथा दृष्टिकोणों मे सतुलन स्थापित करने की चेष्टा कर मैंने आज के मानव जीवन तथा मन के बहुमुखी तथा परस्पर विरोधी क्रिया कलाप तथा विचार प्रणालियों को व्यापक जीवन उपयोगी सामंजस्य में बाँधने का प्रयत्न किया है। आस्था, श्रद्धा, सौन्दर्य, आनंद आदि—जैसे मौलिक मान्यताओं के शिखरों को तर्क तथा संदेह के नैराश्य भरे कुहासे से मुक्त कर उन्हे उनके शुभ्र रूपमें निखारने की साधना भी इन निबंधों मे मिलेगी।

मुझे विश्वास है मेरे काव्य के पाठकों को इन निबंधों के परिशीलन द्वारा मेरे विभिन्न युगों तथा आयामो मे वितरित काव्य को समझने में सहायता मिलेगी, साथ ही वर्तमान युग की अनेक आवश्यक अनिवार्य समस्याओ के संबध में भी मेरे मन की विचार प्रक्रिया सुलभ हो सकेगी। प्रस्तुत संकलन को पुस्तक रूप मे उपस्थित करने के लिए मैं अपने प्रकाशको को धन्यवाद देता हूँ।

श्री सुमित्रानदन पत

१८।७ बी० कस्तूरबा गांधी मार्ग
इलाहाबाद
५ फरवरी १९६१

विषय-सूची

प्रथम खंड

द्वितीय खंड

प्रथम खण्ड

प्रवेश

(क)

हिन्दी-कविता की नीहारिका, सम्प्रति, अपने प्रेमियो के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश मे अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिड उससे टूट पडते है, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश सगृहीत नही कर पाये है कि अपनी ही ज्योति मे अपने लिए नियमित पथ खोज सके, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर ले; ऐसी दशा मे कहा नही जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित वाष्प-पिड निकट भविष्य मे किस स्वस्थ स्वरूप मे घनीभूत होगा, कैसा आकार प्रकार ग्रहण करेगा, हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चॉद की कैसी सुधा, हमारे प्रभात मे कितना सोना होगा, रात मे कितनी चॉदी !

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थो की अज्ञात परिधि पर निर्भर न रहकर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है, जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नही पहुँचा था, वह उसे चिपटी मानकर भी चलता रहा, हम अपने प्रौढ पगो के लिए नही ठहरते, घुटनो के बल चलने के नियमों को सीखकर ही आगे बढते हैं । सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नही छोड सकते ।

अब ब्रजभाषा और खडीबोली के बीच जीवन-सग्राम का युग बीत गया, उन दिनो मै साहित्य का ककहरा भी नही जानता था । उस सुकुमार माँ के गर्भ से जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी मे विद्युत् है । हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है । उसका किशोर-कठ फूट गया, अस्फुट अग कट-छँट गये, उनकी अस्पष्टता मे एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया, पदो की चंचलता दृष्टि मे आ गई, वह विपुल विस्तृत हो गई; हृदय मे नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगी, ज्ञान की परिधि बढ गई, चारों दिशाओ से त्रिविध-समीर के झोके उसके चित्त को रोमाचित करने लगे, उसे चाँद मे नवीन सौन्दर्य, मेघ मे नवीन गर्जन सुनाई देने लगा । वह अज्ञात-यौवना कलिका अब विकसित हो गई, प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया; चारो ओर से भौरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायु इधर-उधर वहन करने लग गया; विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल पर स्वय अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया; उसके प्राणो मे अक्षय-मधु भर दिया है ।

उस व्रज की बाँसुरी मे अमृत था, नन्दन की मधु-ऋतु थी, उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस* उमड चला ! आज भी वह कुछ हाथो की तूम्बी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खडहरो के टूटे-फूटे कोनो तथा गन्दे छिद्रो से दो-एक दन्तहीन बूढ़े साँपो को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने तथा प्रवीण कला-कुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे है; दस बरस बाद ये प्राण-हीन केचुलियां, शायद इनके आँख झाडने के काम आयेंगी । लेकिन यह अपवाद ही खड़ीबोली की विजय का प्रमाण है । अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड पाचजन्य उठा लिया, सुप्त देश को सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खडीबोली उस जाग्रति की शंखध्वनि है । व्रजभाषा मे नीद की मिठास थी, इसमे जाग्रति का स्पन्दन, उसमे रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमे दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश ।

व्रजभाषा के मोम मे भक्ति का पवित्र चित्र, उसके माखन मे शृगार की कोमल करुण-मूर्ति खूब उतरी है । वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झकार है, उसके स्वर मे शान्ति, प्रेम, करुणा है । देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक शान्ति ही व्रजभाषा के रूप मे बदल गई । वह था सम्राट् अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल, जिनकी निर्द्वन्द्व छत्र-छाया मे उनकी शान्ति-प्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीडित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यो मे लहलहा उठा । राजा-महाराजाओ ने स्वय अपने हाथो से सगीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सीचा, कलाविदो को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया । सगीत की आकाश-लता अनन्त-झकारो में खिल-खिलकर समस्त वायुमडल मे छा गई, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना । तानसेन की सुधासिंचित राग-रागिनियाँ—जिन्हे कहो शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रखे हुए धरा-मेरु डॉवाडोल हो जायँ, इस भय से विधाता ने उसे कान नही दिये—अभी तक हमारे वसन्तोत्सव मे कोकिलाओ के कठो से मधुस्रवण करती है । शिल्प तथा चित्रकलाओ की पावस-हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादो को लपेट लिया । चतुर चित्रकारो ने अपने चित्रो मे भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरो की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पडता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचंचल बरुनियो, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओ से चित्रित की । शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौध है । शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरो मे अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष मे अमर और अम्लान खडे है; ताजमहल मे मानो शिल्पकला ही गलाकर ढाल दी गई है ।

*व्रजभाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी', भी शामिल है ।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियो के अनिन्द्य पुष्पोद्यान अभी तक अपने अमन्द सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौरो को मुग्ध कर रहे है;—वहाँ कूल, केलि, कछार, कुजो मे, सर्वत्र असुप्त वसन्त शोभित है। बीचोबीच बहती हुई नीली यमुना मे, उसकी फेनोज्ज्वल चचल तरंगो-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही है। वहाँ बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहो ऋतुएँ कल्पना के बहुरगी पंखो मे उडकर, स्वर्ग की अप्सराओ की तरह, उस नन्दन-वन के चारो ओर अनवरत परिक्रमा कर रही है। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास "आनन-ओप-उजास" से नितप्रति पूनो ही रहती है। चपला की चंचल डोरियो में पेंग भरते हुए नये बादलो के हिंडोले पर झूलती हुई इन्द्र-धनुषी सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक मे हिडोले की रमक मिला रही है। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता मे अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मडल उसके श्री-चरणो पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलकारो की झनक ने देह-वीणा से फूटकर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलो मे काँटे नही, फूल ही विरह से सूखकर काँटो मे बदल गये है—वह कल्पना का अनिवर्चनीय इन्द्रजाल है, प्रेम के पलको मे सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय मे स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगो को अराजकता है। सच है, "पल-पल पर पलटन लगे जाके अग अनूप" ऐसी उस व्रज-बाला के स्वरूप का कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अचल-छोर, उसके उपासको के श्वासोच्छ्वासो के चार-वायु में उडता हुआ, नीलाकाश की तरह फैलकर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव-पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोके शीघ्र ही सौ-सौ हाथो से उसे खीच लेते है। वह व्रज के दूध, दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित यौवना अपनी बाह्य रूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत् के सौन्दर्य का उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नही मिलता, नि सन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है—यह उस युग का नन्दन-कानन है, जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा मे स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे, जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वल-कारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीपशिखा-सी, शुद्ध एव निष्कलुप सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनिपूर्ण कल्लोलो मे विलोड़ित बाह्य स्वरूप है, यह उसका गम्भीर निर्वाक् अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण-गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी; जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठो पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णांकित है; इतिहास के ही नही, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्ट-छाप,

उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स-चिह्न अमिट और अमर है । इन्ही युग-प्रवर्तकों के गम्भीर अन्तस्तल से ईश्वरीय अनुराग के अनन्त उद्गार उमडकर, देश के आकाश मे घनाकार छा गये । ब्राह्मणो के शुष्क दर्शन-तत्वो की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय वायु-मडल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया, राम-कृष्ण के प्रेम की अखंड रसधाराओ ने, सौ-सौ बौछारो मे बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया । एक ओर सूर-सागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी-मानस !

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूर-सागर ! वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि ! —उसमे अमूल्य रत्न है । उसकी प्रत्येक तरग श्याम की वशी की भुवन-मोहिनी तान पर नाचती-थिरकती, भक्तो के भूरि-हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार मे पडी सौ-सौ पुरानी नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गई है ! वह भगवद्भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल-प्रलय है, जिसमे समस्त ससार निमग्न हो जाता है । वह ईश्वरीय प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमें एक बार पैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है । कुएँ मे गिरे हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार 'सागर' मे डूब जाता है, उसे सूर के श्याम भी बाहर नही खीच सकते ! "सूर सूर" की वाणी, भारत के "हिरदै सो जब जाइहौ, मरद बदौगो तोहि !"

और रामचरित-मानस ? उस "जायो कुल मगन" का 'रत्नावली' से ज्योतित मानस ? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक,
उन सन समता पाय किमि, चन्द्र वापुरो रंक"

"तुलसी शशी" की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस ? वह हमारी सनातनधर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है, भारतीय सभ्यता का विशाल आदर्श है, जिसमें उसका सूर्योज्ज्वल मुख स्पष्ट दिखलाई पडता है । वह तुलसीदास जी के निर्मल मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है । उसकी सौ-सौ तारकचुम्बित सरल-तरल वीचियो के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादा-पुरुषोत्तम की पवित्र पद-रेणु से परिपूर्ण है ! 'मानस' इतिहास मे महाकाव्य, महाकाव्य मे इतिहास है, उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमे श्रीसीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन-सुप्ति मे जाग्रत है । ये दोनो काव्य-रत्न भारती के अक्षय-भंडार के दो सिह-द्वार है, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये है ।

जिन अन्य कवियो की पावनवाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरो के रूप मे फूटकर व्रजभाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमे हम उस साखियो के सम्राट्, उस फूलो की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण-पकज, उस स्वर्गीय सगीत के जुलाहे के साथ—जिसने अपने

सूक्ष्म ताने-बाने मे गगन का "सबद अनाहद" बुन दिया, एकान्त मे अपने गोपाल की मूर्ति से बाते करनेवाली उस मीरा को भी नही भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजस्थान के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है; उसने शब्दो मे नही गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप मे घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया!—ऐसा था अपार उस युग के मधु का भडार, जिसने व्रजभाषा के छत्ते को लबालब भर दिया; उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस व्रज के वन मे झाड-झंखाड, करील-बबूल भी बहुत है। उसके स्वर मे दादुरो का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पकिल गर्भ मे जीर्ण अस्थि-पजर, रोडे, सिवार और घोघो की भी कमी नही। उसके बीचोबीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमे विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियो के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोको से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पडे है। उस व्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ मे अमृत का पात्र और बाये मे विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असख्य छिद्र, अपार सकीर्णताएँ है!

अधिकाश भक्त-कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने मे समाप्त हो गया। बीच मे उन्ही की सकीर्णता की यमुना पड गई, कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी मे बह गये, बडे परिश्रम से कोई पार भी गया, तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सका, ससार की सारी परिधि यही समाप्त हो गई! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनन्त नीलाकाश को एक छोटे-से तालाब के प्रतिबिम्ब मे बाँधने के प्रयत्न में स्वय बँध गये। सहस्रो दादुर उसमे छिपकर टर्राने लगे, समस्त वायुमडल घायल हो गया, यमुना की नीली-नीली लहरे काली पड गई। भक्ति के स्वर मे भारत की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक-आसक्ति बाधा-विहीन बौछारो मे बरसा दी। ईश्वरानु-राग की बाँसुरी अन्धबिलो मे छिपे हुए वासना के विषधरो को छेड़-छेड़कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज मे सौ-सौ यत्नों मे लपेटी हुई देश की समस्त आबाल-वृद्धाएँ, नग्नप्राय हो कर, भारतीय गृहस्थ के बन्द द्वारो से बाहर निकल पडी; उनके कभी इधर उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव ससार के मारे विषपूर्ण काँटो से जर्जरित हो गये, गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गई।

शृगार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथो द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था-पर्यन्त—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी

अनुभूति ! ऐसी प्रखर प्रतिभा ! एक ही शरीर-यष्टि मे समस्त ब्रह्माड देख लिया ! अब इनकी अक्षय कीर्ति काया को जरा-मरण का भय ? क्या इनकी 'नायिका', जिसके वीक्षण-मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी ?

इसी विराट् रूप का दर्शनकर ये पुष्प-धनुषधर कवि रति के महाभारत मे विजयी हुए । समस्त देश की वासना के बीभत्स-समुद्र को मथकर इन्होने कामदेव को नव-जन्म दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है ? इन वीरो ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश मे छोडा कि सारा ससार कामिनीमय हो गया ! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह एक ही के अन्दर सहस्र नायिकाओ के स्वरूप दिखला दिये । सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे मे मढे हुए कच्चे काँच के टुकडो का एक ऐसा विचित्र अजायब-घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय-व्यूह-शीशमहल' बना दिया कि आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओ के असख्य रग-बिरगे बिम्बो मे बदल गई—जिनकी भूलभुलैया मे फँसकर, देश के लिए अपनी सरल, सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया !

और इनकी वियोग-वह्नि ने क्या किया ? इनकी और्व के नेत्रो की ज्वाला-सी आह ने ? देश की प्राण-सचारिणी, शक्ति-सजीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचड लू मे बदल दिया ! सकल सद्भावनाओ के सुकुमार पौधे जलकर छार हो गये, शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये, पवित्र प्रेम का चन्दन-पक सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया, और उसकी सती इन कवियो की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार मे समा गई, शक्ति की कमर खो गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड गया ।

ऐसी थी इनकी बीभत्स, विकारग्रस्त विलासपुरी ! और इनकी भावालकारिता ? जिसकी रगीन डोरियो मे वह कविता का हैंगिग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य—झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है ?

बहत्तर ग्रन्थो के रचयिता, 'नभ-मडल' के समान देव, 'देखन के छोटे लगे घाव करे गम्भीर' तीर छोडनेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हे 'तरुनाई आई सुखद बाँधा मथुरा सुसराल', रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होनेवाले, कठिन काव्य के प्रेत, पिगला-चार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन-केशवदास जी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियो मे से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब मे अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल नाल, दाडिम के बीज, शुक, पिक, खजन, शख, पद्म, सर्प, सिह, मृग, चन्द्र, चार आँखे होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमाचित होना, दूत भजना,

कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस इसके सिवा और कुछ नही ! सबकी बावडियों मे कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों मे फूट रहा है, सीढियो पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सग रपट पड़ती, कभी नीरभरो गगरी ढरका देती है ! बीथियो मे पराई पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीक-लीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है, कुजो से उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघनपत्रो के झरोखो से 'दीरघ-दृग' प्रीतम की बाट मे दौड लगा रहे हे ।

भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दो की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओ की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एव तुको की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य मे मिल सकती है ?—घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त सगीत तुक की एक ही नहर मे बहा दिया । और बेचारे औपकायन की बेटो उपमा को तो बाँध ही दिया ! —आँख की उपमा ? खजन, मृग, कज, मीन इत्यादि, होठो की ? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि, और इन धुरन्धर साहित्याचार्यो की ? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि । व्रजभाषा के उन्नत भाल पर इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल वक्ष मे इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अंगो मे इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिए बना ही रहेगा ! उसकी उदार छाती पर इन्होने पहाड़ रख दिया ! ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू-लुठित न कर देता, तो उस युग की उच्छृखलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता !

इस तीन फुट के नख-शिख के ससार से बाहर ये कवि-पुगव नही जा सके । हास्य, अद्‌भुत, भयानक आदि रसो के तो लेखनी को—नायिका के अंग को चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खँखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले-मात्र करा दिये हें और वीर तथा रौद्र-रस की कविता लिखने के समय तो व्रजभाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है । दो-एक भूषणादि रमावतारो को, जिन्हे मूँछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होने एक लाख रुपए के नोन की नीनता शायद अपनी कविता ही मे भर दी, और जिनका हृदय "सस्सस्सुन धुन, जज्जज्जकिजन, डड्डड्डरि हिय, धद्धद्धड़कत" इत्यादि अनुप्रासों के कम्प-ज्वर की उच्छृंखल बडबडाहट को सुनकर 'धद्धद्धडकने' लगा, अपनी वीर-गर्भा कविता के कवच मे इधर-उधर से कड़ी कड़ियाँ छान बीन कर लगानी पड़ी ।

यह है केवल दिग्दर्शन-मात्र, नयन-चित्र-मात्र। यह अस्वाभाविक नही कि उस तीन-चार शताब्दियो के ओर-छोर-व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिहावलोकन-मात्र करने मे मुझसे उसके स्वर्ण-सिहासनासीन भारती के पुत्र-रत्नो के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो, पर मेरा उद्देश्य, केवल व्रजभाषा के अलंकृत काल के अन्तर्देश मे अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत् चुम्बक की ओर इगितभर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकाश शक्ति तथा चेष्टाएँ काव्य की धाराओ के रूप मे प्रवाहित हुई हैं। यह लिखने की आवश्यकता नही कि उस युग की वाणी मे जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल तथा उसे हिन्दी-प्रेमियो के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमे उसका घर-घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके है, उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नही हो सकेगी।

× × × ×

व्रजभाषा की उपत्यका मे, उसकी स्निग्ध अंचल-छाया मे, सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हो, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारो से गूँथ लेता हो, सहस्र रगो की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्र-धनुष अर्ध प्रसुप्त पडा हो, जहाँ सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो—पर उसका वक्ष स्थल इतना विशाल नही कि उसमे पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध, जल-स्थल. अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाडी, द्वीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशो के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार—जिसके शब्दों मे वात-उत्पात्त, वह्नि-बाढ, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके; जिसके पृष्ठो पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके, जिसकी अल-मारियों मे दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सँजोया जा सके।

हमे भाषा नही, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, पुस्तको की नही, मनुष्यों की भाषा; जिसमे हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते-गले मिलते, साँस लेते और रहते है, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके; जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुटिल, कोमल-कठोर, घात-प्रतिघातो के ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों मे तरगित-कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो; हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, संकुचित-प्रसारित होती हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, सन्धि-सग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचे एक स्वर मे, प्रकट करे उसे दूसरे मे, हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो, हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो, हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक् हो, वाद्ययन्त्र के पृथक्, हमारी भाव-तन्त्री तथा शब्द-तन्त्री के स्वरो मे मेल न हो, मूर्धन्य 'ष' की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागो मे बाँट दी जाय ! हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रो से भरी पुरानी छीट की चोली को नही चाहते, इसकी सकीर्ण कारा मे बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है । हमे यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नही, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रँग जाती, फीकी और मलिन पड जाती है । यह बिलकुल आउट-आव्-डेट हो गई है ! यह नकाब पहना हुआ हास्यप्रद-चेहरो का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है । हमारे विचार अपने ही समय के चरखे मे कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रग मे रँगे वस्त्र चाहते है, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यो न हो, इसी मे हमारे वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल की कुशल-क्षेम है, कल्याण है । हमारे युग की रम्भा अपने नवीन नूपुर-नृत्य के जो मधुर-मुखरित अविरत पद-चिह्न हमारे देश के वक्ष स्थल पर छोड रही है, उन्हे अपने ही हृत्स्पन्दन मे प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे मे अकित करना नही चाहते । हमे देश-काल की उपेक्षा करनेवाले, अपने राष्ट्र के भाग्य-विधाता के विरुद्ध खडे होकर झाड-झखाडमय नवीन कुरूप-सृष्टि करने वाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रो से सहानुभूति नही, इनकी प्राचीन ब्रजभाषा की काशी, हमारे ससार से बाहर, इन्ही की अहम्मन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नही हो सकती, उसकी अन्धी-गलियो मे आधुनिक सभ्यता का विशद यान नही जा सकता, काल की त्रिवेणी मे—जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल संगम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है !

खड़ीबोली में चाहे ब्रजभाषा की श्रेष्ठतम इमारतो के होड़-जोड की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरो मे वैसी बेल-बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओ मे अजन्ताका सा अद्भुत अध्यवसाय, चमत्कार, विविध वर्णो की मैत्री तथा अपूर्व हस्त-कौशल, उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियों मे सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले, उसमे अभी 'मानस' के-से पवित्र घाटो का अभाव हो, पर उसके राजपथो मे जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने-जानेवाले यात्रियो के लिए जो रथ तथा यानो के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा, उसकी हाट-बाट-विपणियो मे जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास-वैचित्र्य का आयोजन है, देश-प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थो के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसके पार्को मे जो नवीनता, आधुनिकता,

विपुलत पुष्पो; की भिन्न-भिन्न ढाँचों मे खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार रग-बिरगी क्यारियाँ, सामयिक रुचि की कैंची से कटी-छँटी जो वि विध स्वरूपो की झाडियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ, नव-नव आकार-प्रकारो मे विकसित तथा सिंचित कुज, लता-भवन और बेलि-वितान अभी हैं, वे असन्तोषप्रद नही। उसमे नये हाथो का प्रयत्न, जीवित साँसो का स्पन्दन, आधुनिक इच्छाओ के अकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश है। उसमे नये कटाक्ष, नये रोमाच, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नवीन हृत्कम्प, नवीन वसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान है।

इन बीस-पच्चीस बरसो के छोटे-से बित्ते मे खडीबोली की कविता के मूल देश के हृदय मे कितने गहरे चले गये; उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारो ओर फैल कर हमारी खिड़कियो से धीरे-धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगी; किस तरह वायु के झोको के साथ उसके राशि-राशि पुष्पो की अर्धस्फुट सौरभ हमारे कमरो में समाने, साँसो के साथ हृदय मे प्रवेश करने लगी, उसकी सघन हरीतिमा के नीडों मे छिपे कितने पक्षी, बाल कोकिलाएँ, तरुण पपीहे तथा प्रौढ शुक, सहस्र स्वरो मे चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी ओर सकेत करने लगे, उनकी अस्फुट मर्मर मे हमे अपने विश्वव्यापी उत्थान-पतन, देश-व्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष-विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियो की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है, इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नही।

खड़ीबोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल-कला मे भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गगा है, जिसके अस्पष्ट ज्योति-पुज में, न जाने कितने जाज्वल्यमान सूर्य-शशि, असख्य ग्रह उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य-लोक अन्तर्हित हैं! वह समस्त भारत का हृत्कम्पन है, देश की शिरोप-शिराओ मे नवजीवन-सचारिणी संजीवनी है, वह हमारे भगीरथ-प्रयत्नो से अर्जित, भारत के भाग्य-विधाता की वरदान-स्वरूप, विश्व-कवि के हृत्कमडलु से नि:सृत अमृत-स्वरो की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कर्ण-कुहर मे प्रवेशकर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल धारा मे हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्ण-यान आर्य-जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये, धर्म और ज्ञान को निर्मल पालो को फहराता हुआ अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न-राशियो से सुसज्जित, बाधा-बन्धनो की तरगो को काटता, दिव्य-विहगम की तरह क्षिप्र वेग से उडता हुआ, संसार के विशाल सागर-सगम की ओर अग्रसर हो रहा है! उसके चारो ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्य-तीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हो, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों!

(ख)

भाषा ससार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओ की विशेषताएँ भिन्न भिन्न जातियों तथा देशो की सभ्यता की विशेषताएँ हैं। सस्कृत की देव-वीणा में जो आध्यात्मिक सगीत की परिपूर्णता है वह, ससार की अन्य शब्द-तन्त्रियो मे नही; और पाश्चात्य साहित्य के विशद यन्त्रालय मे जो विज्ञान के कल-पुर्जो की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती-भवन में नही।

प्रत्येक युग की विशेषता भी ससार की वाणी पर अपनी छाप छोड जाती है। एक नित्य-सत्य है, एक अनित्य, अनित्य-सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता के राज-पथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य-सत्य उसके शिलालेखो मे गहरा अकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोके नही मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखडनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का छोटा-सा खंड-मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरगमात्र है, जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती; जो अपने सद्यःस्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायु-मडल मे गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दो-तालो मे, नवीन रागो-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता और पुराना जीर्ण-पतझड इस नव-जात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन युग ससार की शब्द-तन्त्री मे नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकाक्षाओ, क्रियाओ, नवीन इच्छाओ, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा नई भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन, भारती की नाड़ियो मे नवीन रक्त का सचार, हृदय मे नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदाकर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर-अश हमारे हृद्गत सस्कारो, विचारों, हमारी प्रवृत्तियो, मनोवेगो, हमारी इन्द्रियो तथा दैनिक क्रिया-कम्पनो से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास-मात्र है, उससे हम अपने को पृथक् नही कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणो का स्पन्दन उसी की लय मे ध्वनित होने लगता, दोनो अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिन्दी के जिन वयोवृद्ध आचार्यों को व्रजभाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खडीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशंकित रहते हैं, उसका मुख्य कारण उनके यही हृद्गत संस्कार हैं, जिनसे उनको रुचि का रक्त बन चुका, जो उनके भाव-अनुभावों की स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियो मे प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रग मे रँग चुके, अपने स्वर मे गढ चुके है । मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षो की वृद्धा के शब्द बिल्कुल रक्त-मास-हीन लगते हैं, जैसे भारती की वीणा की झकारें बीमार पड गई हो, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हो, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो, भाषा के 'प्राण' चिरकाल से क्षय-रोग से पीडित तथा नि:शक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हो । 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर मे दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोनो को खोकर, गल-घिसकर 'पाहन' बन गये हो । खडीबोली का 'स्थान' मुझे साफ, सुथरा, निवास के उपयुक्त जान पडता है, और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्री-हीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरो के रहनेयोग्य, वैसे ही व्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु' —ऐसी लगती है, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हो, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो, पर यह सब खडीबोली के शब्दो को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर मे सोचने आदि का अभ्यास पड जाने से ।

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है । राग ही के पंखो की अबाध-उन्मुक्त उडान मे लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है । राग ध्वनि-लोकनिवासी शब्दों के हृदय मे परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है । ससार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियो के चित्र-मात्र हैं । समस्त ब्रह्माड के रोम्रो मे व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओ मे प्रधावित हो, अनेकता मे एकता का संचार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित तारो से जीवन की अगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारो से अनन्त झकारो, असख्य स्वरों मे फूटकर हमारे चारो ओर आनन्दाकाश के स्वरूप मे व्याप्त हो जाता, यही ससार के मानस-समुद्र मे अनेकानेक इच्छाओ-आकाक्षाओं, भावनाओ-कल्पनाओं की तरगों मे प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपो मे अभिव्यक्ति पाता है । प्रेम के अक्षय मधु मे सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण ससार के मानस-शतदल के चारो ओर यह चिर-अमुप्त स्वर्ण-भृग एक अनन्त गुजार मे मँडराता रहता है ।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दो की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय मे प्रवेशकर एकभाव हो जाता है । प्रत्येक शब्द एक सकेत-मात्र, इस विश्वव्यापी सगीत की अस्फुट झंकार-मात्र है । जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबन्ध है, उसी

प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ-कब एक की साडी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमाचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुडते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है, लक्ष और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनानेवाले शब्दो की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश मे पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता मे सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर मे लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दो का भरण-पोषण, अगविन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरो मे उच्छ्वसित हो, न जाने किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला, क्षणभर चचल लहरो के ताल पर मधुर नृत्यकर अन्तर्धान हो गई! जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखो का उपमान भी न बना होगा; न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पडा—'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप मे प्रतिध्वनित तथा सगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चचलता मे जैसे डूब जाता है। शकुन्तलानाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध मे प्रवेश करना चाहता है!

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्राय· संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपो को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय मे अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' मे उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरग' मे लहरो के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'बढ़ो-बढो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणो में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियो का, 'ऊर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरो का, हिल्लोल-कल्लोल से

ऊँची-ऊँची बाँहे उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरगो का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फडक ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पखों मे शोशे का टुकडा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँग्रेजी का 'wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' मे जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' मे नही मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अगो का अचानक स्पर्श पाकर हृदय मे जो रोमाच हो उठता है, उसका चित्र है, व्रजभाषा के 'परस' मे छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँगरेजी के 'air' मे एक प्रकार की transparancy मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रहा हो, 'वायु' मे निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तो को उड़ाता हुआ बहता है। 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नही सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो। 'प' और 'न' की दीवारो से घिर-सा जाता हे 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र मे झकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश मे समा जाय; जिनका रस मदिरा की फेनराशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक, उसके चारों ओर, मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावलो अपनी मौन जडता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे; जापान की द्वीपमालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्थल मे सुलगे ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोछ्वासो के भूकम्प मे काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हो, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुडाये न जा सकते हो; कवि का हृदय जैसे नीड़ मे सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जगकर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की

सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्य-पूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो, अन्तर का उल्लास, जैसे अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारो की तरह, अपने आप झकारो में नृत्य करने लगा हो, भावनाओ की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिगन-पाश मे बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहे बढ़ाने लगी हो—यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस सन्धि है। हृदय के कुंज मे छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद प्रियतम से मिली हो और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हो।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नही रहता, वहाँ स्वरो के पावस मे केवल शब्दो के 'बटु-समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते है। ब्रजभाषा के अलकृतकाल की अधिकाश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासो की ऐसी अराजकता तथा अलकारो का ऐसा व्यभिचार और कही देखने को नही मिलता। स्वस्थ वाणी मे जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कही पता ही नही! उस "सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारो के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों मे कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रग कही दीख ही नही पड़ता, उस बालिका के अस्थि-हीन अग खीच-खाँच, तोड़-मरोड़कर, प्रोक्रस्टीज की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई मे बाँध दिये, फिट कर दिये गये है! प्रत्येक पद्य, Messrs Whiteaway Laidlaw and Co. के Catalogue मे दी हुई नर-नारियो की तस्वीरो की तरह—जिनकी सत्ता संसार मे और कही नही—एक नये फैशन के गौन या पेटीकोट, नई हैट या अडर वियर, नये विन्यास के अलंकार-आभूषण अथवा वस्त्रो के नये-नये नमूनो का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं, भाषा को पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है। वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियो के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र है। जैसे वाणी की झकारे विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हो, विशेष भावो के झोके खाकर बाल लहरियो, तरुण तरगो मे फूट गई हो; कल्पना के विशेष बहाव मे पड आवर्तो मे नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे मे फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दो की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभि-व्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरो के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह

से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलकारों, लक्षणा-व्यजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उडूँ—वे अभीप्सित स्थान मे पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वय अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते है, वहाँ बाजे के सब स्वरो के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय मे लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य मे अराजकता पैदा हो जाती है, कविता-सम्राज्ञी हृदय के सिहासन से उतार दी जाती और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दो की छोटी-मोटी सेनाएँ सगृहीत कर, स्वय शासक बनने की चेष्टा मे विद्रोह खडा कर देते और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता मे शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रहती, वे दोनो भावो की अभिव्यक्ति मे डूब जाते है, तब भिन्न-भिन्न आकारो मे कटी-छँटी शब्दो की शिलाओ का अस्तित्व ही नही मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती है, उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप मे बदल जाता, किसी के कुशल करो का मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता मे जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हे पाषाण-खंडो का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते है। जिस प्रकार सगीत मे भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय मे ऐसे मिल जाते है कि हम उन्हे पृथक् नही कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता, हम केवल राग के सिन्धु मे डूब जाते है, उसी प्रकार कविता मे भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप मे बहने लगते, उनकी लँगड़ाहट मे गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते है, कणो का हमे अस्तित्व ही नही मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य मे, उसके रग-बिरगे पुष्पो, लाल-हरे-पीले, छोटे-बडे तृण-गुल्म-लताओ, ऊँची-नीची सघन-विरल वृक्षावलियो, झाड़ियो, छाया-ज्योति की रेखाओ तथा पशु-पक्षियो की प्रचुर ध्वनियो का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त-सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक दूसरे के बल से सशक्त रहते; अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़, तितली की तरह, भाव तथा राग के रंगीन पखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते है।

व्रजभाषा के अलक्कृत काल में सगीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियो के छन्दो का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसे नियन्त्रित हो जाती, तालयुक्त हो जाती; उसके स्वर मे प्राणायाम, रोओ मे स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारे एक वृत्त में बँध जाती, उनमे परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारो ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमे राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन—सृजन, स्थिति, संहार—सब एक अनन्त छन्द, एक अखंड संगीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत-ताप, जल-वायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण-संगीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सस्कृत का संगीत समास-सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता; एक कोना पकडकर हिला देने से सारा चरण जंजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत मे वर्ण-वृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ; उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नही रहती, उसके लिए स्थान ही नही मिलता। वर्णिक छन्दों मे जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के संकेतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में

झूमती हुई जाती, तुक का अकुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के संगीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्ण-वृत्तो की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्ण-वृत्तों के कारण सस्कृत मे अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दो की। उसमे पर्यायो की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बडे चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओ, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दो का प्रादुर्भाव नही हो सका। वर्ण-वृत्तो के निर्माण मे विशेषणो तथा पर्यायो से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणो की मीडो से ही पूरा कर लिया गया, यही कारण है कि ripple, billow, wave, tide आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद-द्योतक शब्दो को गढने की ओर संस्कृत के कवियो का उतना ध्यान नही रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों को बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा मे प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नही। वह लोल लहरो का चचल कलरव, बाल झकारो का छेकानुप्रास है। उसमे प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंग-भगी, स्वाभाविक साँसे है। हिन्दी का सगीत स्वरो की रिमझिम मे बरसता, छनता, छनकता, बुद्‌बुदो मे उबलता, छोटे-छोटे उत्सो के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पडकर पगो से पग मिलाकर सेनाकार नही चलते, बच्चो की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता मे थिरकते-कूदते है। यही कारण है कि सस्कृत मे सयुक्ताक्षर के पूर्व-अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है, हिन्दी मे ऐसा नियम नही, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छन्दो ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्ही के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तो की नहरो मे उसकी धारा अपना चचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्-कल् छल्-छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ हो जाती, उसका चचल भृकुटिभग दिखावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पडता है कि उसके चचल पदो से स्वाभाविक नृत्य छीनकर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हे सिपाहियों की तरह गिन-गिनकर पाँव उठाना सिखलाकर, उनकी चचलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का सगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कडो की तरह बडे भारी हो जाते है, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदो मे वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नही रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी-कविता के लिए सम्यक् वाहन नही हो सकते; बँगला भाषा का सगीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठो के तटों से टकराती, ऋजु-कुंचित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती,

स्वरपात के रोडो का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द-राशि को झकोरती, धकेलती, चढती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्वदीर्घ के पलडो मे सूक्ष्म रूप से नही तुले मिलते; उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँग्रेजी की तरह बँगला में भी स्वरपात (accent) अधिक परिस्फुट रूप मे मिलता है। यदि अँग्रेजी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दो मे कम्पोज कर कस दिये जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठे। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे, diamond cut के होते है, वैसे बँगला और अँग्रेजी के नही, वे जैसे लिखे जाते; वैसे नही पढे जाते। बँगला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड, स्पज (sponge) के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते; और अँग्रेजी के शब्दो का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते है।

बँगला में, अधिकतर, अक्षर-मात्रिक छन्दो मे कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियो के अतिरिक्त—जिन्होने सस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढग अपनाया—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक संगीत विनष्ट भी हो जाता। रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ मे बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है, उसके अनुसार 'ऐ', 'औ' तथा सयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ मे—एक ही मात्राकाल माना जाता; और वास्तव मे, बँगला मे इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नही। पर हिन्दी मे तो सोने की तोल है, उसमे आप रत्तीभर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढा नही सकते, उसकी आवश्यकता ही नही पडती; इसलिए बँगला छन्दो की प्रणालियो मे डालने से उसके सगीत की रक्षा नही हो सकती।

व्रजभाषा के अलकृत काल मे "सवैया" और "कवित्त" का ही बोलबाला रहा, दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्‌गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया कि एक-दो को छोड, अन्य कवियो को उन पवित्र स्वरों को अपनी शृगार की तन्त्री मे चढ़ाने का साहस ही नही हुआ; उनकी लेखनी-द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नही सकते। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों में रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दो में सफलतापूर्वक रचना कर भी नही सकते। छन्दो को अपनी अँगुलियो पर नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के संकेतो पर नाचना पडता है; सरकस के नवोन अदम्य अश्वो की तरह उन्हें साधना, उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कही वे स्वेच्छानुसार, इंगित-मात्र पर वर्तुलाकार, अडाकार, आयताकार नचाये जा सकते है। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यंत्रों मे उनकी पृथक्-पृथक्

रीति से साधना करनी पडती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदो तथा तन्तुओ से भावनाओ का राग जाग्रत करने के पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियो से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मीडे स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झकारित की जा सकती है। प्राय: देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते है जिनमे उसकी छाप-सी लग जाती; जिनके ताने-बाने मे वह अपने उद्‌गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खडीबोली के कवियो मे गुप्त जी को हरिगोतिका, हरिऔध जी को चौपदो, सनेही जी को षट्पदियो मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिगलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढियो तथा सुरगों से ले गये है, उनमे अधिकाश उनसे अपरिचित-सी जान पडती है; जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पडता है, उन्होने बलपूर्वक शब्दो की भीड को ठेल, छन्दो के कन्धे पिचकाकर, अपनी कविता की पालकी को आगे बढाया है। नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढने का अधिक शौक होता है, उनके छन्दों के पहियें, बैलेन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते है।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नही जान पडते। सवैया मे एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमे एक प्रकार की जडता, एक-स्वरता (monotony) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरो के बाद आने-वाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी मे, छन्द की डोरी पर दानों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठे तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती है, और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठो के बीच छिप जाती है। चूने के पक्के किनारो के बीच बहती हुई धारा की तरह रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटो मे स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है, अपने पुष्पगुल्म-लताओ के कोमल पुलिनो से चुम्बन-आलिगन बदलने, प्रवाह के बीच पडे हुए रग-विरगे रोड़ो से फेनिल हास-परिहास करने, क्षिप्र-आवर्तों के रूप मे भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नही मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (romance), स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त-छन्द, मुझे ऐसा जान पडता है, हिन्दी का औरसजात नही, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी मे कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर-मात्रिक छन्द बँगला मे मिलते है, हिन्दी के उच्चारण-सगीत की वे रक्षा नही कर सकते। कवित्त को हम सलापोचित (colloquial) छन्द कह सकते है। सम्भव है, पुराने समय मे भाट लोग इस छन्द

मे राजा-महाराजाओ की प्रशंसा करते हो, और इसमे रचना-सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियो ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो ।

हिन्दी का स्वाभाविक सगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओ को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है । मात्रिक छन्द मे बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने मे जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप मे भी साधारणतः मिलता है; दोनों मे अन्तर नही रहता । यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है । पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है । उसमे यति के नियमो के पालनपूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दे, चाहे लघु, एक ही बात है; छन्द की रचना मे अन्तर नही आता । इसका कारण यह है कि कवित्त मे प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते है; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है । सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खडाती हुई, अडती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है । कवित्त-छन्द के किसी चरण के अधिकाश शब्दो को किसी प्रकार मात्रिक छन्द मे बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन केलिन मे कछारन मे कुंजन मे क्यारिन मे कलित कलीन किलकन्त है"— इस लडी को यो सोलह मात्रा के छन्द मे रख दीजिए—

"सु-कूलन मे केलिन मे (और)
कछारन कुजन में (सब ठौर)
कलित-क्यारिन मे (कल) किलकन्त
बनन मे बगरचो (विपुल) बसन्त ।"

अब दोनो को पढिए, और देखिए कि उन्ही 'कूलन केलिन' आदि शब्दो का उच्चारण-सगीत इन दो छन्दो मे किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है, कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द मे स्वकीय, हिन्दी का अपना उच्चारण मिलता है ।

इस अनियन्त्रित छन्द मे नायक-नायिकाओ तथा अलकारो का विज्ञापन-मात्र देने मे केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नही हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया । वाणी के स्वाभाविक स्वर और सगीत का विकास तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासो तथा अलकारो की अधिकता से करनी पडी । कवित्त-छन्द मे जब तक अलंकारो की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुल-वधू की तरह दो-एक नये आभूषण-उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नही हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्राभूषण ऐंठ लेने पर हो कही अपने साथ रसालाप करने देता है ।

इसका कारण यह है कि काव्य-सगीत के मूल तन्तु स्वर है, न कि व्यंजन, जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर-संचालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए, झंकारित किये जाते, उसी प्रकार कविता मे भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है, ध्वनि-चित्रण को छोडकर (जिसमे राग व्यंजन-प्रधान रहता, यथा—"घन घमंड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यंजन-सगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने मे प्राय: गौण रूप से सहायता-मात्र करता है। जिस छन्द मे स्वर-सगीत की रक्षा की जा सकती, उसके सकोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है। उसमे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामजस्य पूर्ण रूप से मिलता है। जहाँ राग केवल व्यजनो को डोरियो मे झूलता, वहाँ अलकारो की झनक के साथ केवल 'हिडोरे' की ही रमक सुनाई पडती है। कवित्त का राग व्यजन-प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओ के विकास के लिए अवकाश नही मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनुष-सा आशा का छोर
अनिल मे अटका कभी अछोर"

इस मात्रिक छन्द मे 'सा आशा का' इन चार वर्णो मे 'आ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुष की तरह अनिल मे अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण मे 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम मे सहायता देती है, उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतो का-सा
प्रकटा विकट महा-आकार"

इन चरणो में स्वर के प्रसार-द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यंजनो की आवृत्ति उसे भीषण बनाने मे सहायता मात्र देती है, पुन.—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल-चोर"

इसमे लघु अक्षरो की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणो मे किसी एक को कवित्त-छन्द मे बाँधकर पढे, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल मे अटका कभी अछोर"
इसे, "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल मे, (अनिल के अंचल आकाश मे)"

इस प्रकार रखकर पढ़े, तो प्रत्येक अक्षर की कडी अलग-अलग हो जाने, तथा स्वरो का प्रस्तार रुक जाने के कारण राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्र-धनुष नहीं

बनने पाता । उसी प्रकार—"अरी सलिल की लोल हिलोर", इस पद मे 'इ' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर को गिराती और उठाती', तथा "पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश" इस चरण मे लघु मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरो का सकोच, गिलहरी की तरह दौडकर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त-छन्द की pressing machine मे कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पंख उस प्रकार स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वराकाश मे नहीं उड सकते; क्योकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल नहीं है ।

कविता विश्व का अन्तरतम सगीत है, उसके आनन्द का रोमहास है, उसमे हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म-प्रकाश है । जिस प्रकार कविता मे भावों का अन्तग्स्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है, उसी प्रकार छन्द-बद्ध भाषा मे भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है । राग ध्वनि-लोक की कल्पना है । जो कार्य भाव-जगत् मे कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् मे राग, दोनो अभिन्न है । यदि किसी भाषा के छन्दों मे, भारती के प्राणों मे शक्ति तथा स्फूर्ति का सचार करनेवाले उसके संगीत को, अपनी उन्मुक्त झकारो के पंखों मे उड़ने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिंजर-बद्ध कीर की तरह, छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों से कुंठित हो, उड़ने की चेष्टा में छटपटाकर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा मे छन्द-बद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या ? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-संगीत के अनुकूल होने चाहिए । जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतो की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति मे अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है । हमारे साधारण वार्तालाप मे भाषा-संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नही प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य मे छन्द का प्रादुर्भाव हुआ है । कविता में भावों के प्रगाढ सगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनो मे सन्तुलन रह सकता है । पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करे तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे । पद्य मे वाणी का रोआँ-रोआँ सगीत मे सनकर, रस में डूबे हुए किसमिस की तरह, फूल उठता है, सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झकारों में काँपते रहते है, पावस की अँधियारी में जुगनुओ की तरह, अपनी ही गति मे, प्रभा प्रसारित करते रहते हैं ।

अब कुछ तुक की बाते होनो चाहिए । तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पडता है । राग की समस्त छोटी-बडी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाडी-चक्र मे केन्द्रित रहती, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर मे स्फूर्ति-संचार करती रहती है । जो स्थान ताल मे 'सम' का है,

वही स्थान छन्द में तुक का; वहाँ पर राग शब्दों के सरल-तरल ऋजु-कुचित 'परनों' म घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता मे हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में राग वादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द मे अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गूँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरो की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि मे प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है, इसी शब्द-सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयगम कराने मे भी सहायता देता है।

हमे अपनी दिनचर्या में भी, प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे सयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्यकारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती है। जब हम उस सीमा का, असावधानी के कारण, उल्लघन कर बैठते है, तब हमारे कार्य हमे तृप्ति नही देते, हमारे हृदय मे एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते और स्वयं अपनी ही आँखो मे बेतुके-से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं—जब हम अधिक कार्य-व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमे अपनी स्वाभाविक दिनचर्या मे बरते जानेवाले शिष्टाचार-व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतन्त्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए, अवकाश ही नही मिलता; हमारे कार्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त दौड़-सा, कुछ समय के लिए बन जाता है। यही Blank verse अथवा अतुकान्त कविता है। इसमे कर्म (action) का प्राधान्य रहता है। दिन की उज्ज्वल ज्योति मे काम-काज का अधिक प्रकाश रहता है, उसमे हमें तुक नहीं मिलता; प्रभात और सन्ध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमें इस तुक के दर्शन मिलते हैं। प्रत्येक पदार्थ मे एक सोने की भावपूर्ण, शान्त, संगीतमय छाप-सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पडता है। उसकी साँसों मे प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान

स्वर से निर्जीव शब्द भी फडक उठते है। ऐसा जान पडता है, उसके राजपथ मे मेला लगा है; प्रत्येक शब्द 'प्रवाल-शोभा इव पादपाना' तरह-तरह के सकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढता है।

भिन्न-भिन्न छन्दो की भिन्न-भिन्न गति होती है और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने मे भी सहायता देते है। रघुवंश मे 'अज-विलाप' का वैतालीय छन्द करुण-रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है! उसके स्वर मे कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कठ गद्‌गद हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग-राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कही होता, तो उसकी आँखो मे अवश्य आँसुओं का समुद्र उमडता हुआ मिलता। मालिनी-छन्द मे भी करुण-आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दों मे पीयूष-वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छन्द करुणा-रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते है। पीयूष-वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है! मरुभूमि में बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चंचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य वेश मे, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रान्त-जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त, धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुणा-रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनो छन्द चौबीस मात्रा के है, पर इन दोनो की गति मे कितना अन्तर है! रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटो को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढता है, वहाँ रूपमाला दिनभर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका-छन्द मे ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीडा-प्रियता अपने ही तारो मे 'गत' बजा रही हो, जैसे परियो की टोली परस्पर हाथ पकड, चचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरो को तरह अग-भंगियो में उठती-झुकती कोमल कठ-स्वरो से गा रही हो। इस छन्द मे जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेगी, इसके चरणो मे उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी-छन्द की गति मे कितना अन्तर है! सखी-छन्द के प्रत्येक चरण मे अन्त्यानुप्रास अच्छा नही लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त मे मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय मे एक प्रकार का स्वर-भंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने मे सहायता देता

है। पन्द्रह मात्रा का चौपई-छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल-साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नही लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसे, बच्चो का कंठ-रव मिलता है, बच्चों की ही तरह यह चलने मे इधर-उधर देखता हुआ अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पखों मे खूब उडता है।

हिन्दी मे मुक्त-काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ रहा है, कोई इसे रबर-काव्य कहते है, कोई कगारू। सन् १६२१ मे जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह-कृश लेखनी से यक्ष के 'कनक-वलय' की तरह निकल पडा था, तब 'निगम' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' मे उस 'बीसवी सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था "इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस वामन ने, जोकि लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढनेवाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगे फैला दी कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलाई पडती है।

यह 'स्वच्छन्द छन्द' ध्वनि अथवा लय (rhythm) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद मे उतरता, चढाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामजस्य पूर्ण-रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दो मे प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खीच-खाँचकर उसके ढाँचे में फिट कर देना पड़ता है; कभी पाद-पूर्त्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पडते है। उग्र साम्यवादियो की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त-काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढता है। उसमे छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरो (Quarters) मे रहनेवाले बाबुओ की तरह, भावना को, परतन्त्रता के हाथो बने हुए घरो के अनुसार अपने खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-रहने की सुविधा को, कुछ इने-गिने कमरो ही में येनकेन प्रकारेण ठूँस-ठाँसकर जीवन-निर्वाह नही करना पडता; वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा की सुविधानुसार अपना निकेतन बनाती है, जिसमे उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता मे अगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। इसमे चरण इसलिए घटाये-बढाये जाते है कि काव्य सम्बद्ध, संयमित रहे; उसकी शरीर-यष्टि न गणेशजी की तरह स्थूल तथा मासल हो, न व्रजभाषा की विरहिणी के

सदृश अस्पष्ट अस्थि-पंजर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नही जाते और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढते, चीन की सुन्दरियो अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तंग जूते, कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छन्दों की तरह मुक्त-काव्य भी हिन्दी मे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनो में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कठ-स्वर मिलाकर गाता और स्वतन्त्रतापूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कठ का तम्बूरे के स्वरों के साथ सामजस्य बना ही रहता, तथा ऐक्यभंग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भी भाषा के तारो पर झूलता है और जहाँ दोनों मे मैत्री नहीं रहती, वहाँ छन्द अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छन्दों को लीजिए।

उनके कुछ छन्द बँगला की तरह अक्षर-मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित है कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता। जहाँ पर उनको कविता ह्रस्व-दीर्घ संगोत पर चलती, उनकी उज्ज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र मे गुँथी हुई, हीरों के हार को तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर वह बँगला के अनुसार चलती, वहाँ उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बँगला की कुछ लाइनें लीजिए—

हे सम्राट् कवि,
एइ तब हृदयेर छबि,
एइ तब नब मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्खेर पाने
जेथा तब बिरहिणी प्रिया
रयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,
क्लान्त-सन्ध्या दिगन्तरे करुण निश्वासे,
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य-विलासे,
भाषार अतीत तीरे
काङ्गाल नयन जेथा द्वार ह'ते आशे फिरे फिरे,

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हे पहले बँगला-उच्चारण के साथ पढिए, फिर हिन्दी-उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए। बँगला-उच्चारण का प्रवाह ज्योंही इनके ऊपर से हटा दिया जाता है, सारी शब्द-राशि जल-धारा के सूख जाने पर नदी के तल मे पडे हुए निष्प्रभ रोड़ों की तरह अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता-चंचलता, अपनी चमक-दमक तथा गति गँवाकर अपनी ही लँगडाहट मे डगमगाती हुई गिर पड़ती है। इसका कारण यह है कि बँगला के उच्चारण की मासलता हिन्दी मे नही, इसका ह्रस्व-दीर्घ राग बँगला-छन्दों मे स्वाभाविक विकास नही पाता। बँगला-उच्चारण के श्वासवायु से उपर्युक्त पद्य के चरण रबर के रगीन गुब्बारो की तरह फूल उठते, जिसके निकलते ही छन्द के पद ढीले पड़ जाते, शब्द पिचक जाते और उनका परस्पर का सम्बन्ध टूट जाने के कारण राग की विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है। श्री 'निराला' जी के अन्य दो-एक छन्द देखिए—

(१) देख यह कपोत कठ—
बाहु-बल्ली कर सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द,
छट जाता धैर्य ऋषि मुनियो का,
देवों—भोगियो को तो बात ही निराली है।

—अनामिका।

(२) कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष—
सम्भव है क्या—
करुण स्वर का जब तक मुझमे रहता है आवेश ?
मैंने 'मै' शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख को छाया पड़ी हृदय मे मेरे
झट उमड वेदना आई ......। —अनामिका।

पहले छन्द के चरण अक्षर-मात्रिक राग की गति पर, दूसरे के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक राग की गति पर चलते है। पहले छन्द में, 'यह, कंठ, बल्ली, सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दों पर एक प्रकार का स्वरपात देकर, रुककर आगे बढना पड़ता, 'नितम्ब भार चरण सुकुमार' इस चरण को एक साथ पढ़ना पडता है; राग की गति भंग

हो जाती है। दूसरे छन्द मे राग की एक धारा व्याप्त मिलती है, उसका स्वर-भंग नही होता, शब्दों की कडियाँ अलग-अलग, असम्बद्ध नही दिखलाई पड़ती; उनकी दरारे लय से भरकर एकाकार हो जाती, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण-सगीत के अनुकूल नही, दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त-काव्य में ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो—जैसे पीयूषवर्षण तथा रोला के चरण—साथ-साथ अच्छे नही लगते, राग का प्रभाव कुठित हो जाता है, गति बदलने के पूर्व लय को विराम दे देना चाहिए। 'पल्लव' मे मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द मे है, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी है।

'परिवर्तन' मे जहाँ भावना का क्रिया-कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती, वहाँ रोला आया है; अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द, बीच-बीच मे छन्द की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढा दिये गये है, यथा :—

"विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल।"

ऊपर के चरण मे चार मात्राएँ घटाकर उसकी गति मन्द कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। यदि ऊपर के चरण मे चार मात्राएँ जोड़कर उसे "विभव की चचल विद्युत्ज्वाल"—इस प्रकार पढा जाय, तो नीचे के चरण मे विभव की क्षणिक छटा के चमककर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक स्फुरण मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावानुसार छन्दों मे काट-छाँट कर दी गयी है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है, यथा :—

"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी"—इस चरण में वाणी को विश्राम मिल जाता, तब नया छन्द—

"सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार—

"सुमनदल चुन-चुनकर निशि-भोर
खोजना है अजान वह छोर"—

इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले मे विश्राम देकर तब—

"उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया"—

यह चौदह मात्रा का छन्द रखा है; इसकी गति पूर्ववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न-भिन्न छन्द आये हैं, वहाँ विराम देने की आवश्यकता नही समझी गयी। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है; उसमे निर्झरो का गिरना, दृश्यो का बदलना, पर्वत का सहसा बादलो के बीच ओझल हो जाना आदि अद्भुत-रस का मिश्रण है, इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही—

"पावस-ऋतु थी पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश"

यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इस छन्द का सारा वेग—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर"—यह विस्तृत चरण रोक देता, और

"सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी"—

इस सुख-दुःखमिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

'आँसू' मे कही-कही एक ही छन्द के चरणों मे अधिक काट-छाँट हुई है, यथा.—

"देखता हूँ जब, उपवन
पियालो मे फूलो के
प्रिये! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को!
नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर;—
अकेली आकुलता-सी, प्राण!
कही तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते है पग अज्ञात।"

इन चरणो मे शोकाकुलता के कारण स्वर-भंग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नही आये है। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश गात" इस चरण की गति को कुठित कर देने से अनुवर्ती चरण मे पगों के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी:—

"पिघल पडते हैं प्राण
उबल चलती है दृग-जल-धार"

इन लाइनो में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणों के पिघल पडने तथा द्वितीय चरण मे आँसुओ के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है। मुझे अपने इस बाल-प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जाने।

खड़ीबोली की कविता में क्रियाओ और विशेषत संयुक्त क्रियाओ का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नही तो कविता का स्वर Expression शिथिल पड जाता है, और खडीबोली की कविता मे यह दोष सबसे अधिक मात्रा मे विराजमान है। "है" को तो, जहाँ तक हो सके, निकाल देना चाहिए, इसका प्रयोग प्राय: व्यर्थ ही होता है। इस दो सीगोंवाले हरिण को 'आश्रममृग' समझ, इस पर दया दिखलाना ठीक नही, यह 'कनक-मृग' है, इसे कविता की पचवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। 'समासो' का भी अधिक प्रयोग अच्छा नही लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढकर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दो की टहनियो को काट-छाँटकर उन्हे सुन्दर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मासल हरीतिमा मे छिपे हुए भावो के पुष्पो को व्यक्तभर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी में अभी समस्यापूर्ति का स्वाँग जारी ही है। जो लोग "कवय· किं न जल्पन्ति, कागा: किं न भक्षन्ति" के समर्थक और कवियो को कौओं के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरो की अँधेरी उडान समझनेवाले हैं, उनकी बात दूसरी है, पर जो कवि को राष्ट्र का निर्माता मानते, जिन्हे कविता मे देवताओ का भोजन, ससार का अन्तरतम हृत्स्पन्दन मिलता है, उन्हे तो उसे इस अस्वाभाविक बन्धन से छुड़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। व्रजभाषा की कविता मे अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण यह समस्या-पूर्त्ति भी है। क्या कवि की विश्व-व्यापो प्रतिभा को तागे की तरह सूई की आँख मे डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाड़ियो की तरह दूर से दौड लगाकर शब्दो के एक कृत्रिम परिमित वृत्त (ring) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है? क्या बहुपतियो को वरने की असभ्य प्रथा, कलंक की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी हो रहेगी? इस लक्ष्य-वेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का, अब भी अन्त नही होगा?

हिन्दी मे सत्समालोचना का बडा अभाव है। रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये। वे स्थायी, सचारी, व्यभिचारी आदि भावो से जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व-भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत

स्वरों मे न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी मे सत्साहित्य की सृष्टि भी नही हो सकती। बडे हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर-वचित उच्चतम कक्षाओ मे भी प्रवेश पा गयी, वहाँ उसे अपनी बहन अँग्रेजी के साथ वार्तालाप तथा हेल-मेल बढाने का अवसर तो मिलेगा ही, उनमे घनिष्ठता भी स्थापित हो जायगी। आशा है, विश्व-विद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक बेचारे देव और बिहारी मे कौन बडा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यो का निबटारा करने तथा 'सहित' शब्द मे ष्यञ् प्रत्यय जोडकर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी मे अँग्रेजी ढग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ मे प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्य रसात्मकं वाक्यम्', 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक· शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये है।

यही पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खडीबोली से अपरिचित है, उसमे हमने अपने प्राणो का सगीत अभी नही भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नही हुए, वे केवल नाममात्र हैं; उनमे हमे रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नही हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगों के चिरालिंगन-पाश मे नही बँधे, इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमे रोमाचित नही करता, वे हमे रस-हीन, गन्ध-हीन लगते हैं। जिस प्रकार बडी चुवाने से पहले उडद की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पडता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप मे, भावो के ढाँचो मे ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राजल कर लेना पड़ता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह मे बहकर खड़ी-बोली के खुरदुरे रोड़े हमे धीरे-धीरे चिकने तथा चमकीले लगने लगेंगे। हमे आशा है, भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नों को किसी दिन संसार के सामने रख देगा और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुहकर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बनाकर, एक बार फिर दुर्भिक्ष-पीडित ससार को परितृप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

(मार्च १९२६) ('पल्लव' से)

विज्ञप्ति

'वीणा' नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी-ससार के उद्भट समालोचकों की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने में मुझे जो सकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है, उसका कारण यह कि मेरे इन असमर्थ प्रयत्नों तथा असफल चेष्टाओं द्वारा किये गये अत्याचार-उत्पात को स्नेह-पूर्वक सहनकर वे मुझे ही अपनी कृतज्ञता के पाश में न बाँध लेगे, स्वयं भी मेरे अत्यन्त निकट खिच आयेगे। सन्त-हंसों की तो वैसे भी चिन्ता नही रहती, हाँ वारि-विकार के प्रेमियो के कठोर आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर उनकी रण-कुशल कठफोरे की सी ठोंठ को बाँध दूँ, किन्तु 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली किंवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी कवि ने निर्भयता का कवच पहनकर, मुझे उनकी लम्बी-सी चोच के लिए 'शोरवा' तैयार करने मे हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस सग्रह मे दो-एक को छोडकर अधिकांश सब रचनाएँ सन् १६१८-१६ की लिखी हुई है। उस कवि-जीवन के नव-प्रभात मे नवोढ़ा कविता की मधुर नूपर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणा-वादिनी के चरणों के पास बैठकर, स्वर-साधना करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्तन्त्री से, बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमर्थ अँगुलियों के उल्टे-सीधे आघातो द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट-अस्पष्ट झकारे जागृत कर सका, वे इस 'वीणा' के रूप मे आपके सम्मुख उपस्थित है। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमे परिवर्तन करना उचित नही समझा, क्योकि तब इसका सारा ठाठ ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बन्ध आदि; जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वय बाली, "पहना है शुचि मुक्तामाल" (पृष्ठ ३१) इत्यादि—जिनका प्रयोग मुझे अब कविता मे अच्छा नही लगता—इसमे ज्यों के त्यों रख दिये गये है। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत साधते समय अपने नौसिखिये शिष्य की अधीर पथ-भ्रष्ट अँगुलियो की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नही होती, उसी प्रकार इस वीणा के गीतो की स्वर-लिपि में इधर-उधर भूल से लग गये कर्कश विवादी स्वर भी सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के लिए केवल मनोरंजन तथा विनोद ही की सामग्री होंगे।

"मम जीवन की प्रमुदित प्रात" वाला गीत (पृष्ठ ८) गीताजलि के "अन्तर मम विकसित कर" वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस मे मेरे एक मित्र 'गीताजलि' के उस गीत को अक्सर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी। कई कारणो से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियो को 'पल्लव' से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योकि यह उतना अच्छा नही।

'सरस्वती' की मई मास (१९२७) की सख्या मे प्रकाशित 'आज-कल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक लेख द्वारा, अभी हाल ही मे 'सुकवि किकर' के नाम से किसी वृद्ध-उद्भट साहित्याचार्य ने, केवल 'हित-चिन्तना की दृष्टि से' हिन्दी के नवीन छायावादी (?) कवियो को जिस बुरी तरह, घोर गर्जन-तर्जन के साथ फटकारा है, तथा समय-समय पर, दो-एक और भी पुराने प्रचड धूमकेतु, अपनी अस्तोन्मुखी प्रतिभा की क्षीण-मलीन ओर-छोर-व्यापी धूमिल पूँछ की अव्यर्थ फटकार से, हमारे टिमटिमाते हुए मरकत-दीपो के खद्योताकाश में जिस प्रकार भयकर उत्पात-उपद्रव मचा रहे हैं, उसे देखकर भी मैंने जो यह 'ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी पक्तियो का, रग-विरगे बेल-बूटो से अलंकृत' नवीन सग्रह इतनी जल्दी छपवाने का दु साहस किया, उसका कारण है।

व्यास, कालिदास के होते हुए, तथा सूर-तुलसी के अमर-काव्यो के रहते हुए भी, ये कवियशोलिप्सु, कवित्व-हन्ता छायावाद के छोकडे, कमल-यमल अरविन्द-मलिन्द आदि अनोखे-अनोखे उपनामो की लागूल लगा, कामा फुलिस्टापो से जर्जरित, प्रश्न-आश्चर्य-चिह्नो के तीरो से मर्माहत, कभी गज-गज भर लम्बी, कभी दो ही अगुल की, टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची, यति-हीन, छन्द-हीन, शब्द-अर्थ-तुक-शून्य, काली-काली सतरो की चीटियो की टोलियाँ तथा अस्पृश्य काव्य के गुह्यातिगुह्य कच्चे घरोदे बना, तालपत्र, भोजपत्र को छोड, बहुमूल्य कागज पर, मनोहर टाइप मे, अनोखे-अनोखे चित्रो की सजधज तथा उत्सव के साथ छपवाकर, जो 'विन्ध्यस्तरेत सागरम्' की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर इनकी हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता, तथा 'हम चुना दीगरे नेस्ती' के सिवा और क्या हो सकता है? 'घटाना निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलह:?' मेरा तो किस्सा ही दूसरा है। एक तो मै अभी तक उर्दू-शायरो के असाध्य रोग से ग्रस्त नही, यद्यपि 'सुकवि किंकर' जी के लेख को पढ़कर अब कभी-कभी मुझे 'कठीरव' उपनाम रख लेने की बड़ी इच्छा होती है—उस सारे लेख मे मुझे बस यही शब्द पसन्द भी आया—दूसरे, मै अपने अन्य मिस्टिक मित्रो की तरह तटस्थ नही हूँ। फिर चाणक्य की प्रकृति के लोग 'साक्षात् पशु: पुच्छविषाण[illegible]' कहकर डर भी दिखाते है! 'सुकवि किकर' जी स्वय न्याय करे कि बिना 'कण्ठाभरण' तथा 'लघु-कौमुदी' पढे, बिना कुछ अध्ययन-मनन, अनुभव-अध्यवसाय के, सहज ही मे, अपने आप हो जानेवाली, इस छायावाद की कविता को लिखना छोड़कर, एकदम 'पुच्छविषाणहीन पशु' बन जाना कहा तक बुद्धिमानी

है ? क्या यह 'पुच्छविषाणहीन पशु' 'पंचतन्त्र' के लेखक की उस प्राचीन जीर्ण-शीर्ण लेखनी द्वारा शोभा देनेवाली 'सुकवि किंकर' जी की 'कविचक्र चूडामणि चन्द्रचूड़ चतुर्वेदी'। इस अलंकारोक्ति से किसी कदर कम भयंकर है ? यह सब सोच-समझकर जान पड़ता है, मुझे तो स्वान्तःसुखाय कुछ न कुछ लिखना ही पडेगा, नही तो हिन्दी मे उच्चकोटि की सुन्दर, सरस कविता लिखेगा कौन ?

(अगस्त १९२७) —वीणा की अप्रकाशित भूमिका

पर्यालोचन

मै अपने यत्किंचित् साहित्यिक प्रयासो को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किन्तु हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत सग्रह मे अपने बारे में स्वय लिखूँ। सम्भव है, मै अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठको के सामने न रख सकूँ, पर जो कुछ भी प्रकाश मै उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। 'पल्लव' की भूमिका में काव्य के बहिरग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मै अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अन्तरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस सक्षिप्त पर्यालोचन मे जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ, उनके लिए सहृदय सुज्ञ पाठक क्षमा करे।

इस सौ-सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नही आ सकी हैं, पर जिन पथो का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है, उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोडा-बहुत आभास इससे मिल सकता है, और, सम्भव है, अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियो और विचारधाराओ की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमे मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मै आँखे मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मै सोचता हूँ कि क्षितिज मे सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित-नील-धूमिल कूर्माचल की छायाकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण किये हुए है, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए है, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए, भुला सकती है! और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं

दूर भागता हूँ और मेरे आलोचको का यह कहना कुछ अशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है ।]

मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक मेरी सभी रचनाओ मे प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप मे विद्यमान है ।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?"—

आदि 'वीणा' के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं । प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओ की अभिव्यंजना मे अधिक सहायता मिली है, कही-कही उससे विचारो की भी प्रेरणा मिली है । प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हे ऐन्द्रिय चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है । यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', 'नौकाविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झंझा मे नीम' आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते है ।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखनेवाली, नारी के रूप में देखा है:

"उस फैली हरियाली मे,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय बाली में"—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक है । कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है, तब मैंने अपने को भी नारी-रूप मे अंकित किया है । मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे ।

साधारणत. प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' मे चित्रित किया है । मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर पक्ष ही ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कटकर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है । यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है । यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता, तो 'Nature red in tooth and claw, वाला कठोर रूप, जो जीव-विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खीचता, किन्तु 'वह्नि, बाढ, उल्का, झंझा की भीषण भू पर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रासाद' निर्माण कर सकेगा, जिसमे 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है :

"मनुज प्रेम से जहाँ रह सके—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?"

'वीणा' और 'पल्लव', विशेषतः मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

"एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन!
यही तो है असार संसार,—सृजन, सिंचन, संहार!"

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करती, बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश-भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातीय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (सेल्फ प्रिजर्वेटिव इंस्टिंक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किये गये अत्याचारों को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गये हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हटकर आकाश-कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी-दर-सीढ़ी नीचे गिरते गये हैं।

'पल्लव' और 'गुंजन'-काल के बीच में मेरी किशोर-भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह 'पल्लव' में अपना विशेष महत्त्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व में मन्थन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गयी। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसन्त के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर!

"खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण!"

"वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता मे निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार !"

मेरी जीव-दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल ससार' मे परिवर्तन ही एकमात्र चिरन्तन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकाक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरन्तन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता मे, ऊबडूब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से, जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण के छिलके उतारकर मन को शून्य की परिधि मे भटकाता है, वहाँ वह छिलके मे फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म सश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध तथा विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

"जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन !"

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और 'गुजन' की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मै 'पल्लव' से 'गुजन' मे अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। 'गुजन' में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दु.ख में समत्व स्थापित कर अन्तर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है, साथ ही 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एव भावात्मक हो गयी है। 'गुजन' के भाषा-सगीत मे एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है, जो पल्लव में नहीं मिलती। 'गुजन' के संगीत में एकता है, 'पल्लव' के स्वरों मे बहुलता। 'पल्लव' की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, 'गुजन' की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुजित। 'ज्योत्स्ना' का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सास्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुन्दरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नही होता, साथ ही उनमे वह अनुभूति की तीव्रता नही मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं मे वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे

स्वभाव के विरुद्ध है। मैने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। 'गुजन' मे "तप रे मधुर-मधुर मन" तथा "मै सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना" आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वय निहित है। जिस प्रकार फूल मे रूप-रग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। सम्बन्ध यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है, तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से रखनेवाले सत्य में अवश्य होने चाहिए, नही तो वह उपयोगी नही हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है और मेरी रचनाओ मे उसका सम्बन्ध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनो रूप हैं—शराबी शराब पीता है, यह सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुअल) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखनेवाला। मेरी रचनाओ मे सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा सस्कार है, आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इट्रोवर्ट), क्योंकि दूसरा कारण-रूप अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयो अनुभूति को वाणी देता है। मेरी 'पल्लव'-काल की रचनाओं मे, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है और बाद की रचनाओं मे आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जानेवाले आदर्शो के प्रति विश्वास न खो बैठता, तो मेरी आगे की रचनाओं मे भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा मे मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीपन नही मिलता, तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए, पुकार भेजता है :

> 'आते कैसे सूने पल, जीवन मे ये सूने पल,
> .. ..'
>
> 'खो देती उर की वीणा झकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार 'गुजन' मे आये है। ऐसी अवस्था मे मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता, और मै सन्देहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणो को बुद्धि से सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रहकर बौद्धिक बनती गई—या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? 'ज्योत्स्ना' मे मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जोकि एक किशोर-प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं मे ऐन्द्रिय चित्रणो की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। 'परिवर्तन' में भी मैंने यही बात कही है—

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय मे बनता प्रणय अपार,
लोचनों मे लावण्य अनूप, लोक सेवा मे शिव अविकार।"

'गुजन' से पहले, जबकि मै परिस्थितियो के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नही हुआ था, मेरे जीवन का समस्त मानसिक सघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रन्थि' और 'परिवर्तन' मे प्रकट हुई। जैसा कि मै पहले लिख चुका हूँ, तब मै प्राकृतिक दर्शन (नैच्युरेलिस्टिक फिलासफी) से अधिक प्रभावित था और मानव-जाति के ऐतेहासिक सघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक सघर्ष का।

"मानव जीवन प्रकृति सचलन मे विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित।"

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार मे लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी है :

"अचिर विश्व मे अखिल,—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्ही चिरन्तन, अहे विवर्तनहीन विवर्तन !"

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमे प्रकृति के नियमो की परिपूर्णता एवं सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही मे शान्ति मिल सकती है।

'गुजन' और 'ज्योत्स्ना' मे मेरी सौन्दर्य-कल्पना क्रमश आत्मकल्याण और विश्व-मगल की भावना को अभिव्यक्ति करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

"प्राप्त नही मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास"
या "कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख"
अथवा "प्रकृतिधाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
जहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत !"

आदि बाद की रचनाओ मे मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत् की ओर अधिक प्रकट होता है। 'ज्योत्स्ना' तक मेरे सौन्दर्य-बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिय हृदय को

प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने 'युगान्त' में लिखा है—

"वह एक असीम अखंड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता!"

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खड-खड रूप मे, संसार को, जग-जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्यसाधना का दूसरा युग आरम्भ होता है। जीवन के प्रति एक अन्तर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के क्षणो मे प्रकाश-स्तम्भ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगान्त' मे भी लिखा है—

"... ....जीवन लोकोत्तर
बढती लहर, बुद्धि से दुस्तर,
पार करो विश्वास चरण धर!"

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, सश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते है।

'पल्लव' से 'गुजन' तक मेरी भाषा मे एक प्रकार के अलंकार रहे है, और वे अलकार भाषा-संगीत को प्रेरणा देनेवाले तथा भाव-सौन्दर्य की पुष्टि करनेवाले रहे है। बाद की रचनाओ मे भाषा के अधिक गर्भित (एब्स्ट्रेक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गयी है।

"नयन नीलिमा के लघु नभ मे किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है रूप अपार?"

की अलकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप-चित्र सामने रखती है, उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग-उपकरण', 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार-चित्र उपस्थित करती है। 'पुण्यप्रसू', 'घननाद', 'रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं मे भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नही है। यदि यह मेरा सृजन आवेशमात्र नही है, तो 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे मेरी कल्पना, ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अन्तरजीवन का' मधुर वितान तानकर, देश और काल के छोरो को मिलाने मे संलग्न रही है। इस ह्रास और विश्लेषण-युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानो की खोज ही मे व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड जाता है; अतएव उससे अधिक कला-नैपुण्य की आशा रखनी भी नही चाहिए।

'युगवाणी' का रूप-पूजन समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है, उसके कल्पनात्मक रूप-चित्र को स्वभावत. अलंकृत होना चाहिए। 'युगवाणी' मे कहा भी है—

"बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम"
"सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।"

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक सम्बन्धो से निर्मित भविष्य के मानव-ससार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते है, तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग मे जीवन कला का अनुगामी होता है। 'युगवाणी' मे यह बात कई तरह व्यक्त की गयी है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य-कल्पना स्वय ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप-सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह मे अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य-सगीत भी खो बैठते है, उन्हे सजाने की जरूरत पडती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते है, क्योकि उनका रूप-चित्र सद्य. होता है और उनके रस का स्वाद नवोन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसी से उनकी अभिव्यजना से अधिक उनका भावतत्त्व काव्यगौरव रखता है :

"तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलकार"

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि सक्रान्तियुग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार है। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गयी है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गयी है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते है। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते है, उडनेवाले प्राणियों की तरह, स्वय हृदय मे घर कर लेते है। आनेवाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शो के प्राणतत्त्व से रसमयो होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जायँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शो का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नही था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी-युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में

पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव-शरीर द्विवेदी-युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नही कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नही आयी थी। उसके 'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा' 'खाद्य-मधुपानी' नही बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरणमात्र रह गया। दूसरे शब्दो मे नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता, छायावाद के रूप मे, ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवो, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियो, ऐहिक जीवन की आकाक्षाओ-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओ और संवेदनाओ को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन-सघर्ष की कठिनाइयो से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप मे, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख मे, आशा-निराशा और सयोग-वियोग के द्वन्द्वो मे सामजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमे निरपेक्ष की जय के रूप मे गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अँग्रेजी-कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता, दुरूहता, संघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवी सदी के कवियो के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कटकर अलग हो गयी है। किन्तु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असन्तोष से सम्बन्ध न रखकर वर्ग एव सामाजिक जीवन की परिस्थितियो से सम्बन्ध रखतो है। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवी सदी का उत्तरार्द्ध इगलैड मे मध्यवर्गीय सस्कृति का चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और उत्तरयुद्धकालीन अँग्रेजी-कविता, दोनो, भिन्न-भिन्न रूप से, इस सक्रान्तियुग के स्नावयिक विक्षोभ की प्रति-ध्वनियाँ है।

'पल्लव'-काल मे मै उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी कवियो—मुख्यत. शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योकि इन कवियो ने मुझे मशीन-युग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय सस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रविबाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौन्दर्य-कल्पना ही मे परि-धानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का नारा भी रहा है। इस प्रकार मै कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconsious-conscious process है, तो मेरे उपचेतन

ने इन कवियो की निधियो का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अग बनाने की चेष्टा की है।

ऊपर मै एक अखड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मै जानता हूँ कि वह केवल सामन्त-युग की सास्कृतिक भावना थी, जिसे मैने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नही, बल्कि बाहर के जगत् में थे। इस बात को 'ग्राम्या' मे मै निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

"गत सस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव!"
"वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर!"

'युगान्त' के 'बापू' ('बापू के प्रति' में) सामन्त-युग के सूक्ष्म के प्रतीक है, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' मे) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गये है, जो वर्तमान युग की पराजय है।

"हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सास्कृतिक हृदय जगत का जर्जर!"

भावी सास्कृतिक क्रान्ति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण-काल मे पैदा हुए, किन्तु युग-प्रगति से बाध्य होकर हमें सक्रान्ति-युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन मे हम अपने ही देश मे कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नो को देख चुके है। उदाहरणार्थ स्वामी दयानन्द जी सुधारवादी थे, जिन्होने मध्ययुग की संकीर्ण रूढि-रीतियों के बन्धनों से इस जाति और सम्प्रदायो मे विभक्त हिन्दू-धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होने मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सास्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है:

"युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव सस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर"

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे मे लिखते भी है, "मै समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता मे व्याप्त एकता के सत्य का सन्देश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव-शास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी), विश्ववाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए है। उनके युग का प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशो और जातियों की सस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव-जाति के लिए विश्व-संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश-कालजनित धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित हो जाने

के कारण एवं आवागमन की सुविधाओ से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यो में परस्पर का सम्पर्क बढ जाने के कारण उस युग के विचारको का मानव-जाति के आन्तरिक (सास्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सास्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो के बीच, ससार मे, सामजस्य स्थापित करना चाहते थे। किन्तु इस प्रकार के एकदेशीय, एकजातीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग में, तभी सफल हो सकते है, जब उनको परिचालित करनेवाले सिद्धान्तो के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों :

"विश्व सभ्यता का होना था नखसिख नव रूपान्तर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यो ही निष्फल !"

आनेवाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। वह सामन्त-युग से सगुण (सास्कृतिक मन) से मानव-चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक सस्कारो का यन्त्रयुग की विकसित परिस्थितियो और सुविधाओ के अनुरूप नवीन रूप से मूल्याकन करना चाहता है। वह मानव-सस्कृति को एक सामूहिक विकास-प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर-युग को जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन' से इसी प्रकार के युग-परिवर्तन की सूचना मिलती है। दूसरे शब्दो मे, आनेवाला युग मनुष्य-समाज का वैज्ञानिक ढग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान भी मानव-जाति की नवीन जीवन-कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न मे सलग्न है। जिस संक्रान्तिकाल से मानव-सभ्यता गुजर रही है, उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्व-व्यापी युद्ध के रूप मे, जैसे, विज्ञान भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गो और स्वार्थो मे विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जन मे निवास') का सहार कर रहा है, वह भविष्य मे नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। 'ग्राम्या' में १६४० सन् का सम्बोधन करते हुए मैंने लिखा है—

"आओ हे दुर्धर्ष वर्ष, लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विश शताब्दो का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन !"

सभ्यता के इतिहास में और भी कई युग बदले है और उन्हीं के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अन्तर और बहिर्जगत् के सम्बन्ध मे परिवर्तित हुई है :

"पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति,
थी रुद्रचरों से कुठित कृषि युग को उन्नति।
श्रीराम रुद्र की शिव में कर जन हित परिणति,
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीता-पति।"

श्रीराम, इस दृष्टि से, अपने देश मे कृषि-क्रान्ति के प्रवर्तक कहे जा सकते है, जिन्होने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित की। स्थिर एव सुव्यवस्थित कृषि-जीवन को व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि-संस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष-जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और सस्कृति अपने उत्कर्ष के युग मे ससार को जो कुछ दे सकती थी—उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूप-रंग—उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणो को जोडकर, जैसे, उस युग की चरमोन्नति का प्रतीकस्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गयी है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामन्तयुग को संस्कृति का और हो भी नही सकता था। और कृषि-सम्पन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्यादापुरुषोत्तम के स्वरूप मे कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्त्विक चाँदी के तारो से बुने हुए भारतीय सस्कृति के बहुमूल्य पट मे विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्नजटित राजसी बेलबूटो से अलंकृत कर दिया। कृष्ण-युग की नारी भी हमारी विभव-युग की नारी है। वह 'मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नही—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामन्तयुग की नैतिकता के तग अहाते के भीतर श्रीकृष्ण ने, विभव-युग के नर-नारियो के सदाचार मे भी, क्रान्ति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग मे, फिर से गोप-सस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमे मध्ययुग मे देखने को मिला है, वह श्री तुलसी के रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग मे सस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य सस्कृतियो से ग्रहण कर सकने की उसका प्राणशक्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय सस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियो, सम्प्रदायो, सघो, मतो, रूढ़ि-रीति-नीतियो और परम्परागत विश्वासों के रूप मे जमकर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण जनसाधारण मे देह को अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद, वैराग्य-भावना आदि ह्रासयुग के अभावात्मक विचारो और आदर्शो का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि-युग ने पशुजीवी-युग के मनुष्य की अन्तर्बाह्य-चेतना मे प्रकारान्तर उपस्थित कर दिया, उसी प्रकार यन्त्रयुग का आगमन सामन्त-युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना

देता है। सामन्त-युग मे भी, समय-समय पर, छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युगों की गण-संस्कृतियों का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक और धार्मिक क्रान्तियाँ हुई है, किन्तु उन सबके नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्त-युग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकर के सभी प्रयत्नो से सम्बन्ध रखनेवाले मौलिक सिद्धान्तों और मानो को यन्त्र-युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र-युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते है जो उन्नीसवी सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद, दर्शन और विज्ञान का, मानव-सभ्यता के अन्तर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय है।

"दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानो का सघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।"

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन-विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता मे परिणत करने योग्य नवीन तन्त्र (स्टेट) का भी विधायक है।

"विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।"

इतिहास-विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन-स्वरूप हथियारों और यन्त्रों का विकास हुआ है, मनुष्य-जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान मे भी युगान्तर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए है और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रों पर जिस वर्ग-विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन-समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सास्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूंजीवादी युग ने ससार को जो 'विविध ज्ञान-विज्ञान, कला-यन्त्रों का अद्भुत कौशल' दिया है, उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूंजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गयी है। आज, जब कि ससार मे इतिहास का सबसे बडा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूंजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज्म है—शायद, अन्त भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धो के रूप में, मानव-जाति

के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही है, दूसरी ओर मनुष्य की विकास-प्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एव विचारो का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अन्धकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्नस्रष्टा के नाते मै दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढाने का पक्षपाती हूँ।

'राजनीति का प्रश्न नही रे आज जगत के सम्मुख,'
. . ..
'आज वृहत् सास्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यन्त्रों का पक्ष भी मैंने इसीलिए ग्रहण किया है कि वे मानव-समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड़ नही यन्त्र, वे भाव रूप, संस्कृति द्योतक।
. . . .
वे कृत्रिम निर्मित नही, जगत क्रम में विकसित
... .
दार्शनिक सत्य यह नही,—यंत्र जड़ मानव कृत,
वे है अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित!'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सके, तो हमारी आन्तरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायँगी।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर दर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।'

जब हम कहते है कि आनेवाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है, तो वह बहिरंतर्मुखी दोनों प्रकार का होगा। सामन्त-युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष-पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणो में प्रतिफलित हुई, सामन्त-काल

के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है । यन्त्र-युग की सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा मे मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी ।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य-स्वभाव के बारे मे भी कोई निश्चयात्मक (पॉजिटिव) धारणा नही बनाई जा सकती । मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नही है । मनुष्य की सास्कृतिक चेतना उसके मौलिक सस्कारो के सम्बन्ध मे वस्तु-जगत् की परिस्थितियो से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा मे विकसित होती रहती है । मनुष्य के मौलिक सस्कारो का देश-काल की परिस्थितियो के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती है, उनका वही व्यावहारिक रूप सस्कृति से सम्बद्ध है ।

हम आनेवाले युग के लिए 'स्थूल' को (यन्त्र-युग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिए 'सूक्ष्म' (भावी सास्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते है कि हमारे विगत सास्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्त्वों से बनी है, और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते है, वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का ।

'स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य, स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !'

सामन्त-युग मे जिस प्रकार सामाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है, उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा मे विकसित व्यक्ति से जनसाधारण की ओर । आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनो चाहिए, न कि सामन्त-युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को । 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जन समूह गुण अब विकसित'—सामन्त-युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियों के कारण, तथोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था ।

आनेवाला युग सामन्त-युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा और उसका 'पशु' (मौलिक सस्कारों-सम्बन्धी सामन्तकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप, आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत कुछ अशो मे 'देव' (सास्कृतिक मानो का प्रतीक) बन सकेगा ।

'नही रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित ।
....
देव और पशु भावो मे जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, विकसित ।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक सस्कारो के लिए अधिक विकसित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'
'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक सस्कारो के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर सकेत करते है।

मनुष्य क्षुधा-काम की प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरा-मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पडता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था मे, जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की सरक्षण-हीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हे अपने सास्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन-यन्त्रो की सामाजिक उपयोगिता बढाकर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक सघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामन्तवादी सांस्कृतिक मानो की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नही रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एव परिवर्तित हो गई है। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन-आवश्यकताओ का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका, तो उसके लिए केवल सास्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायगा। प्रत्येक धर्म और सस्कृति ने अपने देश-काल से सम्बन्ध रखनेवाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (सम्पूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग-नरक सम्बन्धी) दु:ख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसको चेतना मे धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किये है जोकि सामन्त-युग को परिस्थितियो को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था। इस प्रकार प्रत्येक युग-पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जोकि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) को तरह माने और पूजे गये है। सामन्त-कालोन उदात्त नायक के रूप मे हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस युग के सगुण से सम्बन्ध रखनेवाली सापेक्ष धारणाएँ-मात्र है। जैसा कि मै पहले भी कह चुका हूँ, मनुष्य के मौलिक सस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षतः कोई सास्कृतिक मूल्य नही रखते। सभ्यता के युगों को विविध परिस्थितियो के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य-शिव-सुन्दर की भावनाओं पर भी पड़ता है। मनुष्य की

दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियो के बीच मे जितना विशद सामजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन-समाज की सास्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था मे सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे मे लीन हो जायेगी, उस समाज मे व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायेगा, व्यक्ति के क्षुद्र देहज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जायेगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वत: कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जायेगा।

सामन्त-युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है! उस सदाचार के एक अंचल-छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर को उस युग को देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान मे भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के विकास के साथ हो हो रहा है। स्त्रियो का निर्वाचन-अधिकार सम्बन्धो आन्दोलन बूर्ज्वा-संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामन्त-युग की नारी नर की छायामात्र रही है।

> 'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
> पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अकित।
> वह समाज की नही इकाई—शून्य समान अनिश्चित
> उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।
> योनि नही है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
> उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामन्त-युग की क्षुद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओ ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यन्त्र-युग प्रतिष्ठित नही हो सका है। आनेवाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन मे मुझे किसी प्रकार का विरोध नही जान पड़ा, क्योकि मैने दोनो का लोकोत्तर कल्याणकारी सास्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-सघर्ष आदि से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक

क्रान्तियाँ ही कर सकती है, मैंने अपनी कल्पना का अग नही बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त मे मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज मे, सापेक्ष के उस पार, 'अवाङ्मनसगोचर' की ओर चले गये है, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल में डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जन-समाज के सास्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम मे वैधानिक सघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वही हो सका है।

फ्रॉयड जैसे अन्तरतम के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण मे सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नही देते है। वहाँ अचेतन (अनकासस) पर, विवेक का नियन्त्रण न होने के कारण, वे भ्रान्ति पैदा होने का भय बतलाते है। भारतीय तत्त्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाडी-मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलतापूर्वक पहुँचकर 'तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यत.' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके है।

मै, अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन-सिद्धान्तो से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण, जो एकान्त परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत् एव ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसहार-मात्र है), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियो के कारण, जो वर्ग-युद्ध और रक्त-क्रान्ति मे परिणति हुई है, ये दोनों परिणाम मुझे सास्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नही जान पडे।

अध्यात्म-दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यह सापेक्ष जगत् ही सत्य नही, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत् का—जिसका सम्बन्ध मानव-जाति की संस्कृतियो—आचार-विचार, रीति-नीति और सामाजिक सम्बन्धो से है—विकास किस प्रकार हुआ, इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सास्कृतिक हृदय के 'सत्य शिवं सुन्दरम्' का बोध सापेक्ष है, परम सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म-दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन-शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है, सामन्तकालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सास्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य मे नही हो सकता, उसे नवीन जीवन-मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण है, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मै जो वस्तु-दर्शन (ऑब्जेक्टिव फिलॉसफी) के सिद्धान्तों पर इतना जोर दे रहा हूँ, इसका यही कारण है कि परिवर्तन के युग मे भाव-दर्शन (सब्जेक्टिव फिलॉसफी) की—जोकि अभ्युदय और जागरण-युग की चीज है—

उपयोगिता प्राय: नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड और शाखारहित, उखाड़कर फेंक देना होगा। और उस सास्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार-संग्राम करना पडेगा, जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों मे हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन मे नही मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाशलता, शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढियों, प्रथाओ और मत-मतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओ मे पुजीभूत और विच्छिन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकडकर, उसको वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त का शोषण करनेवाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारो और सिद्धान्तो को ग्रहण किये बिना, हम मे वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नही आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सास्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बडी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण-काल में सस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही मे होते है, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ-साथ, विकास एवं उत्कर्ष-काल मे, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सास्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जबकि पिछले युगो की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को, नवीन जन्म के प्रयास मे, फिर से अधोमूल होना ही पडेगा। हम शताब्दियो से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इंटरप्रटेशंस) देते आये है, अब उस सामन्तगुण की, नवीन वस्तु-स्थितियो के अनुरूप, रूपान्तरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योकि विगत युगो की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट-बढ रही थी, अब वह प्रकार मे बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते है।

> 'अन्तर्मुख अद्वैत पडा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण,
> जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता मे परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के सत्य को देश-काल के भीतर (संस्कृति के रूप मे) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामन्त-युग की परिस्थितियो के बाहर था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी, दूसरी ओर

मनुष्य की सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर्जगत् मे स्थापित किये हुए था, अब उसे, एक सर्वांगपूर्ण तन्त्र के रूप में, वह बहिर्जगत् मे स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आनेवाला युग सामन्त-युग के स्वर्ग की अन्तर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य की सृजन-शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जायेगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, इ!'

भौतिक जगत् की प्रारम्भिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित 'आदिम मानव' की हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूबकर आलोकित हो जायेगी। यन्त्रयुग के साथ-साथ मानव-सभ्यता मे स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता मे मनुष्य-जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग मे उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते है।

यदि स्वर्णयुग की आशा आज की अतृप्त आकाक्षा की काल्पनिक पूर्त्ति और पलायन-प्रवृत्ति का स्वप्न भी है, तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नही भर सकता, तो यह कही अच्छा है कि, इस 'दैन्य जर्जर अभाव ज्वर पीडित' जाति-वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य-जाति का अन्त हो जाय। किन्तु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग-युग के दार्शनिक और कवि गाते आये है, जिसके क्रिया-कलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध है, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी के गौरव मानव-जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाये रहेगी, इस पर किसी तरह विश्वास नही होता।

इन्ही विचारधाराओ, स्वप्नो और कल्पनाओ से प्रेरित होकर मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। 'ग्राम्या' के लिए 'युगवाणी' पृष्ठभूमि का काम करती है। 'ग्राम्या' की भूमिका मे मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किये हैं। 'ग्राम जीवन में

मिलकर, उसके भीतर से' मै इसलिए नही लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव-स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामन्तयुग के खँडहर के रूप में।

> 'यह तो मानव लोक नही रे यह है नरक अपरिचित
> यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।'
> 'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत, मर्मान्तक
> सदियो के अत्याचारों की सूची यह रोमाचक!'

इसी ग्राम को मैंने 'ग्राम्या' की रंगहीन रंगभूमि बनाया है।

> 'रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बन्धन,
> नियत कर्म है, नियत कर्मफल,—जीवन चक्र सनातन!'

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय-अप्रिय या सत्य-मिथ्या के बोध से उनका जीवन परिचालित होता है उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

> 'ये जैसे कठपुतले निर्मित......युग-युग की प्रेतात्मा अविदित
> इनकी गतिविधि करती यन्त्रित।'—

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को भावी के 'स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमे—

> 'आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रन्दन
> भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।
> ग्राम नही वे, नगर नही वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
> जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनो की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किन्तु जनता की इस सास्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचारधारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते, प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते है। इसीलिए मै उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

> 'आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीडित शोषित जन,
> जीवन के दैन्यो से जर्जर मानव मुख हरता मन!'

या 'वृथा धर्म गण तन्त्र—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन'

अथवा 'इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज'

आदि पंक्तियाँ हार्दिकता से शून्य नही है । यदि मुझे सामन्त-युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता, तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती । तब मैं लिखता—'इस तालाब में (जन-मन मे) काई लग गई है, इसे हटाना भर है, इसके अन्दर का जल अभी निर्मल है ।'—जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता । पर मैंने लिखा है—'इस तालाब का पानी सड गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नही चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा ।'—जो सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर लक्ष्य करता है । मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' हो नही कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का जीवन' भी कहा है । जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है, वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है ? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नही ले जा सकती । इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया-काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखे', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमे, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं ।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हे हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनो के साहित्यिक उपकरणों मे बडा भारी अन्तर है । उसकी सर्वहारा (मशीन के सम्पर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग-संस्कार है जिनका लारेंस ने चित्रण किया है । अपने देश के जनसमूह (मॉब) की बीमारी उससे कही गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि-रीतियो एव अन्धविश्वासो के रूप मे पथराए हुए (फॉसिलाइज्ड) उनके सास्कृतिक सस्कार हैं । लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियो के लिए सचेतन और सक्रिय है । 'ग्राम्या' के दरिद्र-नारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड और अचेतन ।

'वज्रमूढ, जडभूत, हठी, वृष बाधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढियों का चिर रक्षक ।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यो के सम्बन्ध मे प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बाएलॉजिकल थॉट) से प्रभावित हुआ है, मै ऐतिहासिक विचारधारा से, जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मै पराधीन देश का कवि हूँ । लारेंस जहाँ द्वन्द्व-पीडन (सेक्स रिप्रसन) से मुक्ति चाहता है, मैं राजनीतिक-आर्थिक शोषण से । फिर भी मुझे विश्वास है कि, 'ग्राम्या' को पढकर ऐसा नही कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है ।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरनेवाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करनेवाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को !
मानव पुण्य प्रसू को !'

इसी लक्ष्य-परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिडिया उड़े अकास, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है, और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड-खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

'किए प्रयोग नीति सत्यो के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अन्तर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धान्तो की जन-समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया। और

'वस्तुविभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलबित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओ के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सास्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमे मनुष्य के हृदय से सामन्त-युग की क्षुद्र चेतना का बोध डूब जाय ! साथ ही अभाव-पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओ का सात्विक विकास (सब्लिमेशन) किया जा सकता है—इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे सन्देह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का लाछन मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नही लगाया जा सकता। भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एव सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए है। ससार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामन्त-युग की नैतिकता से पीडित हैं। हमारी क्षुधा

(सम्पत्ति)-काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नही हुआ है, और यन्त्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे सका है जिन पर अवलम्बित सामाजिक सम्बन्धों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव-जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने मे सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास-विज्ञान ही के अर्थ मे कर रहा हूँ जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमो का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत्।' मै यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास मे बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तश्चेतना (साइकी), तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है; यथा—

'जग जीवन के अन्तर्मुख नियमो से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किन्तु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांसस) के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रक्रियाएँ होती रहती है जिसका परिणाम बाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित अचेतन (अनकासस) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है उनका मैंने ऊपर, सक्षेप में, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मै कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओ से प्रेरणा मिली है उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि, 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओ में मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे है।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियो मे कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना मे इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग मे विचार (आइडिया) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग मे कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में कला का कला के लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्य में विचार-क्रान्ति का युग नहीं था। किन्तु क्या चित्रकला मे, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग

मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य मे अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। जागरण-युग के कवियो में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओ में सामन्त-युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके है। उससे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है, इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नही है। भारत जैसे सम्पन्न देश का समस्त सामन्तकालीन वाङ्मय, अपने युग के सास्कृतिक समन्वय का विश्वव्यापी स्वप्न देखने के लिए, बुझने से पहले, जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि-आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार मे प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश से ससार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मै स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारो और भावनाओ की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एव यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मै साहित्य मे उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोने को सुगन्धित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगो का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तो का पक्षपाती है। इसमे सन्देह नही कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की सम्पूर्ण अशों मे पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख, दुःख, नैराश्य, विछोह आदि की भावनाएँ, उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण-विशेषता, प्रतिभा आदि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान र गा। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का, परस्पर के सौहादर्य और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दु खो पर भी अनुकूल ही प्रभाव पड सकता है और उसकी प्रतिभा एव विशिष्टता के विकास के लिए उसमे कही अधिक सुविधाएँ मिल सकती है। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति-विशेष का समाधान करती है, जो यन्त्रयुग के प्रथम चरण पूँजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गो के रूप मे पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास मे दूसरा नही मिलता। मध्ययुगो की 'अन्न वस्त्र पीडित, असभ्य, निर्बुद्धि, पक मे पालित' जनता का इस वाष्पविद्युद्गामी युग मे सम्पूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नहीं है। 'युगवाणी' का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक (कासस एड कलक्टिव) कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव रूप कर्म' का सन्देश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढि-रीति-नीतियो से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव उसे किसी समाज और युग मे मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म मे किसका प्रथम स्थान है, हीगल की 'आइडिया' प्रमुख है कि मार्क्स का 'मैटर' ऐसे तर्क और उहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवी सदी के शरीर और मनोविज्ञान सम्बन्धी अथवा आदर्श-वाद एवं वस्तुवाद सम्बन्धी विवादो की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद सम्बन्धी मतभेद भी एकागी है। आधुनिक भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं!

आज इस सक्षिप्त 'वीणा-ग्राम्या' चयन के पृष्ठों पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पडता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है वहाँ मै भावी मानवता के सत्य को सफलतापूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ मै, किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओ पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मै केवल आशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका मे मैने उस प्रश्नावली के उत्तरो का भी समावेश कर दिया है जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायन जी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, ऑल इडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए, तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत सग्रह में सम्मि-लित रचनाओ पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव-समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है, उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतान्तरों द्वारा, इस संदिग्धकाल के घृणा-द्वेष-कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क, संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न, कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप मे वास्तविक एवं साकार हो जायेगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व-निर्माण में निरत, मानवता से अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन-काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यन्त सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों मे अपने सम्बन्ध मे लिखने मे यदि कही, ज्ञात-अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो, तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ। मैने कही-कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धान्तों का विस्तार-

पूर्वक समाधान भी नही किया है। अन्त मे मैं 'ग्राम्या' की अन्तिम रचना 'विनय' से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ—

'हो धरिण जनो की : जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर!'

(१५ दिसम्बर १९४१) (आधुनिक कवि, भाग २ से)

दृष्टिपात

'युगवाणी' का तीसरा संस्करण पाठको के सामने प्रस्तुत है। इसमे मै 'युगवाणी' के कलापक्ष के सम्बन्ध मे दो शब्द लिखकर, पाठको को सुविधा के लिए, युगदर्शन के प्रमुख तत्त्वो पर भी प्रकाश डाल रहा हूँ।

'युगवाणो' को मैने गीत-गद्य इसलिए नही कहा कि उसमे काव्यात्मकता का अभाव है, प्रत्युत, उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलकृत तथा विचार-भावना-प्रधान है। युग के खँडहर पर 'युगवाणी' का काव्य-सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला-प्रेमी, ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटाकर, सहज ही देख सकते है।

'युगवाणी' की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है। जिस परम्परागत मधुवन को हम पल्लवों के मर्मर से लज्जारुण और फूलो के रंग-गुजन स यौवनगर्वित देखते आये है, उसको दक्षिण पवन (काव्य-प्रेरणा ?) शिशिर मे ठंडी उसाँसे भर, आज ढेर-ढेर पीले पुराने पत्तो को युग-परिवर्तन की आँधी में उड़ाकर—जैसे उन टूटते हुए स्वप्नो पर स्थिर चरण न रख सकने के कारण ही प्रलय-नृत्य करती हुई—नयी संस्कृति के बीज बिखेर रही है! 'युगवाणी' मे आप टेढ़ी-मेढी पतली-ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ 'वासासि जीर्णानि विहाय' ..सौन्दर्य देखेंगे, जिससे नवप्रभात की सुनहलो किरणे बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई है, जहाँ ओसो के झरते हुए अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा मे हँसते हुए से दिखाई देते है; जहाँ शाखा-प्रशाखाओं के अन्तराल से—जिनमे अब भो कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुए है—छोटे-बड़े, तरह-तरह के, भावनाओं के नीड, जाडों की ठिठुरती-काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर, नवीन कोंपलो से छनते हुए नवीन आलोक तथा नवीन ऊष्णता का स्पर्श पाकर, फिर से सगीत-मुखर होने का प्रयत्न कर रहे है।

पत्ते की मासल हरियाली को जब कीडे चाट जाते है, उसकी सूक्ष्म स्नायुओ से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखनेवालो को आश्चर्यचकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य-सक्रान्ति की झाँकी आप 'युगवाणी' मे भी पायेंगे, तब आप सहज ही 'युगवाणी' के स्वरो मे कह उठेंगे—

'सदियो से आया मानव जग मे यह पतझर!'

और 'जीवन वसन्त तुम, पतझर बन नित आती,
अपरूप, चतुर्दिक सुन्दरता बरसाती!'

'युगवाणी' मे प्रकृति-सम्बन्धी कविताओ के अतिरिक्त—जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती है—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती है—

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

(२) समाज मे प्रचलित जीवन की मान्यताओ का पर्यालोचन एव नवीन संस्कृति के उपकरणो का संग्रह।

(३) पिछले युग के उन मृत आदर्शो और जीर्ण रूढि-रीतियो की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही है।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रॉयड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव; जन-समाज का पुनःसगठन एवं दलित लोक-समुदाय का जीर्णोद्धार।

(५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता; राग-भावना का विकास तथा नारी-जागरण।

'युगवाणी' की कुजो उसकी 'बापू' शीर्षक पहली कविता मे है,—

'भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !'

मानव-जीवन एव समाज का रूपान्तर करने तथा पृथ्वी पर मानव-स्वर्ग बसाने का वस्तु-स्वप्न नवीन युग की भावात्मक देन है। मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य जीवन-सत्य की अवहेलना कर जगत् को माया या मिथ्या कहा है और आधुनिक भूतदर्शन जिस प्रकार अन्तर्जीवन-सत्य की उपेक्षाकर उसे बहिर्जीवन के अधीन रखना चाहता है, 'युगवाणी' मे इन दोनों एकांगी दृष्टिकोणों का खडन किया गया है।

लोककल्याण के लिए जीवन की बाह्य (सम्प्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यन्तरिक (सास्कृतिक-आध्यात्मिक) दोनो ही गतियों का सगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों मे सन्तुलन होना चाहिए। जहाँ एक ओर असख्य नंगे-भूखो का उद्धार करना जरूरी है, वहाँ पिछली संस्कृतियो के विरोधो एव रीति-नीतियो की शृखलाओ से मुक्त होकर मानव-चेतना को, युग-उपकरणो के अनुरूप, विकसित लोक-जीवन-निर्माण करने मे सलग्न होना है।

'युगवाणी' को विश्वमर्म्वि कहा है, जिससे वह जातिगत मन से मुक्त होकर विश्वमन एवं युग के लोकमन को अपने स्वरो मे मूर्त कर सके; मनुष्य की अन्तश्चेतना मे जो सत्य अभी अमूर्त है उसे रूप दे सके; जीवन-सौन्दर्य की जो मानसी प्रतिमा आज अन्तर्मन में विकसित हो रही है, उसे भौतिक जीवन मे साकार कर सके; और हमारा मनःस्वर्ग

पृथ्वी पर उतर आये । कही-कही भावी जीवन की कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है । यथा, अब छन्दों और प्रासो में सीमित कविता विश्व-जीवन के रूप में बहने लगी है, मानव-जीवन ही काव्यमय बन गया है, कलात्मकभाव जीवन की वास्तविकता में बँध गये हैं । ऐसे संसार मे, जहाँ सास्कृतिक शक्तियाँ उन्मुक्त हो गयी हैं, अब जीवन-संघर्षण एवं समाज-निर्माण का श्रम सुखद सुन्दर लगता है ।

इस युग के असंगठित जीवन को अन्धकार कहा है, संगठित मन को प्रकाश । विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे देव बनने के एकागी प्रयत्न मे हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओ से भी नीचे न गिर जायँ । देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहे और मानव-दुर्बलताओ के भीतर से अपना निर्माण एवं विकास कर सकें । नवीन समाज की परिस्थितियाँ हमे आदर्शो की ओर ले जाने वाली हो । हमारा मन युग-युग के छाया-भावो से संत्रस्त न रहे, हम आज के मनुष्य की चेतना का, जो खड-युगों की चेतना है, विकसित विश्व-परिस्थितियों के अनुरूप संगठन एव निर्माण कर सके ।

अपने देश मे जन-साधारण के मन मे जीवन के प्रति जो खोखले वैराग्य की भावना घर कर गयी है, उसका विरोध कर नवीन सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर जोर दिया गया है । भौतिक विज्ञान के विकास के कारण भू-रचना के जिस भावात्मक दर्शन का इस युग में आविर्भाव हुआ है, उसे युग-दर्शन का एक मुख्य स्तम्भ माना है ।

मध्ययुग आत्म-दर्शन या आत्मवाद का सक्रिय, संगठित एवं सामूहिक प्रयोग नही कर सका । तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नही था; वाष्प, विद्युत्, रश्मि आदि मानव-जीवन के वाहन नही बन सके थे । जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड़ हो गयी थी । मध्ययुगीन विचारकों, सन्तों एवं साधुओं के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व-संचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद-मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम है) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जायँ । उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भगीरथ-प्रयत्न कहे जा सकते है, पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण-प्रयत्न (जिन्हें राम-कृष्ण-अवतरण कहना उचित होगा) नहीं थे, जिनके द्वारा विश्व-सचरण में भी प्रकारान्तर या युगान्तर उपस्थित हो सकता और जिनकी विकसित चेतना विश्व-जीवन के रूप मे संगठित एवं प्रतिष्ठित हो सकती । वर्तमान युग, नैतिक उन्नयन से अधिक, इसी प्रकार के बहिरन्तर रूपान्तर की प्रतीक्षा करता है ।

रूप-सत्य और कर्म के मन से मेरा अभिप्राय लोक-जीवन के संगठित रूप से और संस्कृति के रूप मे सगठित मन से है । पिछले जीवन के संगठित सत्य (संस्कृति) को,

जिसके मूल केवल मध्ययुग की चेतना के आकाश में है, लोक-सग्रह से प्राणशक्ति ग्रहण करने के लिए अधोमूल बन जाना है, फिर से नीचे से ऊपर की ओर उठना है। गीता मे जिस विश्व-अश्वत्थ को ऊर्ध्वमूल मध: शाख: कहा है वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार विश्व-मन (अधिमन) एव जीवन का सत्य विज्ञान-भूमि मे बीज-रूप मे सचित है, जहाँ से वह जगत्-जीवन मे अवतरित एव प्रस्फुटित होता है। 'युगवाणी' मे, अवतरण और विकास, दोनो सचरणो को महत्त्व दिया है। इसी प्रकार का समन्वय पाठकों को 'ज्योत्स्ना' मे भी मिलेगा।

सक्षेप मे, मैंने मार्क्सवाद के लोक-सगठन-रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनो का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारधारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामो से प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के वृत्त-संचरणों पर विश्वास रखती है। अत. नवीन युग की भावना केवल कपोल-कल्पना नही है। पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारो की तरह माना है, जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एव विकसित होता है। भविष्य मे जब मानव-जीवन विद्युत् और अणु-शक्ति की सबल टाँगों पर प्रलय-वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की तर्कों-वादो में बिखरी हुई चेतना उसका संचालन करने मे किसी तरह भी समर्थ नही हो सकेगी। इसलिए सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अन्तश्चेतना मे भी युगान्तर होना अवश्यम्भावी है।

इस युग-विवर्तन मे अनेक अभावात्मक एव विरोधी शक्तियाँ भी काम कर रही हैं जो हमारे पिछले सामाजिक सम्बन्धो की प्रतिक्रियाएँ हैं। वर्तमान राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन इन्ही विरोधो को दबाने एव नवीन भाव परिस्थितियो का निर्माण करने के लिए जन्म ले रहे हैं। एक विरोधी तत्त्व और भी है, जो इनसे सूक्ष्म है। वह है मनुष्य का राग-तत्त्व, जो पिछले युगो के सस्कारों से रजित और सीमित है। इस राग-तत्त्व को अपने विकास के लिए भविष्य मे अधिक ऊर्ध्व एवं व्यापक धरातल चाहिए। वर्तमान नारी-जागरण और नारी-मुक्ति के आन्दोलन उस धरातल पर पहुँचने के लिए सोपान-मात्र हैं। राग-सम्बन्धी आन्दोलन एक प्रकार से अभी अविकसित और पिछड़ा हुआ है। प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान उस पर केवल आंशिक प्रकाश डालता है। मनुष्य-स्वभाव को सस्कृत बनाने के लिए रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनि-वार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँच जायगा और ससार मे नर-नारी-सम्बन्धी रागात्मक मान्यताओ मे प्रकारान्तर हो जायगा। स्त्री-पुरुष भौतिक विज्ञान-शक्ति से सगठित भावी लोकतन्त्र मे रहने योग्य संस्कार-विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों

को छूने लगेगी। राग-सम्बन्धी इस सचरण के लिए 'युगवाणी' मे यत्र-तत्र सकेत किया गया है।

मुझे विश्वास है इन दृष्टिकोणो से 'युगवाणी' को समझने मे पाठको को सुविधा होगी। दर्शन-पक्ष के लिए 'आधुनिक कवि' (भाग दो) की भूमिका को पढना भी उपयोगी सिद्ध होगा। इति।

(सितम्बर १९४७) (युगवाणी से)

प्रस्तावना

'उत्तरा' के अचल मे भूमिका के रूप मे इन थोड़े-से शब्दों को बाँध देना आवश्यक हो गया है, क्योकि इधर 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' को लेकर मेरी काव्य-चेतना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का प्रचार हुआ है । इस प्रस्तावना का उद्देश्य उन तर्कों या उच्छ्वासो का निराकरण करना नही, केवल पाठको के सामने, कम-से-कम शब्दों में, अपना दृष्टिकोण-मात्र उपस्थित कर देना है । वैसे, मेरा विचार अगले काव्य-संकलन में 'युगान्त' के बाद की अपनी रचनाओ के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखने का है, पर वह कल की बात है ।

मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित् प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है, जो हमारे संक्रान्तिकाल की देन है और जिसने, एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र मे प्रभावित किया है । इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों मे 'ज्योत्स्ना'-काल से प्रारम्भ हो गये थे, 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रान्त चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' मे युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गयी है ।

> 'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर
> तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर !'—

'चाँदनी' को सम्बोधित करनेवाली 'ज्योत्स्ना'-'गुंजन'-काल की इन पंक्तियो मे पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी । मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे । बाहरी दृष्टि से उन्हे 'युगवाणी' तथा 'स्वर्णकिरण'-काल की रचनाओं में शायद परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है ।

'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे उन्ही के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्स-वाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' मे अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा सश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनो मे समान रूप से वर्तमान है और दोनों कालों की रचनाओं से इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते है । 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानो का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो 'स्वर्णकिरण', स्वर्णधूलि' मे समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं । किन्तु किसी लेखक

की कृतियों मे विचारसाम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शो तथा संवेदनो से किस प्रकार आन्दोलित होता है, उन्हें किस रूप मे ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए ।

हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते है, उन्हे इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरण-वादी तथा युग्मचेतना से पीड़ित दिखाई देती है । ये आलोचक अपने सास्कृतिक विश्वासों मे मार्क्सवादी ही नही, अपने राजनीतिक विचारो मे कम्यूनिस्ट भी है । मै मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ । किन्तु सास्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रान्ति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ, जिसकी ओर मै 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे इगित कर चुका हूँ । अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओं तथा व्याख्याओ से क्षुब्ध है और उनके लिखने के ढग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नही हो सके है, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवांछनीय है ।

अपने युग को मै राजनीतिक दृष्टि से जन-तन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-मानवता अथवा लोक-मानवता का युग मानता हूँ, और वर्ग-युद्ध को इस युग के विराट् सघर्ष का एक राजनीतिक चरण-मात्र । राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है, एक तो राजनीति के नक्कारखाने मे साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नही रखती, दूसरे, इन सभी वादो को मै युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ । ये परस्पर संघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भो इस युग के अभावो को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करते है, अपनी सीमाओ के भीतर उनका उपचार भी खोजते है, और बहिरन्तर के दैन्य से पीड़ित, पिछले युगो को अस्थि-ककाल-रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रखकर सुखभोगकामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते है । सास्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनो से असन्तुष्ट होने पर भी मै अपने युग की दुर्निवार तथा मानव-मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओ से परिचित एव पोड़ित हूँ ।

मेरा दृढ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलो की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नही किया जा सकता । इस प्रकार

के सभी आन्दोलनो को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सास्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सम्पूर्ण धरातलो मे मानवीय सन्तुलन तथा सामजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा, भविष्य मे मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि स बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक सचरण—प्रचलित शब्दो मे धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जायँगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जायेगा—अथवा राजनीतिक आन्दोलन सास्कृतिक आन्दोलनो मे बदल जायँगे, जिसका पूर्वाभास हमे, इस युग की सीमाओ के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्व मे मिलता है ।

इस दृष्टि से मै युग की प्रगति की धाराओ का क्षेत्र, वर्ग-युद्ध मे भी मानते हुए (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकर समझता हूँ), उससे कही अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ और सुधार-जागरण के प्रयत्नो को भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक समझता हूँ; क्योकि जिस सचरण का बाहरी रूप क्रान्ति है उसी का भीतरी रूप विकास । अतएव युग-पुरुष को पूर्णत सचेष्ट करने के लिए यदि लोक-सगठन के साथ गाधीवाद को पीठिका बना कर मन सगठन (संस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना (संस्कृति) का विकसित विश्व-परिस्थितियों (वाष्प-विद्युत् आदि) के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय किया जाय, तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के सगीत तथा मनुष्यता की पुकार मे बदला जा सकता है, एव क्रान्ति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है । इस युग के क्रान्ति-विकास, सुधार-जागरण के आन्दोलनो की परिणति एक नवीन सास्कृतिक चेतना के रूप मे होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के सम्पूर्ण स्तरों का रूपान्तर कर देगी तथा विश्व-जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदलकर सामाजिक सम्बन्धों को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी । इसी सास्कृतिक चेतना को मै अन्तश्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ । मै जनवाद को राजनीतिक सस्था या तन्त्र के बाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी, प्रजात्मक मानव-चेतना के रूप मे भी देखता हूँ और जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अन्तश्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ, जिस अर्थ मे मैने अपनी इधर की रचनाओ में इनका प्रयोग किया है । दूसरे शब्दो मे, जिस विकासकामी चेतना को हम सघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातन्त्रवाद के नाम से पुकारते है उसी को ऊर्ध्व सास्कृतिक धरातल पर मै अन्तश्चेतना एवं अन्तर्जीवन कहता हूँ । इस युग के जड (परिस्थितियॉ, यन्त्र तथा तत्सम्बन्धी राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्सम्बन्धी मान्यताएँ आदि) का संघर्ष इसी अन्तश्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप मे सामजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा । अतः मै वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-

अहता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप मे परिणति सम्भव समझता हूँ और युग-सघर्ष मे जन-सघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का सघर्ष भी देखता हूँ ।

इस प्रकार मै युग-सघर्ष का एक सास्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जनयुग की धरती से ऊपर उठकर उसकी ऊपरी मानवता की चोटी को भी अपने फडकते हुए पख से स्पर्श करता है; क्योंकि जो युग-विप्लव मानव-जीवन के आर्थिक-राजनीतिक धरा-तलों मे महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं मे भी आन्तरिक विकास तथा रूपान्तर उपस्थित करने जा रहा है, और जैसा कि मै 'युगवाणी' की भूमिका में लिख चुका हूँ, "भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत् तथा अणु-शक्ति को प्रबल टाँगों पर प्रलय-वेग से आगे बढ़ने लगेगा, तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी . बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अन्तश्चेतना में भी युगान्तर होना अवश्यम्भावी है !"—सी नवीन चेतना की मन.क्रीडा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशाविश्वासप्रद प्रेरणाओ के उद्बोधक गान मेरी इधर की रचनाओ के विषय है, जो जन-युग के सघर्ष मे मानव-युग के उद्भव की स्वप्नसूचना-मात्र है । ऐसा कहकर मै किसी प्रकार की आत्मश्लाघा को प्रश्रय नही दे रहा हूँ । 'उत्तरा' के किसी गीत मे मैंने—

"मै रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुजन,
आगे आएँगे तरुण भृ ग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण ।"—

किसी विनम्रतावश नही, अपनी तथा अपने युग की सीमाओ के कटु अनुभव तथा नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर विश्वास के कारण ही लिखा है ।

मेरा मन यह नही स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओ मे जिस सास्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मन.सगठन को ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामो कहा जा सकता है । मैंने सदैव ही उन आदर्शो, नीतियों तथा दृष्टिकोणो का विरोध किया है जो पिछले युगो की संकीर्ण परिस्थितियो के प्रतीक है, जिनमे मनुष्य विभिन्न जातियो, सम्प्रदायो तथा वर्गो मे विकीर्ण हो गया है । उन सभी विश्लिष्ट सास्कृतिक मान्यताओ के विरुद्ध मैंने युग के कोकिल से पावक-कण बरसाने को कहा है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गयी है और जो मानव-चेतना को अपनी खोखली भित्तियो मे विभक्त की हुई है । मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-सगठन तथा मन:सगठन एक दूसरे के पूरक है, क्योंकि वे एक ही युग (लोक)-चेतना के बाहरी और भातरी रूप है ।

मुझे ज्ञात है कि सभी प्रकार के सुधार-जागरण के प्रयत्न क्रान्ति के प्रतिरोधी माने जाते है; पर ये इस युग के वादों तथा तर्कों की सीमाएँ है, जिनका दार्शनिक विवेचन अथवा विश्लेषण करना इस छोटी-सी भूमिका के क्षेत्र से बाहर ही का विषय नहीं, वह व्यर्थ

का प्रयास भी होगा । जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रान्त नहीं हो गया है, वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जनसंघर्ष (राजनीतिक धरातल) में, जो युग-जीवन का सत्य द्वन्द्वो के उत्थान-पतन मे अभिव्यक्ति पाकर आगे बढ रहा है, वह मनुष्य की चेतना (मानसिक-सास्कृतिक धरातलो) मे एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में सन्तुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है । जो विवेचक सभी प्रकार के मन.संगठन तथा सास्कृतिक प्रयत्नो को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कहकर उनका विरोध करते है, उनकी भावना युग-प्रबुद्ध होने पर भी विचारधारा वादो से पीडित तथा बुद्धि-भ्रम से ग्रस्त है ।

अपने लोक-प्रेमी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवकों को ध्यान मे रखते हुए, जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तथा महान् त्याग करने मे समर्थ है, मै इसे केवल अपने युग-मन की कमी अथवा सीमा कहूँगा । हमारा युग-मन परिस्थितियो के प्रति जाग्रत तथा पर्याप्त लब्ध-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है, और इसके अनेक कारण है । हम अभी यन्त्र का मानवीकरण नही कर सके है, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नही बना सके है; बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य किये हुए है । यन्त्र-युग ने हमे जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बनकर रह गया है, उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ मे परिणत कर शोषक-शोषितो के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असन्तोष से भर दिया है, वहाँ हमारे भोग-विलास तथा अधिकार-लालसा के स्तरो को उकसाकर हमे अविनीत भी बना दिया है, किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलो तथा सास्कृतिक चेतना को छूकर मानवीय गौरव से मडित नही हो सका है—दूसरे शब्दो मे, यन्त्र-युग का मनुष्य की चेतना में अभी सास्कृतिक परिपाक नही हुआ है ।

जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारको ने आत्मवाद से प्रकाश-अन्ध होकर मानव-चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया-मिथ्या कहकर भुला देना चाहा (जिसका कारण मै 'युगवाणी' की भूमिका मे दे चुका हूँ), उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान-दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था ही मे मानते है, चेतन-मन तथा हेतुवाद (रेशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन-अवचेतन के सिद्धान्तो को देने लगा है—और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता के अन्धकार मे और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तश्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अतिविधान कहकर उड़ा देना चाहते हैं; जो मान्यताओ की दृष्टि से, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणो मे सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है । किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) के सिद्धान्तो द्वारा

जड-चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए सम्भव नही। अतएव साहित्य के क्षेत्र मे मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे है, उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणो का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर ले। वास्तव मे चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय, चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरातल; दोनों ही मानव-जीवन में अविच्छिन्न रूप से, वागर्थाविव, जुडे हुए है। जिस प्रकार पदार्थ का सचरण परिस्थितियो के सत्य या गुणो मे अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार चेतना का सचरण मन के गुणो मे; लोक-जीवन के विकास के लिए दोनो ही में सामंजस्य स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। पदार्थ, जीवन, मन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन-मात्र है, सम्पूर्ण सत्य इनसे परे तथा इनमे भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखण्डनीय है। सभ्यता के विकास-क्रम मे जब मनुष्य का मन एवं चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगो मे अन्तर्मन की मान्यताएं भी (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर-सम्बन्धी) स्वीकृत होकर लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी है, तब आज उन सबका बहिष्कार कर केवल मांस-पेशियो के संगठित बल पर मानव-जीवन के रथ या महायान को आगे बढ़ाने का दुःसाहस मेरी दृष्टि मे केवल इस युग के दुर्दान्त विक्षोभ का अन्धविद्रोह है।

मै केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नही ले रहा हूँ, वस्तुवादियो के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव मे आदर्शवाद-वस्तुवाद, जड-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास है, जिसका संचरण-वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब-रूप, जिसे आदर्श को ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है, जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परि-णति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नही होने देता एव उसी को सत्य मानता है। किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनो से अतिशय तथा ऊपर भी है—सूक्ष्म-स्थूल-रूप या बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान ले, तो दोनो दृष्टिकोणो में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्वकर्म में

परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते है। विनय, आत्मत्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिसा आदि व्यावहारिक आदर्शो को अपनाकर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ है—दोनों शिविरो का सयुक्त कर्म भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढा सकता है।

वास्तव मे हमारो कठिनाइयों का कारण है हमारी एकागी शिक्षा तथा सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण पश्चिमी विचार-दर्शन तथा साहित्य की दासता। साधारणत. हमारा बुद्धिजीवी युवक—जो विदेशी सभ्यता या सस्कृति से, बाहर ही बाहर, प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भाडार से प्राय. अपरिचित—यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिकता तथा दर्शन पिछली सामन्ती परि-स्थितियो का प्रकाश (संगठित ज्ञान)-मात्र है, जिसकी इस युग मे कोई उपयोगिता नही रह गयी है। वह सोचता है कि इस युग के विज्ञान-दर्शन तथा मनोविज्ञान ने जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण को ऐसा आमूल परिवर्तित कर दिया है कि हमारी विकसित परिस्थितियो से उद्भूत चेतना ही मानव-जीवन का नवीन दर्शन बन सकती है और आध्यात्मिकता का मोह केवल हमारा अतीत का गौरव-गान है। किन्तु इसमें तथ्य इतना ही है कि पदार्थ-विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है और उसके फलस्वरूप अपनी भौतिक परिस्थितियों को वाष्प-विद्युत् आदि का संजीवन पिलाकर अधिक सक्रिय बना दिया है, जिनमें नवीन रूप से सामजस्य स्थापित करने के लिए इस युग के राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलनो का प्रादुर्भाव हुआ है, किन्तु परिस्थितियो की सक्रियता के अनुपात मे हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर, प्रबुद्ध तथा अन्त.सगठित न हो सकने के कारण युग के राजनीतिक-आर्थिक सघर्ष मानव-सभ्यता को अभ्युदय की ओर ले जाने के बदले, विश्वयुद्धो का रूप धारण कर, भूव्यापी रक्तपात तथा विनाश ही की ओर अग्रसर करने मे सफल हो सके है, और सहार के बाद निर्माण के क्षण आशाप्रद सिद्धान्त को भी अब एटमबम के भयानक आविर्भाव ने जैसे एक बार ही धराशायी कर दिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के विचारो के मन को नही छू सका है। उसने केवल हमारे भावनाओ के मन मे हलचल भर पैदा की है। पिछली दुनिया की नैतिकता अभी मनुष्य के मोहग्रस्त चरणो मे उसी प्रकार चाँदी के भारी भद्दे सकोर्ण कडे की तरह पडी हुई है, जिससे मानव-चेतना का सौन्दर्यबोध तथा उसकी राग-भावना की गति पग-पग पर कुठित होकर, स्त्रियो के अधिकार-आन्दोलनों के रूप मे, आगे बढने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। किन्तु मानव-चेतना की नैतिक लँगडाहट को दूर करना शायद कल का काम है, उससे पहले मानव-जाति के दृष्टिकोण का व्यापक आध्यात्मिक रूपान्तर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अध्यात्मवाद का स्थान मानव के अन्तर-

तम शुभ्र शिखरो पर सदैव के लिए वैसा हो अक्षुण्ण बना हुआ है और रहेगा जैसा कि वह शायद पहले भी नही था ।

भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच)-मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण, क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलो का विश्लेषण तथा सश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है । दुर्भाग्यवश हमारे तरुण बुद्धिजीवी अध्यात्मवाद को बादलो के ऊपर का कोई सत्याभास मानते हैं और उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन के एक सूक्ष्म, किन्तु सक्रिय, सत्य के रूप मे नही देखते । जिस प्रकार पदार्थ का एक भौतिक तथा मानसिक स्तर है, उसी प्रकार उसका एक आध्यात्मिक स्तर भी ।

पदार्थ तथा चेतना के धरातलो पर व्यर्थ न बिलम (रुक) कर हमारे युग को—और ऐसे युग सभ्यता के इतिहास मे सहस्रो वर्षो बाद आते है—वैयक्तिक-सामूहिक आवश्यकताओ के अनुरूप इन दोनो मौलिक सचरणो मे नवीन सामजस्य स्थापित कर, एव जीवन के शतदल को मानस-जल के ऊपर नवीन सौन्दर्यबोध मे प्रतिष्ठित कर, उसमे पदार्थ की पंखडियो का सतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंगी ऐश्वर्य (विकास) भरना ही होगा । जीवन-निर्माण के आवेश मे बह जाने के कारण तथा भौतिक दर्शन के अपर्याप्त दृष्टिकोण के कारण, इस युग के साहित्य मे और भी अनेक प्रकार की भ्रान्तियो का प्रचार हो रहा है । यदि पुरानी दुनिया (मध्ययुग) अतिवैयक्तिकता के पक्षपात से पीडित थी, तो नयी दुनिया अतिसामाजिकता के दलदल मे फॅसने जा रही है, जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालान्तर मे मनुष्य की सुख-शान्ति एक किमाकार यात्रिक तंत्र के दु:सह बहिर्भूत भार से दब जायेगी और वैयक्तिक अन्त सचरण का दम घुटने लगेगा । हमे व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतन्त्र अन्योन्याश्रित सिद्धान्तो की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरन्तर्मुखी प्रवृत्तियो के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतंत्र को प्रतिष्ठित करना होगा । दोनों सचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशान्ति को जन्म देना होगा । इसमे सन्देह नही कि सभ्यता के विकासक्रम मे जब हमारा मनुष्यत्व निखर उठेगा एव जठर का संघर्ष उत्पादन-वितरण के सन्तुलन मे नि शेष या समाप्तप्राय हो जायेगा, मनुष्य का बहिर्जीवन उसके अन्तर्जीवन के अधीन हो जायेगा, क्योकि मनुष्य के अन्तर्जीवन तथा बहिर्जीवन के सौन्दर्य में इतना प्रकारान्तर है जितना सुन्दर मास की देह तथा मिट्टी की निर्जीव प्रतिमा मे !—किन्तु यह कल का स्वप्न है ।

तथोक्त गहन मनोविज्ञान सम्बन्धी निरुद्ध भावना, कामग्रन्थि आदि के परिज्ञान ने हमारी उदात्त भावना, आत्म-निग्रह आदि की धारणाओं के अर्थ का अनर्थ कर दिया है ।

उन्नयन का अर्थ दमन या स्तम्भन, संयम का आत्मपीडन या निषेध तथा आदर्श का अर्थ पलायन हो गया है। उपचेतन-अवचेतन के निम्न स्तरो को इतनी प्रधानता मिल गई है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरो के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धिजीवी अपरिचित ही रह गया है; भारतीय मनोविश्लेषक इड, लिबिडो तथा प्राण-चेतना सत्ता (फ्रॉयडियन साइकी) के चित्र-आवरण को चीरकर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है,—'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राण प्रथमः प्रैति युक्त ?' किन्तु हमारे निष्प्राण, प्रेरणा-शून्य साहित्य मे उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियो का चित्रण ही आज सृजन-कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लाछन, तथा घात-प्रतिघात का क्षेत्र बन गयी है, जिससे हम कुठित बुद्धि के साथ संकीर्ण हृदय भी होते जा रहे है।

इस प्रकार की अनेक भ्रान्तियो तथा मिथ्या धारणाओ से आज हमारी सृजन-चेतना पीडित है और प्रगतिशील साहित्य का स्तर सकुचित होकर प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है। हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित है कि अपनी ओर मुडकर अपने देश का प्रशान्त गम्भीर प्रसन्नमुख देखना ही नही चाहते। हममे अपनी भूमि के विशिष्ट मानवीय पदार्थ को समझने की क्षमता ही नही रह गयी है। हम इस सदियो के खँडहर का बाहरी दयनीय रूप देखकर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते है और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देखकर उनका अनुकरण करने लगते है। मै जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है। एक बार सयुक्त प्रयत्न कर हमे इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गम्भीर परिपक्व आत्मा को, उसके अन्तःसौन्दर्य से तपोज्ज्वल शान्त सुन्दर मुख को पहचानकर अपने अन्त करण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा, तभी हम अन्य देशो से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियो को यथोचित रूप से ग्रहण करने एव अपने संचय को उन्हे देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण मे जाग्रत् सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्ययुगो से हमारे देश के मन मे अनेक प्रकार की विकृतियाँ, तथा दुर्बलताएँ घर कर गयी है, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण है, कुछ हमारी सामन्त-संस्कृति के बाहरी ढाँचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ और कुछ उत्थान के बाद पतनवाला जीवन की विकासशील परिस्थितियो पर प्रयुक्त सिद्धान्त। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियो एवं स्थलो पर इस युग के हमारे बडे-बडे विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके है। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अन्तश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के ससार मे कुछ भी देखने को नही मिलता; और यह मेरा अतीत का गौरवगान नही, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धाजलि-मात्र है।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप मे सोचते है। पर इसका यह अभिप्राय नही कि विश्व-योजना मे विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दो मे एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्य का सहज अन्तर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्वजीवन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य सयोजित न हो। इसलिए देशप्रेम अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्ही बातों को ध्यान में रखते हुए मै सोचता हूँ कि भारत पर भावी विश्व-निर्माण का कितना उत्तरदायित्व है; आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अन्त स्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियो, बुद्धिजीवियो तथा लोकनायको को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-सयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गाधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनोतिक तत्र या वैज्ञानिक यत्र का दान नही हो सकता; वह संस्कृति तथा विकसित मनोयत्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गाधी जी भी अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप मे दे गये है, जिसे हम मानव-चेतना का नवनीत, अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते है। महात्माजो अपने व्यक्तित्व से राज-नीति के संघर्ष-कटक-पुलकित कलेवर को संस्कृति का लिवास पहनाकर भारतीय बना गये है। उनका दान हम भुला भी दे, किन्तु ससार नही भुला सकेगा; क्योकि अणु-मृत मानव-जाति के पास अहिंसा ही एकमात्र जीवन-अवलम्ब तथा सजीवन है।

सत्य-अहिसा के सिद्धान्तो को मै अन्तःसगठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ। अहिसा मानबीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओ का दृष्टिकोण है, और ये मान्यताएँ दो प्रकार की है। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक, और दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक आदर्शो के रूप में विकास-क्रम मे उपलब्ध होती है। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अन्तस्थ सूत्र की तरह है जो हमारे बहिर्गत आदर्शो को सामंजस्य के हार मे पिरोकर हृदय में धारण करने योग्य बना देती है।

मै जानता हूँ कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियो को जिन सृजनात्मक तथा सास्कृतिक शक्तियों के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की आशा थी, वैसा नहीं हो सका है। गाधीवाद का सास्कृतिक चरण अभी पगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है। किन्तु हम सदियों की अव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से अभी-अभो मुक्त हुए है। हमें अपने को नवीन रूप मे पहचानने, नवीन

परिस्थितियों मे अपना उत्तरदायित्व समझने, और विश्व-क्रान्ति की गम्भीरता को ठीक-ठीक आँकने मे अभी समय लगेगा। मै चाहता हूँ कि पश्चिम के देश, अपने राष्ट्रीय स्वार्थों तथा आर्थिक स्पर्धाओ के कारण, जिस प्रकार अभी तक विश्व-सहार के यंत्रालय बने हुए है, भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श मे बँधकर, तथा अपने बहिरन्तर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य मे संगठित कर, महासृजन एव विश्व-निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय, और हमारे साहित्यिक तथा बुद्धिजीवी, अभिजातवर्ग की सकीर्ण नैतिकता तथा निम्न वर्ग की दैन्य-पीडा को गाथा गाने एव मध्यवर्ग के पाठकों के लिए उसका कृत्रिम चित्रण करने मे ही अपनी कला की इतिश्री न समझ लें, प्रत्युत युग-संघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता तथा सास्कृतिक चेतना के सस्पर्शों एवं सौन्दर्य-बोध को भी अपनी कृतियों मे अभिव्यक्ति देकर नवयुग के ज्योतिवाहक बन सके।

मै जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा असन्तोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूँ, क्योकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है, किन्तु युग-सचरण को वर्ग-सचरण मे सीमित कर देना उचित नही समझता। इस धरती के जीवन को मै सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है। गम्भीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नही जान पडता कि यह जीवन अविद्या का ही क्षेत्र है, जहाँ मन तथा आत्मा के सचरण गौण तथा अज्ञान के अधीन है। यह केवल तुलनात्मक तथा बाह्य दृष्टिकोण है, जो हमारे ह्रास-युग का सूचक तथा विश्व-असगठन का द्योतक है। सामाजिक दृष्टि से मै असगठन को माया तथा सगठन (जिसमे बहिरन्तर दोनो सम्मिलित है) को प्रकाश या सत्य कहता हूँ।

अतएव इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग मे मुझे एक स्वस्थ सास्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरो को नही अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलनेवाला समतल चरण है; हमे अपने मन तथा आत्मा के शिखरो की ओर चढनेवाले एक ऊर्ध्व संचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौन्दर्य, सामजस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके, अन्यथा पृथ्वी के गहरे पक मे डूबा हुआ मनुष्य का पाँव ऊपर उठकर आगे नही बढ सकेगा। अणुबम के आगमन के बाद हमारे अग्निभुज सैनिक, शक्तिकामी राजनीतिक तथा अधिकार-क्षुब्ध लोक-सगठनो का सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिसक सस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा एव जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलकर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग (ऊर्ध्व पथ) खोजना होगा। एटम बम ने उसके

भीतर के आदिम हिंस्र जीव को जैसे सदैव के लिए निहत कर दिया है; वह बलि की तरह अवचेतन की राह से फिर पाताल-प्रवेश करने को उद्यत है।

अपने बहिर्मुख (इन्द्रियो के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ मे आशा-आकाक्षाओ, सुख-दु ख तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते है एव राजनीतिक-आर्थिक प्रणालियो द्वारा उसमे सामूहिक सतुलन स्थापित करते है, उसी जीवन-तत्त्व मे हम अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनन्द, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप मे अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते है, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सास्कृतिक आन्दोलन द्वारा ही कर सकते है—विशेषत. जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा सस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओ का ज्ञान अधूरा ही रह जायगा और हम प्रवृत्तियो के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौन्दर्य-गौरव से मडित नही कर सकेगे। राजनीतिक लोकतंत्र जहाँ हमारे भोग के सचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सास्कृतिक विश्व-द्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

सस्कृति शब्द का प्रयोग मै व्यापक ही अर्थ मे कर रहा हूँ। सस्कृति को मै मानवीय पदार्थ मानता हूँ, जिसमे हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनो धरातलो के सत्यो का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना-शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओ की छायाएँ गुम्फित है। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तर-सामजस्य ग्रहण कर लेता है। वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व सचरण है, न राजनीति की तरह समतल, वह इन दोनो का मध्यवर्ती पथ है, जिसमे दोनो के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वो के बहिरन्तर का वैभव मानवोय व्यक्तित्व की गरिमा धारण कर लेता है। अतएव संस्कृति को हमे अपने हृदय की शिराओ मे बहनेवाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओ में सगुण, सूक्ष्म सगठन या मन:सगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दो का प्रयोग किया है।

संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के संगठन है। संस्कृति को मात्र वर्ग-वाद की दृष्टि से देखना एव बाह्य परिस्थितियो पर अवलम्बित अतिविधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है, क्योकि उसके मूल मन से कही गहरे, बाहरी परिस्थितियो के अतिरिक्त, भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियो मे भी है। इस सम्बन्ध मे अपने 'कला तथा सस्कृति' नामक अभिभाषण का एक अश यहाँ उद्धृत करता हूँ.—"हम कला का मूल्याकन सत्य, शिव, सुन्दर के मानो से करते है। सत्य, शिव, सुन्दर से तत्त्वत: हमारा वही अभिप्राय है, जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा-काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है; क्योकि हम सत्य, शिव, सुन्दर को

क्षुधा-काम (जीवन-आकांक्षाओ) ही के भीतर खोजते है, जिनसे हम बाह्य परिस्थितियो के जगत् से सम्बद्ध है, और इस दृष्टि से क्षुधा-काम हमारी भीतरी स्थूल परिस्थितियाँ हुईं। सत्य, शिव, सुन्दर के रूप मे हम अपनी इन्ही बहिरन्तर की परिस्थितियों मे सन्तुलन स्थापित करते है। आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणो मे केवल धरातल का भेद है, और ये धरातल आपस मे अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए है। सत्य, शिव, सुन्दर संस्कृति तथा कला का धरातल है, क्षुधा-काम प्राकृतिक आवश्यकताओ का। जिस सत्य को हम स्थूल धरातल पर क्षुधा-काम कहते है, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य, शिव, सुन्दर। एक हमारी सत्ता की बाहरी भूख-प्यास है, दूसरी भीतरी। यदि सस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओ के सत्य से बिलकुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होती, तो उनकी हमारे लिए उपयोगिता ही क्या होती? वे केवल स्वप्न तथा अतिकल्पना-मात्र होतीं। साथ ही यदि हमारी क्षुधा-काम की वृत्तियाँ संस्कृत होकर सत्य, शिव, सुन्दर के धरातल पर न उठ जाती, वे मानवीय नही बन सकती। हमारी सामाजिक मान्यताएँ इसी मानवीकरण अथवा ऊर्ध्व विकास के सिद्धान्त पर अवलम्बित है और मानव-सभ्यता का लक्ष्य अन्ध-प्रवृत्तियों के पशुजीवन मे मानवीय सन्तुलन स्थापित करना ही रहा है। अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ ले कि ये दोनो धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्त्वत. अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक है। . इसलिए भविष्य मे हम जिस मानवता अथवा लोक-सस्कृति का निर्माण करना चाहते है, उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनो ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनो ही शक्तियो से काम लेना चाहिए। ऐसा नही समझना चाहिए कि स्थूल के सगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा, जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप सन्तुलन आ जायगा, जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अति-वैयक्तिकता तथा अतिसामाजिकता के दुराग्रह मात्र है।......

"आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा संघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व—अथवा समाज—के ही रूप मे सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ के भीतर ही युग-समस्याओ (राजनीतिक अर्थ मे) तथा मानव-जीवन की समस्याओ (सास्कृतिक अर्थ मे) का समाधान खोजता है और कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ मे इन दोनो किनारो पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नही मिलेगा। जो जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म-स्थूल-सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूप से इस प्रकार नही समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व

के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व-रूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, और जीवन-सौन्दर्य के स्रष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप मे देखिए। एक राजनीति के क्षेत्र का सिपाही भले ही उसे द्वन्द्व-तर्क से संचालित, आर्थिक प्रणाली से प्रभावित उत्पादन-वितरण के सघर्ष के रूप मे देखे, आप उसे मानव-जीवन के प्रवाह के रूप मे देखिए, उसमें मानव-हृदय का स्पन्दन सुनिए और उससे मनुष्य की सास्कृतिक प्रसव-वेदना का अनुमान लगाइए। आप क्षणभगुर के अवगुठन को हटाकर मानव-चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गो-गिरोहों के बीच, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो, शक्ति-लोलुप संगठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलनेवाले सघर्ष के प्रचारक-मात्र बन जायँगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएँगे।"

मैं यह विद्या-विनम्र होकर नही लिख रहा हूँ कि मुझे अपनी किसी भी कृति से सन्तोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियो के बीच का असामंजस्य है। मैंने परिस्थितियों की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नहीं किया है, जैसा कि मेरी रचनाओ से प्रकट है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनाएँ है, जिनमे मेरी 'ज्योत्स्ना'-काल की चेतना सम्भवत. अधिक प्रस्फुटित रूप मे निखर आयी है। 'ग्राम्या' सन् '४० मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल, विशेषकर सन् '४२ के आन्दोलन का समय, जब कि द्वितीय विश्वयुद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मनःस्थिति के लिए अत्यन्त ऊहापोह का युग था।

मेरी पिछली मान्यताएँ भीतर ही भीतर ध्वस्त हो चुकी थी और नवीन प्रेरणाएँ उदय हो रही थीं; 'ग्राम्या' की 'सास्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओं तथा सन् '४२ के उत्तरार्द्ध मे प्रकाशित मेरी 'लोकायन' की योजना में उन मानसिक हलचलों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार स मेरी मनःक्लान्ति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हे मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था, मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्ही दिनो मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (द लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट के सम्बन्ध मे मद्रास

जाना पड़ा और मुझे पाडिचेरी मे श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविन्द आश्रम के निकट सम्पर्क मे आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमे सन्देह नही कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन-दर्शन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योगयुक्त (अन्त सगठित) वातावरण के प्रभाव से ऊर्ध्व मान्यताओ-सम्बन्धी मेरी अनेक शकाएँ दूर हुई है। 'स्वर्ण-किरण' और उसके बाद की रचनाओ मे यह प्रभाव, मेरी सीमाओ के भीतर, किसी न किसी रूप मे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि मै 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे निवेदन कर चुका हूँ, मै अपने युग, विशेषत: देश, की प्राय: सभी महान् विभूतियो से किसी-न-किसी रूप मे प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा-पल्लव'-काल मे मुझपर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है; 'युगान्त' और बाद की रचनाओ मे महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का; महात्माजी के देह-निधन के बाद की रचनाएँ, जो 'युगपथ' में संगृहीत है, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा की परिचायक है। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ 'युगपथ' मे प्रकाशित हो रही है। किन्तु इन सबमे जो परिपूर्ण एवं सन्तुलित अन्तर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन मे मिली, और इस अन्तर्दृष्टि को मै इस विश्व-सक्रान्ति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। मैंने अपने समकालीन लेखको तथा विशिष्ट व्यक्तियो पर समय-समय पर स्तुति-गान लिखने मे सुख अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाएँ, भेट-रूप मे, 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' तथा 'युग-पथ' मे पाठको को मिलेगी।

श्री अरविन्द को मै इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि-अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मडित हो उठा है, मुझे दूसरा कही देखने को नही मिला। विश्व-कल्याण के लिए मै श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बडी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु-शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत-विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवन-मृत मानव-जाति के भविष्य के लिए आत्म-पराजय तथा अशान्ति ही का वाहक बन जाता। मै नहीं कह सकता, संसार के मनीषी तथा लोकनायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्या-त्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे, अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनाएँगे।

यह मेरे कवि-हृदय की विनीत अपर्याप्त श्रद्धाजलि-मात्र है। ये थोड़े-से शब्द मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे तरुण बुद्धिजीवी श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन से भारत की आत्मा का परिचय तथा मानव और विश्व के अन्तर्विधान का अधिक परिपूर्ण ज्ञान

प्राप्त कर लाभान्वित हो सके। आज हम छोटी-छोटी बातों के लिए पश्चिम के विचारको का मुँह जोहते है, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्मवाक्य बन जाते है और हम अपनी इतनी महान् विभूति को पहचान भी नहीं सके हैं, जिनके हिमालय-तुल्य मन.शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विन्ध्य की चोटियों के बराबर भी नही ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेडियाँ तो किसी प्रकार कट गई, किन्तु मानसिक दासता की शृंखलाएँ अभी नही टूटी है।

सहस्रों वर्षो से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस्-मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन मे मार्क्स तथा ऐंगिल्स के विचार-दर्शन की गूँजे बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगनेवाले झीगुरो की रुँधी हुई झनकारो से अधिक स्पन्दन नही पैदा करती। ऐंगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरण स्वरूप, "नैपोलियन ५ मई को मरा है', तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष', जो कण-कण जोड़ कर विकसित होता है, अथवा ऐसे इतर सिद्धान्तो की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्त्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नही रखता। जिस मार्क्स तथा ऐंगिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धि-जीवी नही थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सागोपाग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊँट तथा हिमालय के शिखर में कितना अन्तर और क्या भेद है।

मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष मे नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतत्र के रूप मे मूर्त्त) आदर्शवाद मे है, जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नही है। वर्गयुद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य मे पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जाएगा।

हीगल के द्वन्द्व-तर्क मे बिम्बित पश्चिम के मनोजगत् का अन्तर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युग-प्रवर्तको का मानव-चिन्तन, ऐंगिल्स के अनुसार, 'अपनी युग सीमाओ से बाहर' अवश्य नही जा सका है। मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरो के बल खड़ा नही किया; यूरोप का मनोद्वन्द्व ही तब अपने आर्थिक-राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर 'युद्ध देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था, जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्गयुद्ध के सिद्धान्त के रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में, अपने 'सरवाइवल ऑव दी फिटेस्ट' के सिद्धान्त को (जिसकी तुलना मे ईसा की सास्कृतिक चेतना की द्योतक 'ब्लेसेड आर द मीक फार दे शेल इनहेरिट द अर्थ' आदि सूक्तियाँ रखी जा सकती है)

जीव-विकास-क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने, यंत्र-युग के आर्थिक चक्रो से जर्जर सर्वहारा का पक्ष लेकर, वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वन्द्व-तर्क से परिचालित ऐतिहासिक विकास-क्रम मे (युग-सकट के समाधान-रूप मे)। हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए है, किन्तु इनकी मन:शक्ति ही इनकी सीमाएँ भी बन गईं।

मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-सन्तुलित) जनतंत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-सयोग मानता हूँ, जैसा कि मैं अपनी रचनाओं मे भी संकेत कर चुका हूँ :—

> "अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से नि.स्पृह निष्प्राण
> उसे प्रतिष्ठित करने जग मे दिया साम्य ने वस्तु विधान !" (युगवाणी)
> "पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तन्त्र में वितरित,
> प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित !' 'स्वर्णकिरण'

इत्यादि।

ऐसा कहकर मै स्वामी विवेकानन्द के सार-गर्भित कथन, 'मै यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके, क्योकि ऊर्ध्व-संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है, और वर्गहीनता का अर्थ केवल अन्तरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को वर्गहीन बनने के लिए समतल प्रसारगामी के साथ ऊर्ध्व विकासगामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकान्त आवश्यकता है।

हमारे युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है अन्त:संश्लेषण तथा बहि: सन्निधान की कमी। हमारा युग-मानव अभी अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक सचय को परस्पर संयोजित नही कर पाया है। उसका मन बाह्य विश्लेषण से आक्रान्त तथा अन्त सश्लेषण से रिक्त है। इसमें सन्देह नही कि धीरे-धीरे मानव-चेतना विश्व-क्रान्ति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व-सास्कृतिक सगठन अथवा विश्व-सास्कृतिक द्वार की ओर अग्रसर हो सकेगी, जिसमें इस युग का समस्त भौतिक-मानसिक वैभव संगृहीत एवं समन्वित हो सकेगा। किन्तु किपलिंग के कुछ आधुनिक भारतीय सस्करण (यद्यपि किपलिग के दृष्टिकोण के बारे में यह केवल लोक मत मात्र है) भौतिकता (पश्चिम का राजनीतिक-आर्थिक जीवन-सम्बन्धी संघर्ष तथा वर्गहीन लोकतंत्र) तथा आध्यात्मिकता (पूर्व के अन्तर्जीवन-संघर्ष-सम्बन्धी अनुभूतियाँ तथा अन्तर्मुख मनोयंत्र) का समन्वय असम्भव मानते है, जबकि आध्यात्मिकता प्रारम्भ से ही 'पद्भ्यां पृथिवी' घोषित करती आयी है।

पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं की जीवन-अनुभूतियों को, जिन्हें ऐतिहासिक विकास के लिए मानव-अदृष्ट (भावी) का भौगोलिक वितरण कहना अनुचित न होगा, निकट भविष्य में विश्व-सन्तुलन तथा बहिरन्तर संगठित भू-चेतना एवं भू-मन के रूप मे संयोजित होना ही होगा। पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, जो अन्तर्मन तथा अन्तर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अन्तर्विधान में (काल में) अन्तर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्-प्रसरित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सास्कृतिक चेतना का स्वर्गोन्नत सेतु पूर्व तथा पश्चिम के सयुक्त छोरो पर झूलकर धरती के जीवन एव विश्व-मन को एक तथा अखंड बना देगा। तब दोनों के, आज को दृष्टि से, विरोधी अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार में डूब जायँगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरों की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौन्दर्य-गरिमा वहन कर सकेगी।

आज के संक्रान्ति-काल मे मै साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-सघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर-पट से आच्छादित मानव-हृदय के मच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सास्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अन्तःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-सगीत मे झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृगजल-मरु में भटकी हुई अन्त शून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अन्तर्जगत् तथा अन्तर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके; एवं इस युग के वादो को संकीर्ण भित्तियो मे बन्दी, युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में, जिसकी प्रत्येक श्वास मे घृणा-द्वेष के विष का संचार हो रहा है, स्वाभाविक प्रेम का स्पन्दन तथा देवत्व का सगीत जाग्रत कर सके—विशेषकर जब इस युग मे मानव-हृदय इतना क्षुधित, चेतना-शून्य तथा, विकसित न हो सकने के कारण, निर्मम हो गया है कि दो विश्व-युद्धों के हाहाकार के बाद भी आज मनुष्य तीसरे विश्वव्यापी अणु-सहार के लिए उद्यत प्रतीत होता है। कवि की विश्व-प्रीति एवं मानव-प्रेम की वंशी को आत्मकुठा के प्रतीकार के लिए, व्यक्तिगत घृणा-द्वेष तथा जनोद्धार के आवरण में अनीति के प्रचार के लिए, लोकहितैषिता के छद्मवेश में शक्ति-लालसा तथा पद-अधिकार के लिए एवं वाद-पीडित. बौद्धिक दुराग्रह से उत्तेजित, विश्वव्यापी लोक-संहार के लिए तोपो के अनुर्वर कृत्रिम गर्जन में बदलने का दु प्रयास करना मुझे सृजन-प्राण साहित्य-जीवी का कर्तव्य नही जान पड़ता। सौन्दर्यस्रष्टा एवं जीवनद्रष्टा चाहे वाल्मीकि हो या गोर्की, वह सेना-नायक या सैन्य-वाहक नहीं होता, वह सन्देश या युग-सकेत-वाहक ही होता है। वह भावात्मक चेतना का ही सृजन गम्भीर शंख-घोष करता है।

मै केवल इस युग के मान्यताओं-सम्बन्धी संघर्ष एवं युगक्रान्ति के भीतरी पक्ष पर

प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहा हूँ जो मानव-चेतना के नवीन सास्कृतिक आरोहण का सूचक है। इस दृष्टि से इस युग के समस्त वाद-विवाद नवीन लोक-चेतना के स्फुलिग एव अश सत्य-मात्र हैं। मानव के इस विकासोन्मुख व्यक्तित्व को, निकट भविष्य मे, जीवन, जो सबसे बडा स्रष्टा तथा कलाकार है, अपने रहस्य-स्पर्शो से सँवार कर नवीन मानवता की सजीव शोभा मे मूर्तिमान् कर देगा। बुद्ध, मसीहा तथा मोहम्मद जिस स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, उस स्वप्न को हमारा विद्युत् तथा अणु का युग वास्तविकता प्रदान कर सकेगा और धीरे-धीरे हम आज के युग-सघर्ष के व्यापक स्वरूप को समझ सकेगे एव आज के वर्गयुद्ध के रूप मे हमे जिस युग-संचरण का पूर्वाभास मिलता है, उसके भीतर निहित मनुष्य की अन्तश्चेतना का प्रयोजन हमारे युग-मन मे अधिक स्पष्ट हो जायगा और इसमे भी सन्देह नहीं कि यह मात्र बाहर का रोटी का युद्ध शीघ्र ही मन के रणक्षेत्र मे नवीन मान्यताओं के देवासुर-सघर्ष का रूप धारण कर एव मानव-चेतना तथा अस्तित्व के अन्तरतम स्तरों को आन्दोलित कर, मानव-हृदय को स्वर्ग-शोणित से स्नानपूत तथा नवीन चेतना के सौन्दर्य और मानवता की गरिमा से मंडित कर देगा। अस्तु,

'स्वर्ण-किरण' मे मैंने अन्तर्जीवन, अन्तश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्त्व इसलिए भी दिया है कि इस युग मे भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हे बिलकुल ही भूल गये हैं। वैसे सामान्यतः उसमे बहिरन्तर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गयी है। जैसा कि —'भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नही सयोजित!' 'बहिरन्तर के सत्यों का जगजीवन मे कर परिणय', 'बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित'—आदि अनेक पंक्तियों में अनेक रूप से मिलेगा। युग्म-चेतना-सम्बन्धी मान्यताओ पर भी मैंने स्वर्ण-किरण' के अन्तर्गत 'स्वर्णोदय' के अन्तिम भाग में तथा 'स्वर्ण-धूलि' की 'मानसी' मे विशेष रूप से प्रकाश डाला है, जिससे पाठको पर मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा।

'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' में मैंने यत्र-तत्र छन्दो की सम-विषम गति की एक-स्वरता को बदलने की दिशा मे भी कुछ प्रयोग किये है, जिससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दो की गति में अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है; यथा—

'सुवर्ण किरणों का झरता निर्झर' मे 'सुवर्ण' के स्थान पर 'स्वर्णिम' कर देने से गति में संगति तो आ जाती, पर सुवर्ण किरणो का प्रकाश मन्द पड जाता। इसी प्रकार "जल से भी कठोर धरती में' 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था, 'मेरे ही असंख्य लोचन' के बदले..अगणित लोचन, 'मानव भविष्य हो शासित' के बदले... भावी हो शासित, 'दैन्यो में विदीर्ण मानव' के स्थान पर विक्षत अथवा खडित मानव हो सकता था,—और ऐसे ही, अनेक उदाहरण दुहराए जा सकते हैं; किन्तु मैंने सम-

विषम-गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्त्व देना उचित समझा है। इस युग में जब हम ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छन्द लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में यति को मानते हुए सम-विषम की गति में इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में स्वरपात का सौन्दर्य आ जाता है। इन रचनाओ में मैंने ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है; यथा—कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि। ह्रस्व मात्रिक तुक अधिक सूक्ष्म होने से एक प्रकार से छन्द-प्रवाह में घुल-मिल कर खो जाते हैं। गीतों को छोड कर निबन्ध एवं इतर काव्य में मैंने इस प्रकार के सूक्ष्म या नम्र अन्त्यनुप्रास से ही अधिक काम लिया है,—गीतों में ह्रस्व-दीर्घ दोनों प्रकार के तुकों से।

'उत्तरा' मे मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युगजीवन-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-श्रृंगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना-गीत संगृहीत हैं। 'उत्तरा' की भाषा 'स्वर्ण-किरण' की भाषा से अधिक सरल है; उसके छन्दों में मैंने उपर्युक्त विचारों तथा प्रेरणाओ को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अंग हैं। 'धनिक श्रमिक मृत'—आदि प्रयोग मैंने व्यक्तियों या संगठनों के लिए नहीं, युग-प्रतीकों अथवा परिस्थितियो के विभाजनों के लिए ही किये है, जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टियों से वाछनीय है।

अन्त में मै अपने स्नेही पाठको से निवेदन करूँगा कि वे मेरी रचनाओं को इसी सांस्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप मे ग्रहण करें और 'युग विषाद का भार वहन कर तुम्हे पुकारूँ प्रतिक्षण' जैसी भावनाओ को, 'आओ प्रभु के द्वार!' की तरह, जन-विरोधी न समझ लें। ऐसी पुकारों में व्यक्ति के निजत्व का समावेश अवश्य रहता है, पर ऐसी किसी भी सामाजिकता को कल्पना मै नही कर सकता, जिसमें व्यक्ति के हृदय का स्पन्दन रुक जाय और न शायद दूसरे ही करते होंगे।

मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रान्ति का भी पक्षपाती हूँ, जैसा कि मै ऊपर संकेत कर चका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खडे है, जिसके निचले स्तरो पर धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सास्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मै जाग्रत्, चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह सम्भव न हो सका, तो क्रान्ति का परिस्थितियों द्वारा सगठित सत्य तो भूकम्प, बाढ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?

"कौन रोक सकता उद्वेग भयंकर,
मर्त्यो की परवशता, मिटते कट-मर!"

अतएव मेरी रचनाओं मे पाठकों को धरा-शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ मिलेगी। अपनी श्लक्ष्ण कल्पना वाणी द्वारा जन-युग के इस हाहारव मे मैंने मनीषियों तथा साहित्य-प्रेमियों का ध्यान मानव-चेतना के भीतर सृजन-शक्तियो की इन सूक्ष्म क्रीडाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है, जिससे हम आज की जाति-पाँति-वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक-राजनीतिक आन्दोलनो से कम्पित धरती को उन्नत मनुष्यत्व में बाँध कर विश्व-मन्दिर या भू-स्वर्ग के प्रांगण में समवेत कर सकें। मेरे गीतों का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नही है। वे मनुष्य के अन्तर्जगत् तथा भविष्य की अस्पष्ट झाँकियाँ-मात्र हैं और नवीन मानव-चेतना के सिन्धु में मेरी वाणी के स्वप्न अवगाहन अथवा स्वप्न-निमज्जन मात्र हैं।

इस भूमिका के रूप में मैंने अपने विचारो को उनके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार के मोह के कारण नही दिया है—केवल पाठको की सुविधा के लिए अपनी इधर की रचनाओ की पृष्ठभूमि का एक रेखाचित्र मात्र खीच दिया है। अपनी त्रुटियों के लिए मैं उनसे विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना करता हूँ।

(जनवरी १९४९) (उत्तरा से)

परिदर्शन

"रश्मिबन्ध" पहला ही संकलन है जिसमे मेरी 'वीणा' से लेकर 'वाणी' तक की चुनी हुई रचनाएँ संगृहीत है। इसके छोटे आकार में मेरी वाणी केवल इंगितों द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त कर सकी है; फिर भी, चयन की दृष्टि से, मुझे विश्वास है, यह किरणों का पुलिन्दा, अपने सतरंग-वैभव से पाठकों का ध्यान आकर्षित कर, अपना नाम सार्थक कर सकेगा।

अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश करने के लिए कवि या कलाकार कहाँ से, कैसे, प्रेरणा ग्रहण कर 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' का कार्य आरम्भ करता है, यह बतलाना कठिन है। सम्भवतः तब प्रेरणा के स्रोत भीतर न होकर अधिकतर बाहर ही रहते हैं। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से ही किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होकर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेता है। जब मैंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था, तब मुझे भी ज्ञात नही था कि काव्य की मानव-जीवन के लिए क्या उपयोगिता या महत्ता है! न मै यही जानता था कि उस समय काव्य-जगत् मे कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थी। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के कवियो की कृतियो ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य से स्पर्श किया और उसमे एक प्रेरणा की शिखा जगा दी। उसके प्रकाश मे मै भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानों का चयन एवं सग्रह करने लगा। यह ठीक है कि दीपशिखा जैसे तद्वत् दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है, उस प्रकार पिछली पीढी की काव्य-चेतना मेरे भीतर ज्यो की त्यो नही उतर आई। मेरे मन ने अपनी रुचि के अनुरूप उसका संस्कार कर उसमे अपनेपन की छाप लगा दी।

अपने काव्य-जीवन पर दृष्टिपात करने पर मेरे भीतर यह बात स्पष्ट हो उठती है कि मेरे किशोर-प्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है जिसकी गोद मे पलकर मै बड़ा हुआ हूँ। मेरे भीतर ऐसे सस्कार अवश्य रहे होगे, जिन्होने मुझे कवि-कर्म करने की प्रेरणा दी, किन्तु उस प्रेरणा के विकास के लिए स्वप्नों के पालने की रचना पर्वत-प्रदेश की दिगन्त-व्यापी प्राकृतिक शोभा ही ने की, जिसने छुटपन से ही मुझे अपने रुपहले एकान्त मे एकाग्र तन्मयता के रश्मि-दोल मे झुलाया, रिझाया तथा कोमल कठ वनपाखियो के साथ बोलना-कुहुकना सिखलाया। प्रकृति-निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम मेरे स्वभाव के अभिन्न अंग ही बन गये है, जिनसे मुझे जीवन के अनेक सकट क्षणो मे अमोघ सान्त्वना मिली है।

कौसानी की उस जुगनुओं की जगमगाती हुई एकान्त घाटी का अवाक् सौन्दर्य मेरी

रचनाओं में अनेक विस्मय-भरी उद्भावनाओं में प्रकट हुआ है :

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा,
वह अपनी वय बाली में !"—

ऊषा, सन्ध्या, फूल, कोपल, कलरव, मर्मर, ओसों के वन और नदी-निर्झर मेरे एकाकी किशोर-मन को सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं और सौन्दर्य के अनेक सद्य स्फुट उपकरणों से प्रकृति की मनोरम मूर्ति रचकर, मेरी कल्पना, समय-समय पर, उसे काव्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करती रही है। प्रस्तुत संग्रह की 'हिम-प्रदेश' शीर्षक रचना में कौसानी का वर्णन इस प्रकार आया है—

"आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह मरकत मणि कण
श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्म-समर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरों से
आभाएँ बरसातीं वैभव,
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज
दिव्य रूप का करता अनुभव !"

'हिमाद्रि' शीर्षक रचना मे भी प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेक रूपों का चित्रण मिलेगा:—

"मेघो की छाया के सँग-सँग,
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर उडता चंचल
चित्र तितलियो का कुसमित वन !
रँग-रँग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों मे घन !"

'मेरा रचना-काल' तथा 'मै और मेरी कला' आदि शीर्षक अपने निबन्धों में मैंने कवि-जीवन को प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है : "तब मै छोटा-सा चंचल-भावुक किशोर था, मेरा काव्यकंठ अभी नहीं फूटा था। पर, प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए, मेरे बिना जाने ही, जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय मे वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी चुप्पी अंकित कर चुकी

थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरो में बज उठी। पहाडो पेडों का क्षितिज न जाने कितने ही हलके-गहरे रंगो की कोपलो और फूलों मे मर्मर गुजन भरकर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगन्धित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला' की 'मधुबोली सी-अपने हृदय की उस गुजार को मैंने 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह मे 'यह तो तुतली बोली मे है एक बालिका का उपहार' कहा है। पर्वत-प्रदेश के उज्ज्वल-चंचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सम्मोहन का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरो की तरह उठने लगी थी, जिन पर टिका हुआ रेशमी आकाश, विशाल पक्षी की तरह, अपने नि.स्वर नील पख फैलाए प्रतिक्षण जैसे उडने को प्रस्तुत लगता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना-पट पर रगीन रेखाएँ खीच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौध कर चुकी थी, फेनो के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश, एक स्वर्गोन्मुख उदात्त आदर्श तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तप:पूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"

आगे चलकर अपनी 'हिमाद्रि' शीर्षक रचना मे मैंने अपनी इस अनुभूति को इस प्रकार वाणी दी है:

"शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव-आत्मा कर दी ज्योतित
हे असीम आत्मानुभूति मे लीन
ज्योति शृंगो के भूभृत्!"

.. ..

"सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अन्तर्जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित!"

सन् १९१८ से '२० तक की मेरी अधिकाश रचनाएँ 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। 'वीणा'-काल मे मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओ को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। 'वीणा' मे प्रकाशित 'प्रथम रश्मि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था। सन् १९१९ की जुलाई मे मै कालेज मे पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से प्रायः दस साल तक प्रयाग ही मे रहा। यहाँ मेरा काव्य-सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियो से मैंने बहुत-कुछ सीखा। मेरे मन मे शब्द-चयन और

ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ—'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का आरम्भ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्राजल तथा परिपक्व रूप मे हुई है। 'वीणा' की विस्मयभरी रहस्यप्रिय बालिका अधिक मासल, सुरुचि-सुरंगपूर्ण बनकर, प्राय: मुग्धा युवती का हृदय पाकर, जीवन के प्रति अधिक सवेदनशील होकर, 'पल्लव' में प्रकट हुई है। इस प्रकार प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही मैं काव्य के भाव-विशद सौन्दर्य-प्रासाद में प्रवेश पा सका।

'पल्लव' की छोटी-बडी अनेक रचनाओ मे प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई तथा भावना के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे मेरे उस काल के हृदय-मन्थन तथा बौद्धिक संघर्ष का विशाल दर्पण-सी बन गयी है, जिसमे 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास तथा जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियो के प्रति मेरा दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित है। इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन मे 'परिवर्तन' के रचना-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। 'परिवर्तन' उस अनुसन्धान का केवल एक प्रारम्भिक भावोच्छ्वास-मात्र है।

'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम 'पल्लव' को रचनाओ मे भावना के सौन्दर्य को माँग बन गया है और प्राकृतिक रहस्य को भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गयी है। 'वीणा' की रचनाओ मे जो स्वाभाविकता मिलती है, वह 'पल्लव' मे कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन मे बदल गयी है। 'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग मे लिखी गयी है। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियो ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जडीभूत उनकी वास्तविकता मे सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। इस जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखा चित्त को आकर्षित करने लगी। मेरे मन मे वे सस्कार धीरे-धीरे सचित तो होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओ मे वे मुखरित नही हो सके। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावादी अभिव्यंजना की सीमाएँ है। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रान्त उस भावना की पुकार थी जो बाहर की ओर राह न पाकर भीतर की ओर स्वप्न-सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही कल्पना द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' को प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' मे विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुजन'-काल की रचनाओं में जीवन-विकास के सत्य पर मेरा विश्वास प्रतिष्ठित हो चुका है:

"सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर-सुन्दर जग जीवन !"

आदि रचनाओं मे मेरा मन युगीन वास्तविकता से ऊपर उठकर स्थायी वास्तविकता के विजय-गीत गाने को लालायित हो उठता है और उसके लिए आवश्यक साधना को अपनाने की तैयारी करने लगता है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' का अनुभव भी होनेलगता है और वह अपनी इस आकाक्षा से व्याकुल रहने लगा है।

'गुजन' मे धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुडकर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे मे गुनगुनाना सीखा। अपने भीतर मुझे अधिक नही मिला। व्यक्तिगत आत्मोन्नयन के सत्य मे मुझे तब कुछ भी मोहक, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण नही दिखाई दिया। मैंने जीवन-मुक्ति के लिए छटपटाती हुई अपनी जीवन-कामना तथा राग-भावना को 'ज्योत्स्ना' के रूपक में अधिक व्यापक, सामाजिक, अवैयक्तिक तथा मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर व्यक्तिगत जीवन-साधना के प्रति—जिसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'गुजन' मे मिलती हैं—विद्रोह प्रकट किया और अपने परिवेश की सामाजिक चेतना से असन्तुष्ट होकर, एक अधिक संस्कृत, सुन्दर एव मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया।

'ज्योत्स्ना' में मैंने नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव'-कालीन जिज्ञासा तथा भावना के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगान्त' मे मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा की ओर भी सक्रिय हो उठता है और विकासकामी हृदय क्रान्तिकामी भी हो जाता है। 'युगान्त' की क्रान्ति-भावना मे आवेश है, और है नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। नवीन सत्य के प्रति मेरे मन का आकर्षण अधिक वास्तविक बनकर नवीन मानवता के रूप मे प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य क्रान्ति के साथ ही मेरा मन अन्तःक्रान्ति का, नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक उपलब्धि का भी आकांक्षी बन जाता है।

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण"—मे जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आवेश है, वहाँ—"कंकाल जाल जग मे फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली"—में रिक्त डालों को नवीन जीवन-पल्लवों से सौन्दर्य-मडित करने का भी आग्रह है।

"गा, कोकिल, बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन" के साथ ही मैंने
"रच मानव के हित नूतन मन...
हो पल्लवित नवल मानवपन"—भी कहा है।

यह क्रान्ति-भावना, जो आगे चलकर साहित्य मे प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई, मेरी युगान्त-कालीन रचनाओ मे 'ताज' 'कलरव' आदि मे अभिव्यक्त हुई है और मानवता-वाद की भावना मेरी 'मानव' 'मधुस्मृति' आदि रचनाओ मे। 'बापू के प्रति' शीर्षक उस समय की रचना गाधीवाद की ओर मेरे झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' मे भौतिकवाद अध्यात्म-वाद के समन्वय का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे मेरी क्रान्ति-भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नही होती, उसे आत्मसात् कर प्रभावित करने का भी प्रयत्न करती है :

> "भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
> जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन, अम्लान!"

'मुझे स्वप्न दो' 'मन के स्वप्न' 'आज बनो तुम फिर से मानव' 'संस्कृति का प्रश्न' 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी समन्वयात्मक सास्कृतिक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'युगवाणी' मेरी सन्' १९३७–३८ की और 'ग्राम्या' सन् ४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य मे घुटनो के बल चलना सीख रहा था। आगे चलकर प्रगतिवाद ने जिस सकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाया, उससे अधिकांश हिन्दी-लेखक सहमत नही हो सके।

कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही, वह अपने युग को प्रभावित भी करता है। छायावादी काव्य वास्तव मे भारतीय जागरण की चेतना का काव्य रहा है। उसकी एक धारा राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध रही है, जिसकी प्रेरणा गांधी जी के नेतृत्व मे स्वतत्रता के युद्ध मे निहित रही है और दूसरी धारा का सम्बन्ध उस मानसिक-दार्शनिक जागरण की भावनात्मक तथा सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी प्रक्रियाओ से रहा है, जिसका समारम्भ औपनिषदिक विचारो तथा पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रभावो के कारण हुआ।

श्री रामकृष्णदेव के महत् जन्म में, जैसे प्रतीक-रूप में, नये भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियो से भारतीय जीवन तथा मानस मे जो एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा कार्पण्य छाया हुआ था, वह जैसे रामकृष्णदेव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने से नीचे का निर्मल जल दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मध्ययुगीन जाड्य की सीमाओ तथा कुहासों से मुक्त होकर भारतीय चेतना का उज्ज्वल मुख मनश्चक्षुओं के सामने निखरकर प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तित्वो एवं धार्मिक-नैतिक मान्यताओं की भूल-भुलैया मे खोया हुआ परम्परागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतंत्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदों की उन्मेषपूर्ण स्वयंप्रभ मंत्रदृष्टि से प्रेरणा प्राप्तकर नये आलोक-क्षितिजों मे विचरण करने लगा। इस भाव-मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम

अभिव्यक्ति, नये युग के भारतीय साहित्य मे हमे रवीन्द्रनाथ की कविता मे मिलती है। मानव-जीवन-सम्बन्धी सत्य के पिटेपिटाए शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौन्दर्यबोध तथा आनन्द की खोज मे नवीन कल्पना के सोपानों पर आरोहण करने लगी। ज्ञान, भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि सम्बन्धी पथराई हुई एकरस भावनाओ मे नवीन प्राणों तथा चेतना का सचार होने लगा। और नये युग की कला, विशेषत. कविता, नवीन भाव-ऐश्वर्य का नि.सीम आनन्द-स्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नयी चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह मे हिन्दी-कविता की भाषा को भी नवीन रूप-माधुर्य प्रदान किया और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाव-वैभव के साथ ही नवीन जीवन-संघर्ष भी लायी, जिसने एक ओर भारतीय मानस मे विचार-क्रान्ति पैदा की और दूसरी ओर राजनीतिक-क्रान्ति, जिसने सदियो से पराधीन इस भारतभूमि मे स्वतत्रता के शस्त्रहीन सग्राम को जन्म दिया और मात्र अपने सगठित मन.सकल्प से अन्त मे देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भाव-ऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य-चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एव सामाजिक आदर्शों को प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यों का आकलन तथा सृजन किया। खड़ीबोली जागरण की चेतना थी। द्विवेदी-युग जिस जागरण का प्रारम्भ था, हमारा युग उसके विकास का समारम्भ। छायावाद के शिल्प-कक्ष मे खडीबोली ने धीरे-धीरे सौन्दर्यबोध, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्तकर प्रथम बार काव्योचित भाषा का सिहासन ग्रहण किया। गद्य मे निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है। हमारी पीढी एक प्रकार से व्यापक अर्थ मे जागरण ही की पीढी रही है। हिन्दी हम लोगो के लिए मात्र भाषा ही नहीं, एक नई चेतना, नई प्रेरणा का प्रतीक बन कर आयी थी। देश मे सर्वत्र, सभी क्षेत्रों मे नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे; हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को हिन्दी ही के रूप में पहचाना था। उसी सर्वतोमुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्न मे हिन्दी का भी कठ फूटा था; उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नही छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरे लेने लगा था। इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति के रूप में—एक मानवीय सौन्दर्यबोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट हुई थी। छायावादी कविता ने सोयी हुई भारतीय चेतना की गहराइयो मे नवीन रागात्मकता की माधुर्य ज्वाला, नवीन जीवन-दृष्टि का सौन्दर्यबोध, तथा नवीन विश्व-मानवता के स्वप्नो का आलोक उँडेला। छायावाद से पहले खडीबोली का काव्य भाव तथा भाषा की दृष्टि से निर्धन ही रहा। छायावाद ने उसमे अँगडाई-लेकर-जागते-हुए भारतीय चैतन्य का भाव-वैभव भरा। विश्वबोध के व्यापक आयाम, लोकमानव की नवीन

आकांक्षाएँ, जीवन-प्रेम से प्रेरित, परिष्कृत-अहन्ता के मासल सौन्दर्य का परिधान उसने पहले पहल हिन्दी-कविता को प्रदान किया ।

यह सब छायावाद के लिए इसलिए सम्भव हो सका कि भारतीय पुनर्जागरण विश्व-सभ्यता के इतिहास के एक और भी महान् लोक-जागरण का अग बनकर आया था; विश्व-सभ्यता के इतिहास का ही नही, वह मानव-चेतना की भी एक महान् सास्कृतिक क्रान्ति के युग का समारम्भ बनकर उदय हुआ था । इसलिए छायावाद मे हमे राष्ट्रीय जागरण के मुखर गीतो के अतिरिक्त मानवीय जागरण के गम्भीर स्वप्न-मौन संवेदन-भरे स्वर तथा धरती के जनजागरण के संघर्ष-मुखर, विद्रोह-भरे स्वर भी एक साथ सुनने को मिलते है । प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावाद की ही एक धारा है । दोनों के स्वरो मे जागरण का उदात्त सन्देश मिलता है–एक में मानवीय जागरण का, दूसरे मे लोक-जागरण का । दोनो की जीवन-दृष्टि मे व्यापकता रही है–एक मे सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरे मे यथार्थ के खोज या बोध की । दोनों ही वैयक्तिक क्षुद्र अहता को अतिक्रम कर प्रवाहित हुई है; एक ऊपर की ओर, दूसरी विस्तृत धरातल की ओर । दोनो ही क्षमतापूर्ण रही है, एक अन्तर-गाम्भीर्य की, दूसरी सामाजिक गति की शक्ति से ।

छायावाद के रूप-विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अग्रेजी कवियों का प्रभाव पडा । भावना मे महात्मा जी के सास्कृतिक व्यक्तित्व तथा युग-संघर्ष की आशा-निराशा का और विचार-दर्शन मे विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो आगे चलकर, धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर, जनभूवाद तथा नवमानववाद मे परिणत हो गये । विश्ववाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियो ने आरम्भ में मुख्यत: कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंशत. शेली आदि अग्रेजी कवियों से ग्रहण किया । रवीन्द्रनाथ का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद तथा व्यक्तित्ववाद का युग था । कवीन्द्र विश्व भावना तथा लोक-मंगल को विशिष्ट मानव-व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने साहित्य में दे सके । जन-सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणि का अंग नही बन सकी थी । यंत्र-युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका काव्य ओतप्रोत है, किन्तु यत्र-युग की जनवादी सौन्दर्य-भावना का उदय तब अपने देश के साहित्य मे नहीं हो सका था । जनवादी भावना के विपरीत रवीन्द्र के विचार-दर्शन में यत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया-मात्र है । श्रीकृष्ण चैतन्य एवं वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारणकर सर्वात्मवाद बनकर निखरे है । सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय मनोविज्ञान, विकासवाद तथा नृतत्वशास्त्र की दिशा में किया है ।

कवीन्द्र महान् प्रतिभा से सम्पन्न होकर आये थे। उन्होने अपने युग के जागरण की समस्त शक्तियो का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सार-तत्त्वो का संग्रह अपने अन्तर मे कर लिया था, और अनेक छन्दो, तालों तथा लयो में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढिग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र-मधुर आघातो से जाग्रत्, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकाक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नो से मडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यत्रयुग के सौन्दर्य से मडित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनो के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय मे खोल दिया था।

इन्ही आध्यात्मिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्यबोध सम्बन्धी भावनाओ से हिन्दी मे छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गयी उनके काव्य-पदार्थ का भी उसी अनुपात मे रूपान्तर होता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, भाव से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से भूवाद, जनवाद, मानवतावाद की ओर अग्रसर होते गये। कुछ ने लेखन स्थगित कर दिया, किन्तु अधिकाश लेखको को विचारों की दृष्टि से, युग की पृष्ठभूमि ने किसी-न-किसी रूप तथा परिमाण मे अवश्य प्रभावित किया है। सत्य की खोज मे उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण तथा वैयक्तिक सामूहिक परिस्थितियो से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता को भूमि पर विचरण करने लगी। छायावादी कविता केवल रवीन्द्र-काव्य को प्रति-ध्वनि ही नही रही, उसने अपने युग-जीवन की शक्तियो से स्वतंत्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल मे हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्राय: सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गयी। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा-आकांक्षाओ का वैभव, जो विचार-सामजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूँजीवादी युग की विकसित परि-स्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव-चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क मे नहीं आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामंजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्वधर्म-समन्वय, सास्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक-सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रारम्भिक प्रेरणा ग्रहण की थी। अनेक कवि तथा कलाकारो की सृजन-कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानो से विरक्त होकर अधिक वास्तविक तथा भौतिक

धरातल पर उतर आयी और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना को जन्म देने मे सलग्न हो गयी। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोणो को प्रभावित किया उसी प्रकार फ्रायड, युग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण मे एक महान् क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलत. छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति सन्दिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा जैवी विचार-धाराओ से अधिक कम मात्राओ मे प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुठित आशा-आकाक्षाओ को अभिव्यक्ति देने के लिए सक्रान्तिकाल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

सामूहिकता एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार प्रशस्त तथा उन्मुक्त किया जा सकता है, यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सम्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमे विद्रोह-भरे अनगढ़ प्रगतिवाद के कवियों मे मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर, धीरे-धीरे, वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया, किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना अनुचित होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय भावना की प्रतिक्रियाओ से पीड़ित रहा। उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्ति वालो के प्रति विद्वेष और विक्षोभ उगलता रहा। नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर नगे-भूखे श्रमिक कृषको के अस्थि-पजरों के प्रति मध्यवर्ग के आत्मकुठित बुद्धिवादियो की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार-भरा क्रन्दन ही अधिक सुनाई पड़ने लगा। विचार-दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन-भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल तात्कालिक परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण-मात्र करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से अधिकाश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-चेतना के सरोवर-तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाड़े, ऊपर ही ऊपर हाथ-पाँव मारकर, काई-सने झागो मे तैरने वा सुख लूटने रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड उछालते हुए काव्य की आत्मा को ढँककर तथा उसकी रीढ़ को तोड़मरोड़ कर नवदीक्षितों को दिग्भ्रान्त-भर करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में धूमिल भौतिकवाद तथा वस्तुवाद बनने का प्रयत्न करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों मे भागवत या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक

जिज्ञासा की भावना रही है, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों मे जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन मे सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नही बन पायी। एक भीतरी कुहासे मे लिपटे रहे, दूसरे बाहरी धुएँ से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रगीनी एवं उपमाओ की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छन्दो की दृष्टि से सम्भवतः उन्होने अपनी लय-हीन भावनाओ तथा क्रुद्ध उद्गारों के लिए मुक्तछन्द के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाना उचित समझा, जिसका प्रवाह उनके बहिर्मुख दृष्टिकोण के अनुरूप ही असम्बद्ध, बिखरा तथा ऊबड-खाबड रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद मे सुरुचि-संस्कारिता का स्थान विकृत तथा कुत्सित ने ले लिया। छायावादी भावना का उदार वैचित्र्य सिमटकर उसम अत्यन्त सकीर्ण मतवाद मे बदल गया। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरत-पडते पर मिट्टी की गर्द-गुबार-भरी व्यापक वास्तविकता की ओर उठाये।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडडी पकडी, जो, पीछे, स्वतत्ररूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलायी। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तर्क वितर्कों मे फँसकर एक किमाकार यात्रिक सामूहिकता की ओर बढी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर-संगतिहीन भावना-लहरियो मे मुखरित, अवचेतन की रुद्ध ग्रन्थियो को मुक्त करती हुई एवं दमित-कुठित आकाक्षाओ को वाणी देती हुई, लोकचेतना के स्रोत में द्वीप की तरह प्रकट होकर, अपने पृथक् अस्तित्व पर अडिग जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमे टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्द-वैचित्र्य इसमे उक्ति-वैचित्र्य और उसके शाश्वत दृष्टिकोण का स्थायित्व क्षणिक का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा सन्देहवादिता के कारण इसकी सौन्दर्य-भावना अपने निम्न स्तर पर केचुओं-घोंघो के सरीसप जगत् से अनुप्राणित रही, जो वास्तव मे पश्चिम की आधुनिकतम ह्रासोन्मुखी सस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार छायावाद के अन्तर्गत उसकी जीवन-सौन्दर्यवादी काव्यधारा आज अपनी अतिवैयक्तिक उपचेतन-ग्रस्त भावना, आत्मदया-पीड़ित अहता तथा रूपकारिता एवं साज-सँवार-सम्बन्धी अतिआग्रह के कारण प्रयोगवाद के रूप मे विकीर्ण हो रही है। उसमे अब वह मानववादी व्यापकता, उदात्तता, वह अन्त.स्पर्शी अन्तर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकाभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के सन्देश का प्रकाश नहीं देखने को मिलता। उसमें उर्दू

शायरी की सी बारीकियों, रीतिकालीन स्वरैक्यपूर्ण चित्रणो, अत्युक्तियों, भेदोपभेदों की विचित्रताओं तथा सस्ती अहंजन्य अपसाधारणताओ के कारण सभी ओर से ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

नयी कविता इन दोषों से कुछ हद तक अपने को मुक्त कर सकी है, पर वह अधिकतर 'कला के लिए कला' वाले सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की प्रतिध्वनि-मात्र रह गयी है। इस समय उसका सर्वाधिक आग्रह रूपविधान एवं शिल्प के प्रति प्रतीत होता है। भाव-पक्ष को वह वैयक्तिक निधि या सम्पत्ति मानती है। भावना की उदात्तता, सार्वजनिक उपयोगिता एवं अर्थगाम्भीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से वह अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अमूर्त ही है। वह अपने चारों ओर की परिस्थितियो के अँधेरे तथा मानसिकता के कुहासे में कुछ टटोल-भर रही है। सत्य से अधिक उसकी आस्था क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही मे है और टटोलने के ही भावुक सुख-दुःखभरे प्रयत्न को वह अधिक महत्त्व देती है। लक्ष्य से अधिक मूल्य वह लक्ष्य के अनुसन्धान की व्यथा को देती है। इसी से उसके मानस मे रस का सचार होता है, जो उसकी किशोर प्रवृत्ति है। ऐसा भाव या वस्तु-सत्य, जिसका मानव-जीवन के कल्याण के लिए उपयोग हो सके, उसे नही रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओं के भीतर समा भी नही सकता। —वह तो साधारणीकरण की ओर बढना हुआ। उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीको, बिम्बो, शैलियो और विधाओ को जन्म दे रही है, वह अतिवैयक्तिक रुचियो की तथ्यशून्य तथा आत्ममुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय सस्कृति, विश्वमानवता आदि का प्रश्न साहित्य के सम्मुख है, उसकी ओर उसका रुझान नहीं। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थो मे अतिवैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजीकरण के विरोध में आत्मरक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारो के प्रति सचेष्ट तथा सन्नद्ध मानवता है।

छन्दों की दृष्टि से नयी कविता ने किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किये है। अधिकतर छन्दो का अंचल छोडकर तथा शब्दलय को न सँभाल सकने के कारण वह अर्थलय अथवा भावलय की खोज मे लयहीन, स्वरसगतिहीन गद्यबद्ध पक्तियों को काव्य के लिवास मे उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति को सहायता पहुँचाने मे असमर्थ प्रतीत होती है। रूप और भावपक्ष को अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर कृतिकार कुछ अंशों तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

छायावाद ने हिन्दी-छन्दो की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया था। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावादी कवियों ने छन्दो में मात्राओं से

अधिक महत्त्व उनके प्रसार तथा स्वर-संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छन्दों को अपनाते हुए भी, उनके पिटे-पिटाये यति-गति में बँधे रूप को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नये प्रयोग कर दिखाये। स्वर-सगीत का भी उनकी कविताओं में अद्भुत चमत्कार मिलता है। इन कारणो से छन्द उनके हाथों से बिलकुल नये होकर निखरे। वैसे एक ही रचना मे कम-अधिक मात्राओं की पक्तियो का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही——जिसे आज नये कवि भी महत्त्व देते हैं——पर उससे भी अधिक छन्द-सृष्टि को उनकी देन रही है, स्वर-सगीत-सम्बन्धी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय छन्दो के अतिरिक्त छायावाद-युग मे आलापोचित, अक्षर-मात्रिक मुक्त छन्दो का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। आधुनिकतम कविता मे, मुक्त छन्दो मे, प्रायः अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत् तथा विशृखल लगते हैं। छन्दों के अतिरिक्त छायावाद-युग में अलंकरण-सम्बन्धी रूढ़िगत दृष्टिकोण मे भी भारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा-रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीति-कालीन एक-स्वरता तथा द्विवेदी-युगीन समस्वरता में नवीन सौन्दर्य के लक्षण प्रकट हुए और शब्दालकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य-द्योतक उपकरण न रहकर, भावों की अभिव्यक्ति मे घुलमिलकर, उसके अनिवार्य अंग हो गये, तथा अधिक मार्मिक एवं परिपूर्ण होकर नवीन सौन्दर्य के प्रतीक बन गये। सौन्दर्यबोध–जो रूपविधान और भावबोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है–वह, जैसे, छायावादी युग की सर्वोपरि देन है, जिसने हमारे रूढि-रीतियों के ढाँचे मे बँधे हुए इतिवृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख से विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी।

छायावादी काव्यचेतना का संघर्ष मुख्यतः मध्ययुगीन निर्मम, निर्जीव जीवन-परिपाटियो से था जो, कुरूप छाया तथा घिनौनी काई की तरह युग-मानस के दर्पण पर छाई हुई थी और क्षुद्र-जटिल नैतिक साम्प्रदायिकता के रूप में आकाश-लता की तरह लिपटकर मन में आतंक जमायेहुए थी। दूसरा संघर्ष छायावादी चेतना का था, उपनिषदो के दर्शन के पुनर्जागरण के युग मे उनका ठीक-ठीक अभिप्राय ग्रहण करने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, विद्या, अविद्या, शाश्वत, अनन्त, क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों एवं प्रतीकों का अर्थ समझकर, उन्हे युग-मानस का उपयोगी अग बनाना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके बाहरी विरोधो को सुलझाकर उनमे सामजस्य बिठाना——ये सब अत्यन्त गम्भीर और आवश्यक समस्याएँ थी, जिनकी भूलभुलैया से बाहर निकल, कृतिकार को, मुक्त रूप से सृजन कर तथा सदियो से निष्क्रिय, विषण्ण एवं जीवन-विमुख लोक-मानस को आशा, सौन्दर्य, जीवन, प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव-काव्य देकर, उसमे नया प्रकाश उँड़ेलना था। छायावाद मुख्यतः प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा। कल्पना का, पलायन से भिन्न, उच्च अर्थ मे प्रयोग छायावादी काव्य मे ही हो सका है। वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा।

उसने व्यक्तिगत रुचि-विमूढ मानव-भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व तथा व्यापक मनुष्यत्व का निर्माण करने का प्रयत्न किया।

छायावादी छन्दो मे आत्मान्वेषण की शान्त, स्निग्ध अन्तःस्वरसंगति है, जो अपने दुर्बल क्षणो मे प्रेरणाशून्य, कोरा कोमल पद-लालित्य बनकर रह जाती है। प्रगतिवादी छन्दो मे सामूहिक आन्दोलन का जागरण कोलाहल तथा स्पन्दन-कम्पन है, जो अधिकतर खोखली हुकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छन्दो मे नीद-भरा करुण स्वप्न-मर्मर है, जो प्राय: आत्मदया एवं आत्मव्यथा मे द्रवित होकर भावुक उच्छ्वासो की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रेमकाव्य सौन्दर्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-काव्य राग-मूलक। अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा है, प्रगतिवाद एक नवीन वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध मे व्यक्ति के सूक्ष्म-गहन वैचित्र्य से भरी अहंता तथा रुग्ण कुठा को। काव्य की ये तीनो धाराएँ आज की युगचेतना के ऊर्ध्व, व्यापक, गहन सचरणो को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है, और तीनो अभिन्न रूप से सम्पृक्त है।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओ के रूप मे इसलिए माना है कि मूलत: ये तीनों धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई है। उनके रूपविधान तथा भावना-सौष्ठव मे कोई विशेष अन्तर नही और अपने विचार-दर्शन में भी वे भविष्य मे एक दूसरे के निकट आ जाएँगी। ये तीनो धाराएँ एक दूसरे की पूरक है। आज के संघर्षनिरत विकासकामी युग मे हम मानव-जीवन में एक नवीन सन्तुलन चाहते है, अपने वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओ में नवीन समन्वय चाहते है, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते है, अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोक-जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) मे नया सामंजस्य चाहते है। हमारी यही मूलगत आकाक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओ तथा अतिरजनाओ के साथ अभिव्यक्ति पा रही है। इस प्रकार जिस काव्य-सचरण का समारम्भ अपने विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तथा अमूर्त रूप-शिल्प के कारण छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी मैं भविष्य में अनेक रूपों में नवीन सम्भावनाएँ देखता हूँ। वह हमारे विकासशील युग की भाव, विचार तथा सौन्दर्य-सम्पदा को और विकसित मानव-मूल्यों के बहिरन्तर के वैभव को पूर्णतम अभिव्यक्ति देने में सफल तथा समर्थ हो सकेगा।

अपने युग के काव्य-साहित्य की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इसलिए आवश्यक हो गया कि मै आपके सम्मुख यह स्पष्ट कर सकूँ कि मेरी काव्यरुचि या सस्कार का निर्माण करने में किन शक्तियों का हाथ रहा तथा मेरी काव्यसम्बन्धी मान्यताओं

को किस सास्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक जागरण की व्यापक चेतना ने प्रेरित एवं प्रभावित किया। मेरी प्रिय-अप्रिय को भावना व्यक्तिगत रुचि से बाधित न रहकर जीवन-मान्यताओ-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही परिचालित रही है। सामाजिक-ऐतिहासिक दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप मेरा जीवन-दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित नही हो गया था, जैसा कि मेरे आलोचकों को तब प्रतीत हुआ—मेरी जीवनदृष्टि अधिक व्यापक हो गयी। अर्थात्, आदर्श के अन्तर्मुख चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथार्थ के बहिर्मुख आग्रह को भी स्वीकार कर लिया। जोवनादर्श के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही बना रहा, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए, उसके विकास के अग के रूप मे—वस्तुजगत् के सघर्ष को भी मेरा मन समझने लगा, तथा उसकी यथार्थता को भी महत्त्व देने लगा। किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थ के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब इतनी विकसित, सशक्त एव परिपक्व नही हो सकी थी कि वह आदर्श और यथार्थ को एक ही मानवसत्य के—समग्र सत्य के——परस्पर पूरक अगो के रूप में देख सके अथवा ग्रहण कर सके।

अब मै अपनी काव्य-चेतना के विकास के एक अत्यन्त आवश्यक मोड या स्थिति के बारे में कहने जा रहा हूँ, जहाँ से 'स्वर्णकिरण'-युग का आरम्भ होता है, जिसे आप मेरे चेतना-काव्य का युग भी कह सकते है। यह 'ग्राम्या' से पॉच वर्ष के बाद का समय है। इस बीच मेरे मन मे 'ज्योत्स्ना' और 'ग्राम्या' की चेतनाओ का आदर्श और यथार्थ की चिन्तन-धाराओ का सघर्ष तथा मन्थन चलता रहा। और इसी का परिपाक 'स्वर्णकिरण' की विकसित जीवन चेतना के रूप मे हुआ जिसको मैंने अपनी 'स्वर्णोदय' नामक रचना मे तथा 'वाणी' की 'आत्मिका' शीर्षक रचना में अधिक परिपक्व रूप मे अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' मे मैंने मानवता के व्यापक सास्कृतिक समन्वय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है.

> "भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
> सहिष्णुता सद्भाव शान्ति से हो गत सस्कृति धर्म समन्वित!
> वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित
> बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित!
> सस्मित होगा धरती का मुख, जोवन के गृह प्रागण शोभन,
> जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण!
> विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु सघर्षण,
> संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेगे मनुज के चरण!"

'वाणी' में मैंने मानव-जोवन के प्रति विगत युगो के सीमित दष्टिकोण को अतिक्रम कर नवीन जीवन-चेतना के धरातल पर सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है:

"नव मानवता को नि सशय होना रे अब अन्त.केन्द्रित
जन भू स्वर्ग नही युग सभव बाह्य साधनों पर अवलम्बित।
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वो मे जग खडित
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
'आज विशेषीकरण, समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर,
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मन्दिर, जीवन के घर !
यह दीक्षा का युग न कला में—बृहत् लोक शुभ से हो प्रेरित,
भू रचना के स्वर्णिम युग के कला शिल्प स्वर शब्द हो अमित।'
'भू पर सस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नही विरागी, सन्यासी, जीवन से उपरत।
आत्मा को प्राणो से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति
ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति !"

अपने इस नवीन काव्य-सचरण मे मैंने मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्श-वाद की चेतना को नवीन लोकचेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को उन्नत सामाजिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधो को नवीन मानव-चेतना के समन्वय मे ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक-आध्यात्मिक अतिरजनाओ का विरोध कर, भौतिकता-आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओ के रूप मे ग्रहण कर, उन्हे लोककल्याण के लिए महत्तर सास्कृतिक समन्वय मे, एक दूसरे के पूरक के रूप मे संयोजित करना चाहा है। अपने नवीन प्रगीतो मे मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलायी है और उसे नवीन रागात्मक सवेदनो तथा नवीन प्रकाश के स्पर्शो से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की मेरी काव्य-दृष्टि को मेरे आलोचको ने सम-न्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर सन्तोष कर लिया है। मै यह नही कहना चाहता कि उसके पुष्कल चैतन्य की उन्होने जान-बूझकर उपेक्षा की है। नही, उसकी ओर उन्होने सम्भवतः यथेष्ट ध्यान नही दिया है और उसे समझने को प्रेरणा का भी अभी उदय नही हुआ है। इसका एक कारण, और सम्भवत. मुख्य कारण, यह है कि वर्तमान सास्कृतिक ह्रास तथा राजनीतिक उत्थान-पतन के युग मे मानव-चेतना और विशेषत बुद्धिजीवियो एव कलाकारो का भावप्रवण सवेदनशील हृदय, प्राणिक जीवन-वृत्तियों के उच्छ्वासो तथा भावनाओं के उपचेतन-स्तरो मे ऐसा उलझ गया है कि उन गुहाओ के घने अन्धकार को नवीन चैतन्य के स्वर्णिम प्रकाश से विगलित होने में समय लगेगा। सम्भवतः समय आने पर 'स्वर्णकिरण' के युग की मेरी रचनाएँ—जिनमें मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित हैं—पाठको एव आलोचको का ध्यान

अधिक आकृष्ट कर सकेगी और उनके लिए अधिक न्याय हो सकेगा; मैं उनके सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि उनमे केवल समन्वयवादो या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही नही है—उनमे मेरी समस्त जीवन-अनुभूतियो का—तथा 'ग्राम्या' की हरीतिमा का भी निचोड है। उनमे जीवन-सौन्दर्य के परिधान मे मूर्त, नवीन जीवन्त मानव-चैतन्य भी है, जिसको अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति 'वाणी' के अन्तर्गत मेरी 'आत्मिका' शीर्षक रचना मे मिल सकी है।

नयी चेतना के बारे में उसमे मैंने इस प्रकार कहा है—

"कोटि सूर्य जलते रे उज्ज्वल उस माखन पर्वत के भीतर
मनुष्यत्व नव बहिर्दीप्त वह अन्तःसस्कृत, आत्म मनोहर!
लोक प्रेम वह, मनुज हृदय वह, इन्द्रिय मन जिसमे सयोजित
अणु विनाश को अतिक्रम कर वह निज रचना प्रियता मे जीवित!"

यह एक इतना विराट् तथा विश्व-व्यापी चेतनात्मक क्रान्ति का युग है कि मानव-मन उसके महत्त्व को अभी पूर्णतः ग्रहण नही कर पाया है—यह महत् अन्त क्रान्ति, जो मानव-जीवन मे एक महान् परिवर्तन तथा रूपान्तर उपस्थित कर सकेगी, अभी केवल विकास के पथ मे है,—मैंने 'उत्तरा' के गीतो मे इस ओर संकेत किया है—उसका सूक्ष्म सास्कृतिक ऐश्वर्य, मनोवैभव तथा जीवन-सौन्दर्य अभी सम्पूर्णतः प्रस्फुटित होकर मनुष्य के भीतर नही अवतरित हो सका है।

आज के युग मे कविता को केवल वादो, बौद्धिक दर्शनो, सामूहिक नारो, अवचेतन के वैचित्र्य-भरे, अपरूप उच्छ्वासो एव उद्गारो के रूप ही मे देखना उसके प्रति अन्याय करना है। जुगनुओ की पक्तियो की भाँति मानव-मन की विषण्ण गहराइयो में जगमगाती हुई, रीढहीन, फूल-पत्तियों को बेलो की तरह धरती से चिपकी हुई या बेलबूटों की तरह कढो हुई सतरे और जिस तथ्य को भी वाणी देती हों, वे निश्चय ही नये युग के नये मानव-चैतन्य अथवा नये मानव-सत्य को अभिव्यक्त नही करती, इसमे मुझे रत्ती-भर सन्देह नही। सम्भवतः यह कविता के विश्राम-ग्रहण करने का समय है। नया मानव-चैतन्य अन्तर्मुखी होकर अपने लिए, नवीन भावभूमि, नवीन सौन्दर्य-वाणी, नवीन माधुर्य रस तथा नवीन इन्द्रिय आनन्द का स्पर्श खोज रहा है।

यह हमारे लिए बडे सौभाग्य की बात है कि हमने इस विराट् युग मे जन्म लेकर, साहित्य के क्षेत्र मे, इन नव नवोन्मेषिणी भाव-शक्तियो को धारण तथा वहन करने का गौरव प्राप्त किया है। स्वर्ग से नरक तक के स्तर आज के युग मे आन्दोलित हो उठे हैं। मानव-जाति की सर्वोच्च मान्यताओ के शिखर तथा निश्चेतन मन के अन्धकार-भरे गह्वर आज नवीन आलोक की रेखाओ तथा नवीन प्राणो के स्पर्श से उन्मीलित हो रहे हैं। आज हम देश, जाति, वर्ग आदि सब की सम्मिलित संश्लिष्ट

इकाई को विश्व-जीवन मे, नवीन मानवता के रूप मे प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नो में संलग्न है। मेरे युग को जो काव्य-चेतना राष्ट्रीय जागरण के बाह्य प्रभावों से जागृत होकर, पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से सौन्दर्यबोध ग्रहण कर, भारतीय चैतन्य के अभिनव आलोक से अनुप्राणित होकर, क्रमशः प्रस्फुटित एव विकसित हुई थी, आज वह अनेक भावनाओं तथा विचारों के धरातलो को पार कर, मानव-मन की गहनतम तलहटियो तथा उच्चतम शिखरो के छाया-प्रकाश का समावेश करती हुई, अधिक प्रौढ एव अनुभव-पक्व होकर, मानव-जीवन के मगलमय उन्नयन एवं मानव-जाति से परस्पर सम्मिलन के स्वर्ग के निर्माण मे अविरत रूप से साधना-रत है। आज की काव्य-चेतना अनेक युगो को पार कर नवीन युग मे प्रवेश कर रही है। यह उसके लिए अत्यन्त संकट तथा सघर्ष का युग है। आज स्वप्न और वास्तविकता, सत्य और यथार्थ एक दूसरे के विरोध में खडे, एक अधिक व्यापक एव समुन्नत जीवन-सत्य की चरितार्थता में संयोजित होने की प्रतीक्षा कर रहे है। आज मानव-क्षमता तथा मानव-दुर्बलता एक दूसरे को चुनौती दे रही है। आज धरा-सृजन और विश्व-संहार आमने-सामने खड़े ताल ठोक रहे है।

इन्हीं विचारो तथा भावनाओं को मैने अपने इधर के काव्य मे इस प्रकार वाणी दी है :

"भूखंडो मे भग्न, विभाजित बहिर्मुखी युग मानव का मन,
स्थापित स्वार्थो से शत खडित मानव आत्मा का हृत प्रागण !
देश खंड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह ?—
मानवता मे देश जाति हों लीन, नये युग का सत्याग्रह !'
'व्यक्ति विश्व के सघर्षण से निखर उठा मन मे नव मानव
जो विकास पथ मे अब भूपर अन्तर मे ले अक्षय वैभव !
जन्म पीढियों मे ले नव-नव मर्त्य अमर को होना विकसित,
भू जीवन मन को अतिक्रम कर स्वर्ग धरा पर रचना जीवित !'
'जन भू पर निर्मित करना नव जीवन बहिरन्तर सयोजित,
मनुज धरा को छोड़ कही भी स्वर्ग नही सम्भव, यह निश्चित !"

ऐसी महान् सम्भावनाओं और घोर दु.सम्भावनाओं के युग में कवि एवं कलाकार को अपने अन्तर्विश्वास के शिखर पर अविचल खडा रहकर, मानव-अन्तश्चैतन्य से प्रकाश ग्रहणकर, स्वप्न और कल्पना के हो उपादानो से नहीं, महत्तम मानव-भविष्य का निर्माण करना है : और धरती के मानस को—पिछली मान्यताओं एवं परिस्थितियों का कलमष-कर्दम धोकर—उसे नवीन जीवन-चैतन्य के सौन्दर्य से मडित कर, मानवीय एव स्वर्गोपम बनाना है। मानव-अहंता के तुषानल के ताप से बिना झुलसे उसे अपने फूलों के हँसते

हुए चरण आगे बढाने हैं, और स्वप्नो की अमूर्त अँगुलियो के कोमलतम स्पर्शों से छूकर भू-मानव के मन की निर्मम जडता को द्रवीभूत करना है। साहित्यकार की वाणी की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग मे जितना अधिक बढ गया है, उतना शायद इधर मानव-इतिहास के किसी युग मे नही बढा था। आज उसे धरती के विश्रृंखल जीवन को नये छन्द मे बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओ को अतिक्रम कर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग-परिस्थितियो के घोर अन्धकार से प्रकाश खीचकर उसे दु स्वप्नो से आतकित मानव के मानस-क्षितिज मे नया अरुणोदय लाना है।

आज के महासंक्रान्ति के युग मे मुझे प्रतीत होता है कि मेरे भीतर मेरे उदयकाल मे जिस किशोर-कवि ने वीणा के गीत गुनगुनाये थे, आज वह अपना सर्वस्व गँवाकर केवल आज के विश्व-जीवन का तथा भविष्य के अन्तरिक्ष मे मुसकुराती हुई नवीन मानवता का विनम्र स्वर, सौम्य सन्देशवाहक एव दूत-भर रह गया है—उसकी क्षीण कठध्वनि आज के तुमुल कोलाहल मे लोगो को सुनाई देगी कि नही, मै नहीं जानता।

विज्ञान और साहित्य—विशेषत: काव्य-साहित्य—ही लोकमगल का पथ ग्रहण कर, अपनी असीम स्थूल-सूक्ष्म शक्तियो की सम्भावनाओं से, आज मानव-जगत् तथा मन का बहिरन्तर रूपान्तर एवं पुनर्निर्माण कर इस युग के नरक को नये स्वर्ग का रूप दे सकते है, इसमें मुझे रत्ती-भर सन्देह नही। हमारे युवकों तथा छात्रो को मानव-चेतना के नवीन प्रकाश का सन्देशवाहक बनकर आज धरती के पथराए मन मे अपने नवीन रक्त का संगीत-स्पन्दन, तरुण हृदयो के स्वप्नो का जागरण तथा अदम्य प्राणों का सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य भरना है—मानवता के प्रति वे अपने इस अमूल्य दायित्व को न भूलें।

चरण-चिन्ह

'चिदम्बरा' को पाठकों के सम्मुख रखने से पहले उस पर एक विहगम दृष्टि डाल लेने की इच्छा होती है। इस परिदर्शन मे, अपने विगत कृतित्व को, आलोचक की दृष्टि मे देखने की अनधिकार चेष्टा नहीं करना चाहता; युग की मुख्य प्रवृत्तियों मे मेरा काव्य किस प्रकार सम्बद्ध रहा, उस ओर, सक्षेप मे, ध्यान भर आकृष्ट कर देना पर्याप्त समझता हूँ।

'पल्लविनी' मेरो प्रथम उत्थान की रचनाओ की चयनिका थी, जिसमे 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगान्त' की विशिष्ट कविताएँ सकलित हैं। इस संचरण के कृतित्व के प्रति मेरे आलोचक प्रायः कृपालु और उदार रहे हैं, सम्भवतः इसलिए कि इस उत्थान के कृतित्व ने छायावाद के बहिरंग को सँवारने तथा उसे कोमल कान्त कलेवर की शोभा प्रदान करने के प्रयत्न मे हाथ बँटाया है।

छायावाद की सार्थकता, मेरी दृष्टि मे, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवादमूलक कैशोर समारम्भ-भर था, उस युग की कविता मे और भी अनेक प्रकार के अभिव्यंजना के तत्व, तथा रूप-शिल्प की विशेषताओं के व्यापक उपकरण हैं, जो खडीबोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप मे रहेंगे। मेरी रचनाओं मे वह भावनात्मक दृष्टिकोण, अधिकतर, 'वीणा' मे तथा 'पल्लव' की कुछ रचनाओ मे मिलता है; मेरा तब का काव्य मुख्यतः प्रकृति-काव्य है। 'ग्रन्थि', 'गुजन' और 'ज्योत्स्ना' मे छायावादी दृष्टिकोण प्रायः उनके रूपविधान तक ही सीमित है; 'युगान्त' मे विधान शिल्प मे भी मौलिक रूपान्तर के चिह्न प्रकट होते है। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'युगवाणी-ग्राम्या' के बाद, 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' की रचनाओ मे, मैं फिर छायावादी शैली मे लौट आया हूँ, जिससे मै सहमत नही। छायावादी शैली मे भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता मे प्रस्फुटित होते हैं। मेरे उत्तर-काव्य मे स्वतः चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूपविधान को अतिक्रम करती रही है, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा' की शब्द-योजना मे प्रस्फुटन से अधिक परिणति है।

'चिदम्बरा' मेरी काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है। उसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का संचयन है, जिसमें 'युगवाणी',

'ग्राम्या' तथा 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि'; 'युग-पथ' के अन्तर्गत 'युगान्तर', 'उत्तरा', 'रजत-शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' अथच 'अतिमा' की चुनी हुई कृतियो के साथ 'वाणी' की अन्तिम रचना 'आत्मिका' भी सम्मिलित है। 'पल्लविनी' मे, सन् '१८ से लेकर '३६ तक, मेरे उन्नीस वर्षो के कृतित्व के पदचिह्न हैं, और 'चिदम्बरा' में सन् '३७ से '५७ तक, प्रायः बीस वर्षों की विकास-श्रेणी का विस्तार। मेरी द्वितीय उत्थान की रचनाएँ, जिनमें युग की, भौतिक-आध्यात्मिक, दोनो चरणों की प्रगति की चापें ध्वनित हैं, समय-समय पर, विशेष रूप से कटु आलोचनाओ एवं आक्षेपों का लक्ष्य रही है। ये आलोचनाएँ, प्रकारान्तर से, उस युग के साहित्यिक मूल्यों तथा रूप-शिल्प सम्बन्धी सघर्षो तथा द्वन्द्वो का निदर्शन है, और, स्वय अपने मे एक मनोरंजक अध्ययन भी। आनेवाली पीढियाँ निश्चयपूर्वक देख सकेंगी कि उस युग का साहित्य, विशेषकर आलोचना-क्षेत्र, किस प्रकार सकीर्ण, एकागी, पक्षधर तथा वादग्रस्त रहा है और उसमे तब की राजनीतिक दलबन्दियो के प्रतिफलस्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि-सम्बन्धी साहित्यिक गुटबन्दियाँ रही हैं। भविष्य, निश्चय ही, इस युग के कृतित्व पर अधिक निष्पक्ष निर्णय दे सकेगा, काल ही वह राज-मराल है, जो नीर-क्षीर-विवेक की क्षमता रखता है।

मुझे स्मरण है, 'पल्लव' की प्रमुख रचना 'परिवर्तन' लिखने के बाद मेरा काव्य-बोध का क्षितिज बदलने लगा था, जिसका आभास 'छायाकाल' शीर्षक पल्लव' की अन्तिम रचना मे मिलता है, जिसमे मैंने अपने किशोर मन से प्रकट रूप से बिदा ली है :

> "स्वस्ति, जीवन के छाया काल,
> मूक मानस के मुखर मराल,
> स्वस्ति, मेरे कवि बाल!
> .. .. .
> दिव्य हो भोला बालापन,
> नव्य जीवन, पर, परिवर्तन!
> स्वस्ति, मेरे अनग नूतन,
> पुरातन मदन दहन!"

इसके अतिरिक्त कि "बालापन", "परिवर्तन" तथा "अनग" 'पल्लव' की रचनाओं के शीर्षक है, इस प्रगीत में अन्य बातो की ओर भी सकेत है। मैंने अपने मानस को मूक कहा है; मेरा विचारो का मन तब जाग्रत् नही था, केवल भावों का मराल मुखर था। मैंने अनग नूतन के रूप मे अनागत-अरूप नूतन का स्वागत किया है, साथ ही पुरातन-रूढ़ि-रीतियो में बद्ध जीवन का मदन-दहन करने की इच्छा प्रकट की है, जो 'युगान्त' में मुखरित हो सकी है। यह सम्पूर्ण कविता मेरी उस काल की मनोवृत्ति का सच्चा दर्पण है; उसे मैंने 'पल्लव' के अन्त में विशेष रूप से स्थान दिया है।

'परिवर्तन' मे अंकित मानव-जीवन के दुःख-दैन्य के कारण-बीज अधिकतर हमारी पुरातन रूढ़ि-रीतियों तथा मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था मे हैं, इसका बोध मुझे तब होने लगा था। 'पल्लव' सन् '२६ मे प्रकाशित हुआ है, तब से सन् '३२ तक —जब 'गुंजन' प्रकाशित हुआ—मेरे मानस-मन्थन का युग रहा है, जिसमें मुझे एक सूक्ष्म दृष्टि भी प्राप्त हुई है, जिसके प्रारम्भिक स्फुरण "जग के उर्वर आँगन मे" तथा "लाई हूँ फूलो का हास" आदि सन् '३० की रचनाओं में, और व्यापक स्वरूप के दर्शन 'ज्योत्स्ना' के नवीन युग-प्रभात मे मिलते हैं, जो सन् '३४ मे प्रकाशित हुई है। 'गुंजन' मे मेरी नवीन साधना के प्रगीत हैं। अवश्य ही 'पल्लव'-कालीन किशोर मानस तब अपना सहज सन्तुलन खो चुका था, जो प्रकृतिगत जीवन-सिद्ध सस्कारो तथा ससार के प्रति जन्मजात विश्वासो का बना होता है। 'गुंजन'-काल में मुझे अपने प्रति पुनः नवीन आत्म-विश्वास जाग्रत् करने की आवश्यकता थी। पारिवारिक अवलम्ब छूट जाने के कारण, जिसकी चर्चा 'आत्मिका' मे है, व्यक्तिगत सुख-दुःखो एवं मानसिक ऊहापोहों को नवीन बोध के धरातल पर उठाने के साथ ही जग-जीवन से भी नवीन रूप से सम्बन्ध स्थापित करने की जीवनाकाक्षा मुझे प्रेरित करने लगी थी। "जग जीवन मे है सुख दुख" अथवा "स्थापित कर जग मे अपनापन" आदि, अनेक रचनाएँ इस इच्छा की द्योतक हैं। "तप रे मधुर मधुर मन" में—जो 'गुंजन' की प्रथम रचना है—मैं अनुभवो की आँच मे तपकर अपने मन को नवीन रूप से नवीन विश्वासों में ढालता हूँ। "सुन्दर विश्वासों से ही बनता है सुखमय जीवन" भी इसी मानस-रचना के प्रयत्न का परिचायक है। वह जिज्ञासाओं के संघर्ष का युग था; 'गुंजन' की 'अप्सरा' जब पीछे 'ज्योत्स्ना' के रूप में प्रस्फुटित होकर मेरे मन में अवतीर्ण हुई तब तक मुझे अनेक नवीन विश्वासों, आदर्शो तथा विचारो की उपलब्धियाँ हो चुकी थी।

मानव-समाज के रूपान्तर की भावना का उदय मेरे मन मे 'ज्योत्स्ना'-काल ही मे हो गया था। 'ज्योत्स्ना' मे मन.स्वर्ग से अनेक नवीन सृजन-शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। उनका गीत इस प्रकार है :

"हम मन.स्वर्ग के अधिवासी,
जग जीवन के शुभ अभिलाषी,
नित विकसित, नित वर्धित, अर्चित,
युग युग के सुरगण अविनाशी !
हम नामहीन, अस्फुट नवीन,
नव युग अधिनायक, उद्भासी !"

इस गीत मे नित विकसित नित वर्धित तथा हम नामहीन, अस्फुट नवीन, नवयुग अधिनायक-विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। स्वप्न और कल्पना ज्योत्स्ना

से कहते है· "इन नवोन भावनाओ के वस्त्र पहनाकर एव मानवीय रूप-रग-आकार ग्रहण कराकर हमे आपने उन्मुक्त नि सीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि !" उसी दृश्य मे वेदव्रत कहता है· "जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकागी तत्त्वावलोचन के दुष्परिणामस्वरूप काल्पनिक मुक्ति के फेर में पड़कर ..जन-समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई, उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता एकागी जड़वाद के दुष्परिणामस्वरूप विनाश के दलदल में डूब गयी।" और भी, "पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा मे पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पजर मे जड-विज्ञान के रूप-रंग भरकर हमने नवयुग की सापेक्षत. परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अग-स्वरूप पिछले युगों के अनेक वादविवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके है।" भौतिक-आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपान्तरित भू-जीवन के मूल्यो की नीव–जिन्हें मेरी आगे की रचनाओं मे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन मे इसी काल मे पड़ गयी थी। 'ज्योत्स्ना' की सूक्ष्म दृष्टि मेरी आँखों के सामने एक गहरी वर्णमैत्री के विराट् इन्द्रधनुष की तरह खुली थी। मेरे मन को एक सूक्ष्म आनन्द-जो आस्था भी था—स्पर्श कर चुका था। 'ज्योत्स्ना' का ज्योति-अन्धकार का युद्ध मेरे ही मन का युद्ध था, जिसकी चर्चा मैंने 'आत्मिका' मे की है :

"मानस तल मे ऊपर नीचे चलता तब संघर्षण अविरत
तम पर्वत, सागर प्रकाश का मंथित रहते शिखरो मे शत !
.. .. ..
करवट लेता भावी नवयुग, गत भू मन को कर क्षत विक्षत,
.. .. ..
मुँह तक तम से भर जाता मन उपचेतन आवेशो से श्लथ !
.. .. ..
अविदित भय से कँपता अन्तर स्वर्गिक सकेतो से पोषित,
.. ..
तम प्रकाश की युग संध्या मे होता मन में मौन अवतरित
'ज्योत्स्ना' का जीवन प्रभात नव, भू पर श्री सुख शोभा कल्पित !

'युगान्त' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था, जिसे "द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र" अथवा "गा, कोकिल, बरसा पावक कण"–"रच मानव के हित नूतन मन"—आदि रचनाओ मे मैंने वाणी दी है। इस नवीन भाव-बोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव'-युग का कलात्मक रूप-मोह ('पल्लव' की भूमिका जिसका निदर्शन है) पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आन्दोलनों, विचारों, भावों तथा

मूल्यो के नवीन प्रकाश से ऐसा आन्दोलित रहा कि 'पल्लव' गुजन' को सूक्ष्म कला-रुचि को मै अपनी रचनाओ मे बहुत बाद को, परिवर्तित एव परिणत रूप मे, सम्भवत: 'अतिमा-वाणो' के छन्दो मे, पुन प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमे उसका विकास तथा परिष्कार भो हुआ है और उसमे कला-वैभव के साथ भाव-वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव-गुजन'-काल को रचनाओ मे सम्भव न था।

कुछ आलोचको को 'युगवाणो' से 'उत्तरा' तक की मेरो रचनाओ मे कला-ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते है, जिसे मै दृष्टि-भेद की विडम्बना कहूँगा। 'उत्तरा' को सौन्दर्यबोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मै अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ। उसके अनेक गीत, जो 'चिदम्बरा' मे सम्मिलित है, अपने काव्यतत्त्व तथा भाव-चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठको का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकाक्षाओ से झंकृत है। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है।

"स्वप्नज्वाल धरणी का अचल,
अंधकार उर आज रहा जल!
.. .. ..
तुम रजत वाष्प के अंबर से
बरसाती शुभ्र सुनहली झर!
.. . ..
स्वप्नो की शोभा बरस रही
रिम झिम-झिम अंबर से गोपन!
.. .. ..
लो, आज झरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत आते भीतर!
.. .. ..
कैसी दी स्वर्ग विभा उडेल
तुमने भू मानस मे मोहन!" इत्यादि।

ऐसे अनेक उदाहरण 'उत्तरा' से दिये जा सकते है जो युग-मानव के भीतर नवीन जीवन-आकांक्षा के उदय की सूचना देते है, जिस नवीन भावबोध की पृष्ठभूमि (मनोभूमि) के कारण ही आज बहिर्जीवन का दैन्य मनुष्य को इतना कुत्सित तथा कुरूप प्रतीत होने लगा है। 'उत्तरा' मे मैंने पृथ्वी पर स्वर्गिक शिखरों का वैभव लुटाने का दावा किया है:

मैं स्वर्गिक शिखरो का वैभव,
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर!
. .. ..
देवो को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न-मांस के मर्त्य वसन!"

'ग्राम्या' में भी, मेरी दृष्टि में, ग्राम-जीवन के भाव-क्षेत्र के अनुरूप कला-शिल्प वर्तमान है। **'ग्राम्या'** की भाषा गाँवों के वातावरण की उपज है:

"गजी को मार गया पाला
अरहर के फूलो को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बदर
अब मालिन की लडकी तुलसा!
. .. .
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी पीठ कमठा सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गढे कधो पर,
फटी बिवाई से है एडी!
.. . .
खैर, पैर की जूती, जोरू
एक न सही, दूसरी आती,
पर जवान लडके की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती।" इत्यादि।

'ग्राम्या' के भाव-पक्ष मे—जिसे मैने कोरी भावुकता से बचाकर, सहानुभूति-पूर्वक, मान्यताओ के प्रकाश में सँवारा है—लोक-जीवन के कलुष पक को धोने के लिए नव मानव की अन्तर-पुकार है। 'युगवाणी' और 'स्वर्ण-धूलि' में भाव-ऐश्वर्य की तुलना मे कला-पक्ष सम्भवतः गौण हो गया है, जो मेरी दृष्टि मे स्वाभाविक है। इनमें मेरी कल्पना ने अनुद्घाटित नवीन भूमियो तथा क्षितिजों मे प्रवेश किया है। वह केवल मेरे भाव-प्रवण हृदय का आवेग-ज्वार था, जो विगत युगो की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओ से ऊब-खीझकर, अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह में, अन्ध-रूढियो के बन्धनो तथा निषेध-वर्जनों के अवरोधो को लाँघता हुआ, पार्थिव-अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलो तथा शिखरो की ओर बढता एव आरोहण करता गया। वास्तव मे वह आरोहण मेरे लिए स्वयं एक कलात्मक अनुभव एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान रहा है। कविता और कला-शिल्प मेरी दृष्टि मे फूल और उसके रूप-मार्दव की तरह अभिन्न है। रूप-मार्दव?—हाँ, किन्तु रंग-गन्ध-मधु-फल ही

फूल का वास्तविक दान है। अन्नभरी सुनहली बाल, नाल पर खडी रहने के बदले यदि अपने ऐश्वर्य-भार से झुक जाती है, तो इसे विधाता की कला की परिणति ही समझना चाहिए। कुछ ऐसा ही कलात्मक सम्बन्ध मेरे मन का, 'युगवाणी', 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाओ से रहा है। 'स्वर्ण-धूलि' मे आर्षवाणी के अन्तर्गत वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रभावित जो मेरी रचनाएँ है, वे अक्षरशः वैदिक छन्दो के अनुवाद नही है। मेरे भाव-बोध ने उन मत्रो को जिस प्रकार ग्रहण किया है वही उनका मुख्य तत्त्व और स्वर है। कही-कही तो मैने उन मत्रो की व्याख्या कर दी है।

'पल्लव' के सौन्दर्य-बोध के क्षितिज से बाहर निकलते-निकलते जब मै अपने तथा बाहर के जगत् के प्रति प्रबुद्ध हुआ, तो मुझे जीवन की भीतरी-बाहरी परिस्थितियो का बोध पीडित करने लगा। 'पल्लव'-काल में मै परमहंसदेव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के विचारो के सम्पर्क मे आ गया था। अपने देश मे स्वतत्रता-युद्ध के स्वरूप तथा गाधीजी के व्यक्तित्व ने मेरा ध्यान भारत के मानस-महत्त्व तथा जीवन-दैन्य की ओर आकृष्ट किया। सन् '२१ के असहयोग मे मै अपने छात्र-जीवन से विदा ले चुका था। गाधीजी का तपःपूत, कर्मठ व्यक्तित्व, जो धीरे-धीरे गाधीवाद का रूप ग्रहण करने लगा था, मन को अधिकाधिक आकर्षित करता था। 'गुजन' के आत्म-सस्कार के स्वर मे, अप्रत्यक्ष रूप से, गाधीजी का भी प्रभाव हो सकता है। उनके सास्कृतिक चैतन्य को मैने, उस युग की अनेकानेक छोटी-बड़ी रचनाओ मे, श्रद्धाजलि अर्पित की है।

देश के जीवन-दर्शन से बाहर मेरा ध्यान सर्वाधिक तब जिन वस्तुओ की ओर आकृष्ट हुआ था, वे थे मार्क्सवाद तथा रूसी क्रान्ति। गांधीवाद के साथ तब प्रायः समाजवाद-साम्यवाद के विचारों, आदर्शो तथा कार्यप्रणालियों की प्रतिध्वनियाँ कानो मे पडती थी। मेरे किशोर-सखा पूरन (जो पी० सी० जोशी के नाम से प्रसिद्ध है) तब प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास के छात्र थे। उनसे प्रायः ही नये राजनीतिक-आर्थिक सिद्धान्तों की चर्चा और उन पर वाद-विवाद होता था। उनका व्यक्तित्व एव मानस, उन तीन-चार वर्षो के भीतर, मेरी आँखो के सामने ही, धीरे-धीरे, डल्हिया के भरे-पुरे फूल की तरह, पूर्ण साम्यवादी के रूप मे प्रस्फुटित हुआ था। ऐतिहासिक चेतना से प्रभावित होने के कारण उनको जीवन के समस्त क्रिया-कलापों, अभावों तथा दैन्यों का निदान और समाधान बाह्य जगत् मे ही दिखाई देता था। उनकी मानसिक परिणति ने मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अनेक दुर्बल-सशक्त पक्षों को मेरी आँखों के सामने अपने आप खोल दिया और उनकी निष्कपट मैत्री के स्पर्श ने उन उग्र सिद्धान्तो को ममता तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखना सिखला दिया। मार्क्सवाद का जटिल आर्थिक पक्ष मुझे मेरे भाई स्व० देवीदत्त पन्त ने समझाया था।

वह तब प्रयाग विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम० ए० कर चुके थे और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण अपने विषय के मर्मज्ञ थे। अपने मित्र तथा भाई के सम्पर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कान्तार को, अपने ढीठ कल्पना-पखो से, साहस-पूर्वक, अत्यन्त उत्साह तथा हर्षानुभूति के साथ पार कर सका, (तब, जब हिन्दी मे सम्भवतः, इस प्रकार की कविता का जन्म भी नही हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कविता कहलाई) और कालाकॉकर के गॉवो का वातावरण पाकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं मे अपनी उस नवीन जीवन-दृष्टि को प्रक्रियाओ को उन्मुक्त रूप से वाणी दे सका। 'युगवाणी' की रचनाएँ सन् '३७-'३८ मे लिखी गई थीं। उनमे से अधिकाश सन् '३८ मे 'रूपाभ' के अको मे प्रकाशित हो चुकी थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ('ग्राम्या' मे सन् '३९-'४० की रचनाएँ है) अनेक नवीन सामाजिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन मे उदय हुए है। आज भी, जब नव मानवतावाद की दृष्टि से, मै विश्व-जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओ पर विचार करता हूँ, तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वय-सिद्ध प्रतीत होती है।

आज की राजनीतिक दलबन्दी मे खोये हुए, पूर्वग्रह-पीडित आलोचको को जब छायावाद-त्रयी या चतुष्टय मे, केवल मै ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सब प्रगतिशील लगते है, जो सम्भवत, तब युग-दायित्व के प्रति पूर्णत. प्रबुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नही करता। मानव-जीवन के व्यापक सत्यों को, चाहे वे आर्थिक हो या आध्यात्मिक, पूर्वग्रह और विद्वेष की टेढी-मेढी सँकरी गलियों मे भटकाकर, झुठलाया नही जा सकता, समय पर वे लोक-मानस मे अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे। सम्भवतः जिस संकीर्ण अर्थ मे अब प्रगतिवाद का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ मे मै प्रगतिवादी हूँ भी नही।

अपने-अपने 'हीरो' (नायक) के उपासक, ये पक्षधर आलोचक जब 'पल्लव' की कला का समर्थन करते है, तो मै जानता हूँ, वे पाठकों का ध्यान मेरी उन कृतियों से विरत करने का बहाना खोजते है, जिनमे उन्हे अपनी दलगत सकीर्णता तथा एकागिता का समर्थन नही मिलता। काव्य-गुण तथा लोक-मागल्य की दृष्टि से मेरी उत्तर-कृतियो के चैतन्य तथा कला-बोध के सामने 'पल्लव' की कला अल्प-प्राण बालिका के समान तुतलाती प्रतीत होती है। वे पूछते है, प्रकृति तथा इन्द्रधनुष को देखकर मेरे मन मे अब भी वैसी ही विस्मयकारी कैशोर प्रतिक्रियाएँ क्यो नहीं होती, जैसी 'पल्लव'-काल मे होती थी। ऐसे अबोध प्रश्नो का क्या उत्तर हो सकता है?

कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नही मानता। फिर कला के अनेक रूप है, जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' को अनेक पक्तियाँ 'पल्लव' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणो से

रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती है। "आज असुन्दर लगते सुन्दर" इस आधे चरण से आज के युग-जीवन की विपन्न रूप-रेखा आँखो के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नहीं? "बन गए कलात्मक भाव, जगत के रूप नाम" मे समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिच जाता है। "कंकाल जाल जग मे फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली" का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नही है। वनस्पतिशास्त्री कहते है, जब वन में वसन्त आता है तब वनस्पति-जगत् के जीवन मे इतनी अधिक गति का संचार होता है कि वन के जीव-जन्तुओ का जीवन भी अपनी भागदौड मे उससे होड़ नही ले पाता। उपर्युक्त चरण मे भी उसी वेग से नव जीवन का रुधिर दौडता दिखाई देता है। "इस धरती के रोम-रोम मे भरी सहज सुन्दरता"–'पल्लव' मे ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कही नहीं मिलती। ऐसी सैकड़ो पंक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य-ग्रन्थों से चुनी जा सकती है। मैंने अधिकाश उदाहरण 'युगवाणी' से इसलिए दिये है कि उसमें कला का एकान्त-अभाव बताया जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। 'युगवाणी' के तीसरे संस्करण की भूमिका मे मैंने इस पर प्रकाश डाला है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की पुकार थी, जिसने मुझे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया। 'स्वर्ण-किरण' और बाद की रचनाओ का कला-पक्ष भी भाव-सौन्दर्य-मडित, अन्तर्दीप्त एव मागल्य शक्ति-सम्पन्न है, यह दूसरी बात है कि उनमे राजनीतिक दलबन्दी की रिक्त पुकार तथा रुक्ष प्रचार न हो।

वास्तव मे हमारे साहित्य मे जीवन-यथार्थ की धारणा इतनी एकागी, खोखली तथा रुग्ण हो गयी है कि हमे शोषित, जर्जर और लघु मानव के रुग्ण-चित्रण मे ही कलात्मक परितृप्ति मिलती है। हम स्वस्थ मानवता की दिशा की ओर दृष्टिपात नही करना चाहते, क्योकि वहाँ हम अपनी मध्यवर्गीय कुठाओ से ग्रस्त, आत्मपराजित, क्षुद्र, सकीर्ण, द्वेषदग्ध, काममूढ़ जीवन के लिए सहानुभूति नही जगा पाते, जिसे युग-जीवन तथा कला का परिधान पहनाकर दूसरों के करुणा-कण प्राप्त करने के लिए हम आत्म-विस्तार का माध्यम बनाना चाहते है,–जो नवलेखन का दृष्टिकोण है, जो सद्य: और क्षणिक की अँगुली पकड़े हुए है। अथवा, हम राजनीतिक आवेगो एवं शक्तिमद की आकाक्षा से प्रेरित होकर आलोचना के नाम मे मतवाद तथा गाली-गलौज का अन्धड उठाकर उसमें साहित्यिक मूल्यो को आमूल, वृक्षो की तरह, उखाड़ फेकना चाहते हैं, जो हमारा प्रगतिशील दृष्टिकोण रहा है। दोनो ही मे धन-यथार्थ की धारणा का अभाव है–ऐसा धन या भाव यथार्थ जो आज के विश्व-व्यापी ह्रास से मानव-जीवन को ऊपर उठाकर उसे शान्ति, प्रकाश तथा कल्याण के भुवनो की ओर ले जा सके।

प्रेमचन्द जी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेचों का यथार्थ न होकर मानवीय

तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुंठाओं से भरा, तुच्छ, आत्म-पीडित यथार्थ नही, जिसमे मनुष्य परिस्थितियो की निर्ममता को अपनी रीढ तोडने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुजपुज क्षोभभरी वास्तविकता का चित्रण कर आत्म-तृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्द का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ सघर्ष करता हुआ, विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आग बढ़ानेवाला व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोकमागल्य के नव अकुरित बीज मिलते है।

यदि प्रगतिशील विचारको का ध्येय साहित्यिक नेतागीरी तथा यात्रिक-तार्किक मूल्यो का प्रचार करना रहा है, तो नवलेखन का ध्येय, अधिकतर, रूपविधान का मोह तथा रीढ़हीन, आत्म-सुख-दु ख के कर्दम मे रेंगनवाले लघु यथार्थ के कला-फेन की सृष्टि करना—जिसमे भाव की समस्त शक्ति रूप की भूलभुलैया मे खो जाती है। लोकजीवन एव विश्वजीवन-प्रवाह की मुख्य मान्यताओ का परित्याग कर और व्यापक मानवीय मूल्यो की ओर से आँखे मूँदकर, अधिकाश नव लेखकों ने गौण, अतिवैयक्तिक, भावोच्छ्वासपरक, तथा कुछ अशो मे, प्रतिक्रियात्मक मान्यताओ को अपनाया है। उनमें से अनेक प्रतिभासम्पन्न लेखक जनतत्रवादी देशो से विभीत पश्चिम के कोमल अस्थि, अल्पसख्यक बौद्धिको तथा अस्तित्ववादियो से प्रभावित हैं, जो समतल निराशा एव विषाद के कारण, महत् के प्रति सन्दिग्ध तथा क्षणिक एवं अल्प के प्रति सुखवादियों की तरह मुग्ध होकर, सक्रान्तिकालीन मध्यवर्गीय तुच्छ दु ख-दर्द के प्रति आस्था-ममता रखनेवाली अहता, कुठा एव आत्मरति-भरी वास्तविकता को कला के ललित फेन मे लपेटकर, कला को कला के लिए सँवारकर, उसे साहित्य के रूप मे प्रस्तुत कर रहे है। 'आज की नयी कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओ को अतिक्रम करने के प्रयत्न मे, नवीन मानव-मूल्यों की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के घनत्व से हीन एक भयानक शून्य मे भटक गई है और उपचेतन व्यक्तित्व के मोहक गर्त में फँसकर ऐसे अतिवैयक्तिक छायाभासो तथा व्यक्तिगत रुचियो के भावना-मूढ भेदोपभेदो, अतिवास्तविक प्रतीको तथा शशक-शृंग-बिम्बो को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोक-मागल्य से दूर का भी सम्बन्ध नही—मागल्य, जो बहुमुखी मानव-सत्य की एक-मात्र कसौटी है। इस प्रकार वह एक कृत्रिम-भाविक अलकरण-मात्र बनती जा रही है।'

प्रयोगवादी कविता की भविष्य मे क्या सम्भावनाएँ है, यह अभी नही कहा जा सकता। अभी तक तो उसमे असम्पृक्त खडित बिम्बों तथा भग्न प्रतिमाओं के खँडहरों मे इधर-उधर क्षण-सौन्दर्य की झाँकी के साथ चकाचौध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है। प्रकाश जो अन्तस्तल एवं अन्तर्गठन है, उसके बीज तथा अकुर अभी नही दिखाई पडते है। किन्तु भविष्य की कविता अवश्य ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ

सिद्धि होगी, जिसमें सौन्दर्य, प्रेम, प्रकाश और आनन्द अपने क्षितिजों के पार के ऐश्वर्य को रूप-बोध के सूक्ष्म सूत्रों में गूँथ सकेंगे, इसमें सन्देह नही। अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी—जो भविष्य मे मिटाई जा सकती है—हिन्दी-काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौन्दर्य-मजरियो का मुकुट लगाये, नवीन प्रकाश-दिशा की खोज मे, मन्द-धीर गति से चरण बढ़ा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।

नए लेखक-आलोचक, आत्म-विज्ञापन की धुन मे, छायावाद का परिचय अपने पाठको को उसी प्रकार देते हैं, जिस प्रकार कोई रामायण मे तुलसी की नारीत्व के प्रति भावना को "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" का उदाहरण देकर उपस्थित करे। छायावाद तथा काव्य-मूल्यो के सम्बन्ध मे दोनो दलो के लेखकों के जो अधिकाश आलोचनात्मक ग्रन्थ तथा लेख विगत वर्षो मे निकले है, वे इस बात के प्रमाण है। मैं यह सब लिखकर सामान्य हिन्दी-पाठको के लिए—जो लेखक-वर्ग मे नही हैं—इधर की काव्य-मान्यताओं तथा साहित्यिक आलोचनाओ की पृष्ठभूमि स्पष्ट किये दे रहा हूँ, जिससे उन्हे युग-साहित्य को समझने मे सहायता मिले।

'पल्लव'-काल तक मेरा कवि आत्म-प्रबुद्ध नही हुआ था, उसके बाद ही वह अपने बाहर-भीतर के जीवन-प्रवाह के प्रति सचेत हो सका, और अपने बाहर के सामाजिक जीवन की सीमाओं से क्षुब्ध होकर उसने 'युगान्त', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे, पुरानी दुनिया की अन्ध रूढि-रीति-परम्पराओ तथा वैज्ञानिक युग से पहले की संकीर्ण आर्थिक-राजनीतिक प्रणालियों तथा सामाजिक परिस्थितियो मे पथराई हुई बाह्य जीवन की चेतना पर निर्मम आघात किए और अपने युग की सम्भावनाओ सें नई दृष्टि प्राप्त कर नवीन परिस्थितियों के विकसित सत्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। साथ ही, विगत युगो के नैतिक-धार्मिक विचारो एव आदर्शो की सीमाओं से परिचित होने पर मानव-जीवन तथा मन को व्यापक धरातल पर उठाने के अभिप्राय से युग का ध्यान नवीन चैतन्य तथा अध्यात्म के शिखरो की ओर आकृष्ट किया और शतियों के पुंजीभूत निष्क्रिय मानस-अन्धकार को नवीन स्वप्नो की सुन-हली लपटों में जगाने की चेष्टा की। इसमे मेरी निर्मम सीमाएँ परिलक्षित होती हों, पर ये वे सीमाएँ नहीं, जिनकी कि पक्षधर आलोचक घोषणा करते है।

मेरा भावप्रवण हृदय बचपन से ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति सवे-दनशील रहा है, वह सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक हो या सामाजिक, मानसिक हो या आध्यात्मिक। मैं हिमालय तथा कूर्माचल के प्राकृतिक ऐश्वर्य से उसी प्रकार किशोरा-वस्था में प्रभावित हुआ हूँ, जिस प्रकार युवावस्था मे गाधीजी तथा मार्क्स से अथवा मध्य वयस में श्री अरविन्द के दर्शन तथा व्यक्तित्व से। हिमालय पर मेरी सबसे बड़ी रचना मद्रास में लिखी गयी, जहाँ विशाल समुद्र के तट पर हिमालय के विराट्

सौन्दर्य की शुभ्र स्मृति मनश्चक्षुओं के सामने निखर उठी और किशोर जीवन की अनेक मधुर स्मृतियों एवं अनुभवों मे पुजीभूत प्रवासी मन मे 'हिमाद्रि' तथा 'हिमाद्रि और समुद्र' शीर्षक रचनाएँ मूर्त हो उठी। युवावस्था के आरम्भ में रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेजी कवियों ने भी मेरी कला-रुचि का सस्कार किया है; किन्तु कला-रुचि एवं सौन्दर्य-बोध से भी अधिक मूल्यवान जो इस युग के लिए नवीन भाव-चैतन्य, नवीन सामाजिकता तथा नवीन मानवता का बोध है, वह मुझमे गाधी, मार्क्स तथा श्री अरविन्द के सम्पर्क से विकसित हुआ। निस्सन्देह, मेरे भीतर अपने विशिष्ट सस्कार रहे हैं। प्रबुद्ध होने पर अपने युग तथा समाज से मुझे घोर असन्तोष रहा है। धरती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एव सौन्दर्य से मडित देखने की दुर्निवार आकाक्षा मुझमे, अधिक कल्पनाशील होने के कारण, युवावस्था ही मे उत्पन्न हो गयी थी। साथ ही, मेरे भीतर अनेक प्रकार की बौद्धिक-भाविक सूक्ष्म प्रक्रियाएँ भी निरन्तर चलती रही है, जिनसे, ग्रहणशीलता की वृद्धि के अतिरिक्त, मुझे अनेक उपलब्धियाँ भी होती रही है। मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अन्तर के प्रकाश मे ग्रहण किया है, और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेशकर नवीन दृष्टिकोणों तथा उपकरणो से मडित होकर निखरे हैं, जिन्हें मै समय-समय पर अपनी रचनाओ मे वाणी दे सका हूँ। जब मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूतियो के प्रति, आधुनिकता का दावा करनेवाले, आज के कोरे बौद्धिक सन्देह प्रकट करते है, तो यह समझने मे देर नही लगती कि उनकी बौद्धिकता तथा आधुनिकता कितने गहरे पानी मे है। 'चिदम्बरा' की पृथु-आकृति मे मेरी भौतिक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक सचरणो से प्रेरित कृतियो को एक स्थान पर एकत्र देखकर पाठको को उनके भीतर व्याप्त एकता के सूत्रो को समझने मे अधिक सहायता मिल सकेगी। इनमे, मैंने अपनी सीमाओ के भीतर, अपने युग के बहिरन्तर के जीवन तथा चैतन्य को, नवीन मानवता की कल्पना से मडित कर, वाणी देने का प्रयत्न किया है। मेरी दृष्टि मे 'युगवाणी' से लेकर 'वाणी' तक मेरी काव्य-चेतना का एक ही सचरण है, जिसके भौतिक और आध्यात्मिक चरणों की सार्थकता द्विपद-मानव की प्रगति के लिए सदैव ही, अनिवार्य रूप से रहेगी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे भी मेरा दृष्टिकोण मानव-जीवन के सत्य के प्रति समन्वयात्मक ही रहा है, जैसा कि मै 'आधुनिक कवि–भाग दो' की भूमिका मे कह चुका हूँ। मैंने मानव-जीवन के विकास के लिए भौतिक-आध्यात्मिक दोनों मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता बतलायी है :

> "भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
> जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान!
> .. ..

अंतर्मुख अद्वैत पडा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग मे उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान !

. . . .

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद !"

इसी प्रकार 'ग्राम्या' मे मैंने युग-संघर्ष को राजनीति-अर्थनीति तक ही सीमित नही रखा है :

"राजनीति का प्रश्न नही रे आज जगत् के सम्मुख,
आज वृहत् सास्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित !

.. . . ..

नव प्रकाश मे तमस युगों का होगा शनै निमज्जित !"

मध्ययुगीन नैतिकता के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे इस प्रकार व्यक्त हुई है :

"स्वर्ण पीजरे मे बन्दी है मानव आत्मा निश्चित !

. . .

विविध जाति वर्गो धर्मो को होना सहज समन्वित,
मध्ययुगो की नैतिकता को मानवता मे विकसित !"

यत्रों के लिए 'ग्राम्या' मे मैंने कहा है :

"जड़ नही यत्र, वे भावरूप, सस्कृति द्योतक !

. .. .

दार्शनिक सत्य यह नही यंत्र जड़, मानवकृत,
वे है अमूर्त, जीवन विकास की स्थिति निश्चित !"

ऐसे और भी बीसियो उद्धरण दिए जा सकते है जिनमे मानव-जीवन की समस्याओं एव उनके समाधान के रूप मे मेरा निश्चित दृष्टिकोण प्रकट होता है, जो आगे चलकर 'स्वर्ण-किरण' से 'वाणी' तक की रचनाओ मे विकसित होकर अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति पा सका है। अपनी उत्तरकालीन रचनाओ मे मैंने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अतिक्रम कर और भी अधिक व्यापक क्षितिजो का उद्घाटन किया है। भूतवाद अथवा अध्यात्मवाद दोनो ही मुझे अपने मे अधूरे लगे है। कोरे भूतवादियों से मैंने 'युगवाणी' मे कहा है :

"हाड मास का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
हाथ पॉव सगठित चलाएँगे जग जीवन काज ?
दया द्रवित हो गए देख दारिद्रय असख्य तनो का ?
अब दुहरा दारिद्र्य उन्हे दोगे असहाय मनो का ?"

'उत्तरा' मे मैंने भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के एकांगी समर्थकों की भर्त्सना की है :

"तुम भाप उन्हे कहते हँसकर, वे तुमको मिट्टी का ढेला
वे उड सकते, तुम अड सकते, जीवन तुम दोनो का मेला !
फिर भी यदि जडता तुमको प्रिय, उनको चेतन ना—दुख नितांत,
है सत्य एक—जो जड चेतन, क्षर अक्षर, परम, अनन्त शान्त।"

आध्यात्मिकता के पैर मैने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे है। मानवता के स्वर्ग को मैने भौतिकता के ही हृदय-कमल मे स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय, निषेधात्मक तथा ऋण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन-विकास तथा जनमंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका सर्वप्रथम उदाहरण 'ज्योत्स्ना' का रूपक है। 'स्वर्ण-किरण' मे 'द्वा सुपर्णा' शीर्षक रचना मे मैंने वैदिक ऋषि के द्रष्टा तथा भोक्ता-रूपी पक्षियों (जीवो) को पृथक् रूप मे स्वीकार न कर ऋषि से प्रश्न किया है :

"कही नही क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल
विश्व वृक्ष पर वास, देखता भी है निश्चल ?
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमे सँग सँग ?"

और इसका उत्तर भी दिया है :

"ऐसा पक्षी जिसमे हो संपूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन।"

मैने कहा है शान्ति, आनन्द अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिए भू-जीवन का त्याग करन की आवश्यकता नही, उसके लिए नवीन रूप से लोक-जीवन-निर्माण करने की आवश्यकता है। 'स्वर्णकिरण' मे अपनी 'इन्द्रधनुष' तथा 'स्वर्णोदय' नामक रचनाओ मे मैंने जीवन-मूल्यो पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने की चेष्टा की है :

"हमे विश्व सस्कृति पृथ्वी पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यो से मानव उर कर निर्मित।
.. . .
नव मूल्यो से हो जो कल्पित पुनः लोक सस्कृति पर ज्योतित,
हो कृतकाम नियति मानव की, स्वर्ग धरा पर विचरे जीवित।
....
भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास मे उदित,
सहिष्णुता, सद्भाव, शाति से हो गत सस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम मानवता को करे न खडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अतर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
....

एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ ज्ञान सग्रह भव पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन !"

मानवता के भविष्य पर अपनी अमिट आस्था प्रकट करते हुए मैंने कहा है :

"सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रागण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु सघर्षण,
सस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढेगे मनुज के चरण।"

इस प्रकार पाठक देखेगे कि मैंने भौतिक-आध्यात्मिक, दोनो दर्शनो से जीवनोपयोगी तत्वों को लेकर, जड-चेतन सम्बन्धी एकागी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप मे, भरे-पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। 'वाणी' में, जिसे आप मच-काव्य या प्रवचन-काव्य भी कह सकते हैं, मेरा मानव-भविष्य का दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर 'आत्मिका' मे अवतीर्ण हुआ है :

"सत्य तथ्य विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष एक बहु के पोषक नित,
लोकश्रेय, जीवन उद्भव हित रहे विषम सम चरण समन्वित !
....
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वो मे जग खडित,
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
....
देश खड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह,
मानवता मे देश जाति हो लीन, नए युग का सत्याग्रह।
आज विशेषीकरण समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर
महत् धैर्य से गढने सबको मन के मदिर, जीवन के घर !
....
मनुज धरा को छोड़ कही भी स्वर्ग नही सभव, यह निश्चित !
....
ईश्वर से इद्रिय जीवन तक एक सचरण रे भू पावन !

ऐसे अनेक उदाहरण 'वाणी' से प्रस्तुत किए जा सकते है।

सामाजिक-सास्कृतिक मान्यताओ का विकास इस युग मे बहिरन्तर सयोजित मानवता की रचना के रूप में होना चाहिए, जिस पर अनेक दृष्टिकोणो से प्रकाश डालने की आवश्यकता है, और जिसका सर्वाधिक दायित्व हमारी नवीन पीढ़ियों की

प्रतिभाओं के कन्धों पर है। कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन-मान्यताओं का सघर्ष अत्यधिक प्रबल तथा जटिल हो गया है। 'वाणी' मे मैंने 'कवीन्द्र रवीन्द्र' शीर्षक रचना मे नवीन युग-बोध की समस्या को प्रस्तुत किया है :

"मग्न अचेतन कर्दम मे भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्वल ?
....
विश्व कवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आए, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
... .
क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम,
जागेगा सोया प्रकाश, धरती का जो तम ?
....
महाकवे, युग पलको पर झूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन।"

कवि या द्रष्टा, तन्तुवाय की तरह, अपने ही भीतर से किसी काल्पनिक सत्य का जाल नही बुनता। उसकी अन्तर्दृष्टि काल के अभ्यन्तर या विश्व-मानस मे चल रही सूक्ष्म शक्तियों की क्रीडा के प्रति सजग रहती है, वह उसी सत्य को अपने अनुभव की वाणी मे गूँथकर लोक-मानस के सम्मुख रख देता है।

युग-सघर्ष के अनेक रूपो को मैंने अपने काव्य-रूपको द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'फूलो के देश' मे मैंने सस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है। 'ध्वसशेष' में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है। 'विद्युत् वसना' मे मैंने मानव-स्वतत्रता के सिद्धान्त को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'शिल्पी' मे कला-मूल्यो तथा 'रजतशिखर' मे उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन-मान्यताओं के सघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'अप्सरा' नामक अपने काव्य रूपक मे मैंने युग-जीवन की कुरूपता से प्रस्फुटित होती नवीन सौन्दर्य-चेतना का विजय-केतन फहराया है। 'ध्वसशेष' के तृतीय दृश्य मे, जो इस सकलन मे जा रहा है, मैंने वर्तमान सभ्यता के विविध तत्वो का मूल्याकन किया है और उसके अन्तिम दृश्य मे नवीन मानवता के सास्कृतिक मूल्यो को विकसित लोकतत्र के रूप मे प्रतिष्ठित कर, ध्वस के बाद, नवीन मानव-सस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर सकेत किया है। अपने 'सौवर्ण' नामक काव्य-रूपक मे मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। उसका क्रान्ति-द्रष्टा कहता है :

"देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत, सब बरफ बन गया !
....
आह, उसे प्राणों का स्पदित ताप चाहिए,
जीने को जन मन का भावोच्छ्वास चाहिए ।"

सौवर्ण के व्यक्तित्व मे, जिसका बाह्य रूप वर्तमान जनयुग के संघर्ष की झझा का द्योतक है—सौवर्ण झझा के रथ पर चढकर आता है—मैंने जीवनोपयोगी धन आध्यात्मिकता का मानवीकरण कर भावी मानवता का स्वरूप उपस्थित किया है। अपन काव्य-रूपको को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन-प्रधान श्रव्य काव्य ही की सज्ञा दूँगा ।

'आत्मिका' शीर्षक इस सग्रह की अन्तिम रचना मे मैंने विगत युगों की आध्यात्मिकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'वाणी' की 'बुद्ध के प्रति' नामक रचना मे भी नवीन मूल्यो का प्रतिपादन मिलता है :

"जड से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रान्तिवश जन मन दुस्तर
किया अमगल उसने भू का, अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड चेतन जीवन मन आत्मा एक, अखड, अभेद्य सचरण !
....
भू पर सस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नही विरागी, सन्यासी, जीवन से उपरत !
आत्मा को प्राणो से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति !"

इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओ में मैंने धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक विचारो के आवर्तो से जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को उबारकर पाठको के मन क्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरो का सौन्दर्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जो आनेवाली मानवता की ऊँचाई, गहराई एव व्यापकता का द्योतक है। मैंने अपना जीवन-दर्शन, युग की आवश्यकताओ एव मानवता के विकास की सम्भावनाओ को सम्मुख रखकर, अनेक महान ग्रन्थो तथा महापुरुषो से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्वों को आत्मसात् कर, लोक-कल्याण एव भू-मगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्य-पट मे गुम्फित करने का साहस किया है।

'स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा' मे कही-कही दीप्त लावण्य के स्थल आये है, जिनसे मेरे कुछ मित्रो तथा आलोचको को आपत्ति है। विशेषत:, इसलिए कि उनकी सगति

मेरे आध्यात्मिक काव्य के साथ नही बैठती। कवि-दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौन्दर्य को उपभोग के गुठन मे सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के के लिए वितरित कर देती है। यह आदिकवि वाल्मीकि-काल से प्रचलित व्यास, कालिदास की परम्परा है, जिसके गवाक्ष से स्त्री-सौन्दर्य पर मधुर प्रखर भावोष्ण प्रकाश पड़ता रहा है। स्त्री की शोभा पृथ्वी पर कला की पीठिका है, उसका शील—सदाचार और अध्यात्म का द्वार। मेरी दृष्टि मे इसमे युग्म-जीवन तथा सहजीवन के मूल्यों का प्रश्न भी निहित है, जिस पर नवीन युग की भूमिका पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करना उचित होगा। भौतिक-आध्यात्मिक मान्यताओ के अतिरिक्त मेरी इस काल की रचनाओ मे रागात्मक मूल्यो का भी एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण स्तर है। आनेवाली सस्कृति के धरातल पर नारी-सौन्दर्य मानव-जीवन के उन्नयन मे बाधक न होकर सहायक ही होगा। तब नर-नारी का एक दूसरे के प्रति सहज अनुराग का चन्द्र यतियों की कृच्छ्र, जीवन-विरत कल्पना के राहु से मुक्त हो सकेगा। भावी की प्रबुद्ध मानवता के सम्मुख स्त्री-देह को 'चाम की तुच्छ थैलो' के रूप में चित्रित करना लज्जास्पद प्रतीत होता है। कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि को भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय मे वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उससे, उद्दीपन से अधिक, आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।

वास्तव मे सौन्दर्य-चित्रण से अधिक, राग-भावना के प्रति जो मौलिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, उसी पर मैंने इस उत्थान की रचनाओ मे अधिक प्रकाश डाला है। इस विषय पर, समय आने पर, अधिक गम्भीर तथा रूढि-ग्रह-मुक्त विवेचना हो सकेगी। राग-भावना को, स्वस्थ मानवता के स्तर पर, उन्मुक्त, परिणत तथा संस्कृत होना ही पड़ेगा। वैराग्यवाद तथा निषेध वर्जनाओ के आधार पर मानवता अथवा सामाजिकता से उसका उन्मूलन नही किया जा सकता। भावी पीढियो को, मैं पिछले युगो का देह-बोध का भार वहन करते हुए धूप और छाँह की तरह, दो अनमेल इकाइयो मे विच्छिन्न नही देखना चाहता। यह मात्र मध्ययुगीन नैतिक दृष्टिकोण है जो स्त्री-सम्पर्क को आध्यात्मिकता का विरोधी मानता है। सच तो यह है कि पिछली आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकागी तथा अवास्तविक रही है, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा सम्पर्क उन्नत करने के बदले कलुषित कर सका है। निश्चय ही, वह जीवनोन्मुखी अध्यात्म न होकर रिक्त, जीवन-विरत तथा अप्राकृतिक अध्यात्म रहा है, जिसका दूसरा छोर हमारा वाममार्गी, वज्रयानी साधना-पथ, तथा पडो, पुरोहितो और महन्तों का धार्मिक जीवन रहा है। स्त्री-ससर्ग तथा उच्च धर्म-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे सम्भवतः अति प्राचीन काल मे इसलिए विरोध रहा हो कि तब मनुष्य पहली बार पाशविकता तथा बर्बरता के जंगल से बाहर निकला था। अब भी, सम्भवत विशिष्ट परिस्थितियो मे,

धर्म और काम को विच्छिन्न करने की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु 'विकसित सामाजिकता के लिए स्त्री-पुरुष का सन्तुलित सस्कृत रागात्मक सहजीवन अनिवार्य सत्य है, और बहुत सम्भव है, कभी वह विभिन्न इकाइयों मे विभक्त गृहों की सकीर्ण देहलियो एव प्रागणो को लाँघकर एक अधिक व्यापक विकसित धरातल पर आत्म-सयमित स्वत निर्देशित, शील-सौम्य मानवता मे परिणत हो सकेगा।

क्षुधा-काम के सामजस्य का प्रश्न मानवता के सम्मुख महत्त्वपूर्ण तथा जटिल प्रश्न है। उदर-क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एव अर्थनीति का प्रश्न है, तो युग्म-भावना एव रागात्मकता का प्रश्न कल की सस्कृति का प्रश्न है। क्षुधा-काम तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रहकर सामाजिकता तथा सस्कृति के मूल्यो, आत्मा तथा लोक-मगल के मूल्यों मे बदल जायँगे। इन्द्रिय-विषयक मूल्य मनुष्य की पिछली बहिरन्तर की सीमाओ से निर्धारित हैं, नैतिक मूल्यो तथा लोकाचार को बदलने से पहले हमे अपनी चेतना तथा मानस के अचल को, जिसमे पिछले मूल्यो की छाप है, व्यापक, परिष्कृत रागभावना मे डुबोकर प्रक्षालित कर लेना होगा। लोककर्म से सयमित रागात्मकता वैसे भी अन्त शुद्ध होगी, जब स्त्री-पुरुष तटस्थ, आत्मस्थ, मोहमुक्त, दो समान्तर रेखाओ-से होगे, और लोकमगल के विकासशील लक्ष्य से प्रेरित होकर परस्पर सयुक्त रहेगे।

यदि हम प्राण-भावना के धरातल से अन्तश्चैतन्य के शिखर की ओर देखे, तो रति-काम की अन्त शुद्ध स्थिति ही पार्वती-परमेश्वर का रूप है, जो अन्त प्रेम मे सम्पृक्त है, और उन्ही का बहिरन्तर सन्तुलित सास्कृतिक रूप कृषियुग की परिस्थितियों के अनुरूप श्री सीताराम तथा राधाकृष्ण का युगल रूप अपने यहाँ है। स्त्री-पुरुषों के बीच रागात्मक सामजस्य सस्कृति का मूल उपादान है। वैरागियो के दमन से युग्मेच्छा का सन्तुलित उन्नयन, सस्कृति की दृष्टि से, अधिक लोकोपयोगी एव सौन्दर्य-उर्वर है। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा अवश्य ही अत्यन्त धैर्य, शील, सहिष्णुता तथा जागरूकता से ही पृथ्वी पर सम्भव है। आध्यात्मिक-लौकिक मूल्यों को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यो मे विच्छिन्न करने का यही कारण है कि मानव-राग-भावना का अभी विकास या परिष्कार नही हो सका है। इसीलिए न तो हमारा गृह-जीवन और सामाजिक जीवन ही सस्कृति की दृष्टि से पूर्ण बन सका है, न हमारे आश्रमो, तपोवनों तथा तीर्थस्थानो का जीवन ही वास्तविक अर्थ मे भगवज्जीवन बन सका है; दोनों ही एकागी, स्वर्ग (पुण्य)-भीरु तथा धरा (पाप)-भीत होकर पगु, निष्क्रिय या अर्ध-सक्रिय, अपूर्ण तथा अक्षम ही रह गये हैं; न हमारे दिव्य जीवन की ही धारणा पूर्णता प्राप्त कर सकी है, न लौकिक जीवन की ही। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमे समग्र लोक-जीवन को ही रागात्मक विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना होगा। ये विचार मैं केवल भावी सामाजिक-सास्कृतिक मूल्यों के रूप मे ही यहाँ दे रहा हूँ, जिन पर आधारित

मानव-जीवन आसक्ति-मुक्त, राग-शुद्ध, अन्त स्थित होकर घृणा, उपेक्षा, तथा कामद्वेष से रहित, व्यापक प्रेम मे सगठित हो सकेगा । वास्तव मे जिम भगवत्प्रेम को आज हम अन्तःशुद्धि तथा यम-नियमो के आधार पर मानसिक भावना के स्तर पर प्राप्त करना चाहते है, वह हमे सस्कृत लोकजीवन के धरातल पर उपलब्ध होना चाहिए । श्रीकृष्ण की रासलीला तथा चैतन्य की भावलीला मे हमे परिष्कृत राग-भावना की आशिक झाँकियाँ मिलती है ।

'युगवाणी' की 'राग-साधना' कविता से लेकर 'वाणी' की 'पुनर्मूल्याकन' रचना तक मैने अपनी अनेकानेक कृतियो मे नवयुग की इस अभीप्सा को वाणी दी है । 'मानसी' नामक गीत-रूपक मे भी मैने इसी भावना का विकास दिखाया है और 'स्वर्णोदय' मे इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है :

> "क्यो मानव यौवन वसन्त सा हो न लोकजीवन मे कुसुमित,
> मधुर प्रीति हो सामाजिक सुख, प्राणभावना आत्मसयमित !
> करे मुक्त उपभोग हृदय का नर-नारी निज रुचि से प्रेरित,
> आदर प्रीति विनय हो उर में, अग लालसा का मुख सस्कृत !
> हृदय तमस आलोक स्रोत पा हो जीवन सौन्दर्य मे द्रवित,
> प्राण कामना सृजन शील बन, धरा स्वर्ग रचना मे योजित !"

रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैने नव मानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है । स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी और समस्त मान्यताएँ तथा नैतिक-सामाजिक दृष्टिकोण मुझे अपूर्ण, कृत्रिम, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक तथा मानवता के अन्तर्विकास के लिए घातक प्रतीत हुए है । यह प्रवृत्ति-पथ नही, निवृत्ति-पथ नही; निवृत्ति-सन्तुलित, प्रीति-सयमित प्रवृत्ति-पथ है । इन्द्रिय-पथ नही, इन्द्रिय-मूल्यो पर आधारित शील-पथ है । मै साधु-सन्तो के तपोमय जीवन का प्रेमी हूँ, पर जीवन के अन्तरतम वारियों मे जो मुक्त अबाव व्यापक अनुराग की धारा बहती है उसी को मै उपर्युक्त शील-पथ के रूप मे, स्वस्थलोक-जीवन-निर्माण के लिए, प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका लक्ष्य भू-रचना तथा जनमंगल है ।

मै यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मेरा काव्य मुख्यत· आध्यात्मिक काव्य नही है, और यदि है भी, तो प्राचीन रूढ़ अर्थ मे नही, जिसमे अध्यात्म वैराग्य के सोपान पर, अन्न, प्राण मन की श्रेणियो को पारकर, केवल ऊर्ध्वमुख चिदाकाश की ओर आरोहण करता है । मेरे द्वितीय उत्थान के काव्य के लिए उपयुक्त सज्ञा होगी, नवीन चेतना-काव्य, जिसके अन्तर्गत मानव-जीवन-मन के उच्च एव समदिक् दोनो स्तरो की संस्कृत, सन्तुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नवमानवता के तत्त्व वर्तमान है । मेरी काव्य-चेतना मुख्यतः नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन

मनुष्यत्व के धरातल पर सयोजन है। मेरा काव्य प्रथमत. इस युग के महान् सघर्ष का काव्य है। जो लोग युग-सघर्ष को वर्ग-सघर्ष तक ही सीमित रखकर उसे केवल बाहरी आर्थिक-राजनीतिक स्तरो पर ही देख सकते है, उनकी बात मैं नही करता, अन्यथा 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युग-मानव एव नव मानव के अन्तरतम-सघर्ष का काव्य है। मेरी काव्य-चेतना केवल मध्ययुगीन नैतिक-बौद्धिक अन्धकार तथा जीवन के प्रति तज्जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नही सघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरन्तर के दुर्गम अवरोधो से भी निरन्तर जूझती रही है। आज के विराट् मानवीय संघर्ष को वर्ग-सघर्ष तक ही सीमित करना विगत युगो की खर्व-चेतना तथा ऐतिहासिक अन्धकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया-मात्र है। दूसरे शब्दो मे, मेरा काव्य भू-जीवन, लोक-मंगल तथा मानव-मूल्यो का काव्य है, जिसमे मनुष्यत्व और लोकगण दो भिन्न तत्त्व नही, एक दूसरे के गुण-राशिवाचक पर्याय है। वैसे तुलसी-रामायण भी लोक-मगल का काव्य है, पर वह मुख्यत आध्यात्मिक काव्य और धर्मग्रन्थ है; जिसमें लोकजीवन-सत्ता और भगवत्-सत्ता दो पृथक् मूल्यो मे विभक्त है। उसमे श्रद्धा-भक्ति से मानस अजिर उज्ज्वल रखने तथा नामकीर्तन, आराधना द्वारा अपवर्ग तथा मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश निहित है। मेरे चेतना-काव्य मे नवीन भू-जीवन तथा भगवज्जीवन "सियाराम मय सब जग जानी" के भावनात्मक अर्थ मे ही नही, इससे भी व्यापक अर्थ मे, अभिन्न सत्ता है। उसमे भगवत्-प्रेम जीवन-मुक्ति का नही, जीवन-रचना-मगल का उपादान है। तप पूत व्यक्ति का मन ईश्वर का मन्दिर है, इस पर अधिक बल न देकर मैंने सयुक्त, सस्कृत बहिरन्तर-सयोजित सामाजिक जीवन ही भगवत्-चेतना की मूर्त पीठ है और उन्नत लोक-जीवन-रचना ही भगवत्-सान्निध्य-प्राप्ति का साधन है—इसको अधिक महत्त्व दिया है। भू-जीवन तथा भगवज्जीवन के मध्य मुझे किसी प्रकार का ज्ञान-वैराग्य-जनित आध्यात्मिक व्यवधान अभिप्रेत नही है, तथा संस्कृत मानव-जीवन एवं उन्नत भू-रचना के अतिरिक्त मुझे आध्यात्मिकता के लिए अन्य उपकरण उतने मूल्यवान नहीं प्रतीत होते। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रति यह मौलिक अन्तर मेरी रचनाओ मे ध्यान देने योग्य है। विकसित, परिपूर्ण लोकजीवन ही भगवत्-पूजन का प्रतीक हो, मुझे यह अधिक स्वाभाविक लगता है। इस सम्बन्ध मे मुझे 'उत्तरा' की कुछ पक्तियाँ स्मरण आ रही है:

> "आज व्यक्ति के उतरो भीतर, निखिल विश्व मे विचरो बाहर
> कर्म वचन मन जन के उठकर बने युक्त आराधन!
> ....
> जगती मानव में देवोत्तर मिट्टी की प्रतिमाएँ नश्वर,
> युग प्रभात छवि स्नात निखरतें भू जनपद, पुर, प्रान्तर।"

धरती के जीवन से भगवत्-सत्ता को पृथक् कर, लोकमानवता के बदले किसी

कल्पना या सिद्धि के मन स्वर्ग मे, ध्यान-धारणा के शिखर पर, ईश्वर-साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है। इससे मानव-जीवन का हित होने के बदले उसकी उपेक्षा एव अहित ही हुआ है। एक ही अखड सत्य की सत्ता पारलौकिक-ऐहिक रूपो मे विभक्त हो गयी है। मध्ययुग की समस्त नैतिकता और सदाचार के मानदड तथा भगवत्-सम्बन्धी ज्ञान, आध्यात्मिक मान्यताएँ और विचारधाराएं इसका उदाहरण है। भौतिक-आध्यात्मिक सचरणो का परस्पर विरोधी समझ जाने का भी यही कारण है, क्योकि समतल जीवन की उपेक्षा के कारण ऊर्ध्व के साथ उसका सयोजन नही किया जा सका। यह सच होने पर भी, हमे मध्ययुगीन विचारको, दार्शनिकों, सन्तो तथा कवियों के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, जिन्होने उस घोर सास्कृतिक विघटन, ह्रास के कुहासे, जोवन-नैराश्य तथा धरती के अन्धकार से निरन्तर संघर्ष कर, हमारे भीतर किसी न किसी रूप मे, सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखा है। किन्तु नवीन युग को, इस जड़ धरती के जीवन को ही उच्च विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना है। विज्ञान और धर्म को भविष्य मे नव मानवता के रूप मे सयोजित होना है.

"ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर,
अन्य न जीवन परिणति।"

हमारी अनेक ऊर्ध्व (आध्यात्मिक) मान्यताएँ इसलिए भी रहस्य मे खोई हुई आकाश-कुसुम-सी लगती है कि वे समदिक् लौकिक जीवन से विच्छिन्न तथा असयोजित रहने के कारण उच्च सिद्धान्तो के सूक्ष्म धरातल पर भी ठीक से ग्रहण नही की जा सकी हैं। इसलिए, एक दृष्टि से, पुरानी दुनिया का अध्यात्म तथा ईश्वर-बोध, अधिकतर कल्पना ही मे लिपटा हुआ रह गया है। मेरी दृष्टि मे भू-जीवन को भगवज्जीवन बनाने के लिए हमे कही ऊपर नही खो जाना है, प्रत्युत् जीवन-आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यो को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव-जीवन के रक्तमास के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है, वह जोवन-मगल की द्योतक नहीं हो सकती। मुझे यह अनुभूति 'युगवाणी-ग्राम्या'-काल ही मे हो चुकी थी। 'युगवाणी' की 'मानव-पशु', 'जीवन-तम, 'राग', 'रागसाधना' तथा 'जीवन-मास' आदि रचनाएँ मेरी इसी अनुभव की द्योतक है, "ईश्वर है यह मास, पूर्ण यह!" या "रूपमास है अमर प्रकाश!" कहकर मैंने 'युगवाणी" मे रूप-मास अर्थात् सस्कृति-शुद्ध जीवन ही को भगवत्प्रकाश का मूर्त उपादान बतलाया है।

जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, मै आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, वैराग्य के स्फटिक शीत मन्दिर मे रहकर, सम्भव नही मानता। वह तो

पुरानी आध्यात्मिकता है जिसने भगवत्-चेतना को जीवन मे प्रतिष्ठित करने के बदले "भूतेषु-भूतेषु विचिन्त्य धीरा" कहकर, अन्तरतम मे उसके अमृत प्रकाश का स्पर्श पाकर, सन्तोष कर लिया। जगत् या सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है, उसे विकास-क्रम मे मनुष्य के सामाजिक जीवन एव विश्व-जीवन मे मूर्त होना ही चाहिए; यही मेरी दृष्टि मे मात्र भागवत साक्षात्कार है—ईश्वरत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना, और सब चाहे भले ही ईश्वर-बोध हो। भगवत्-साक्षात्कार मेरे चेतना-काव्य मे एक लम्बी विकासशील सामाजिक प्रणाली है। दूसरा यह कि इन्द्रिय-जीवन तथा भागवत जीवन मे विरोध मानना, मेरी दृष्टि मे, भ्रम है। संस्कृत सन्तुलित इन्द्रिय-जीवन ही मे—जो अन्तत सामूहिक या सामाजिक स्तर पर ही पूर्णतः सम्भव हो सकता है—केवल भागवत जीवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। उपनिषदो का "स प्रत्यागाच्छुक्रमकायमव्रण" ब्रह्म सत्य है; वह जीवन-चेतना का अन्तरतम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मात्पर, शाश्वत, अतिचेतन स्तर है। किन्तु पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उसे प्राप्त करने या आत्ममुक्ति के अनुसन्धान मे उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श का प्रश्न रहा है। हमारा युग-सत्य है—जगत्-जीवन और भू-क्षेत्र को ही ब्रह्म की मूर्तिमान वास्तविकता मे परिणत करना। ऐसे अन्त सगठित जीवन मे नि सन्देह राग-द्वेष, लोभ-मोह, क्रोध-अहकार आदि की उपयोगिता नही रहेगी—जोकि विकास-पथ के स्थूल और क्रूर साधन रहे है—और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति तथा सहज व्यापक पवित्रता मे परिणत हो जाएगी। जिस सीमित नैतिक या धार्मिक अर्थ मे पवित्रता का प्रयोग होता है, उस अर्थ मे नही, जीवन का व्यापक सचरण ही अपनी समग्रता मे अन्त सन्तुलित होकर मन में पवित्रता का उद्रेक करेगा; पवित्रता के अर्थ मे अधिक घनत्व तथा वास्तविकता आ जाएगी। जैसा मैंने 'ज्योत्स्ना' मे भी प्रतिपादित किया है; आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति आदि उस सृजन-चेतना के मौलिक मूलभूत गुण है, जो सृष्टितत्त्व मे अभिव्यक्त हुई है, और मानव-जगत् को उसी सत्य का दर्पण बनाना है। यही एकमात्र सभ्यता, सस्कृति तथा धर्मो का अनादिकाल से प्रश्न और लक्ष्य रहा है। इतिहास के उत्थान-पतन तो मानव-समाज के अपने अन्त.सत्य के अपरिचय तथा ब्रह्माड के अन्त.स्वरूप के अज्ञान तथा उन्नत जीवन-साधना के अभाव के कारण, विकास-क्रम की श्रान्ति, क्लान्ति, उद्वेग-जनित, अश्रुस्वेद-रक्तमय, बाहरी वास्तविकता के छिलके-भर हैं।

मेरी प्रेरणा के स्रोत, नि सन्देह मेरे ही भीतर रहे है, जिन्हे युग की वास्तविकता ने सीचकर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अन्तर के प्रकाश मे ही बाह्य प्रभावो को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने समस्त प्रेरकों, शिक्षको तथा अभिभावकों के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके

सम्पर्क मे आकर मै कुछ सीख सका हूँ। मै न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही, न मेरा अपना ही कोई दर्शन है, और न मुझे यही लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि-मन के प्रकाश-स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह है, जिन्हे मैंने अपनी रचनाओ मे शब्द-मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पखो से मै जिन सौन्दर्य-क्षितिजो को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यो से अधिक प्रकाशवान एव सजीव लगते हैं। दर्शन-ग्रन्थो तथा महापुरुषो के वचनो मे अपनी भावात्मक उपलब्धियो का समर्थन पाकर मै आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे उससे मनोबल भी प्राप्त हुआ है। मेरे काव्य-दर्शन की कुजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' मे है। उसी के भौतिक सचरण का विकास मेरे मन में मार्क्स-वाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मै अपनी भौतिक जीवन-सम्बन्धी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ-सगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। 'ज्योत्स्ना' का चेतनात्मक सचरण मेरी उत्तर-रचनाओ मे पूर्व-पश्चिम के दर्शनो तथा विचारधाराओ के अध्ययन-मनन तथा गाधी जी और श्री अरविन्द के महत् सम्पर्क मे आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है। सामूहिक जीवन-निर्माण के लिए गाधी जी का सक्रिय अहिंसा का सास्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानो मे रहेगा। 'युगान्तर' मे मैंने गाधी जी को इन शब्दों में स्मरण किया है.

"आत्म दान से लोक सत्य को दे नव जीवन
नव संस्कृति की शिला रख गए भू पर चेतन !
....
आओ, उसकी अक्षय स्मृति को नीव बनाएँ
उस पर सस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ।
स्वर्ण शुभ्र धर सत्य कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
विश्व प्रेम मे खोल अहिंसा के गवाक्ष वर !"

'वाणी' मे श्री अरविन्द को नवयुग-सारथि के रूप मे मैंने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है :

"सारथि श्री अरविन्द रहे तब ऐसे भगवत द्रष्टा भू पर
विश्व ग्लानि कर गए विलय जो अति मानस से धर्म हानि भर !
प्रात. रवि सा स्फुरत् रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्वल
भू मानस मे पूर्ण प्रस्फुटित अत स्वर्णिम हो सहस्रदल !"

मैंने अपनी काव्य-चेतना मे अन्न-प्राण मन के विकसित, सस्कृत जीवन से विच्छिन्न किसी उच्च जीवन की कल्पना को स्वीकार नही किया है। एक तो वह लोक-जीवन एव सामाजिकता की दृष्टि से सम्भव नही, दूसरा वह इन्द्रिय-

संस्कारों की परिणति को, उसकी मौलिक चेतनाओ की क्रियाओ को अग्राह्य कर सम्भव बतलाती है। मुझे उन्नत इन्द्रिय-जीवन अदिव्य तथा अपावन नही लगता है, भागवत् चेतना ही इन्द्रियो मे प्ररोहित प्रतीत होती है। इस भावना को मैंने अनेक रूप से व्यक्त किया है :

"मैं उपकृत इन्द्रियो, रूप रस गन्ध स्पर्श स्वर,
लीला द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर
अप्सरियो से दीपित सुरधनुओ के अम्बर,
निज असीम शोभाओ मे तुम पर न्योछावर !

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित यह ग्रह ग्रथित रग भव सर्जित
प्रकृति इन्द्रियों का दे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित !
नही सन्त कुल हुआ सन्त रे, जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का, मनुज करे जग जीवन निर्मित !"

मैं पूर्ण विकसित लोकजीवन के ही रूप मे, मुख्यत, भगवत्-सत्ता या चेतना का मूर्त विकास सम्भव मानता हूँ। महापुरुषो, सिद्धो, योगियो तथा विशिष्ट व्यक्तियो मे भी भगवत्-चेतना के विशेष रूपो तथा गुणो की पूर्ण या आशिक अभिव्यक्ति हो सकती है, और वह सामूहिक उपलब्धि के स्तर से, एक प्रकार से, अधिक सूक्ष्म, उच्च और पूर्ण भी हो सकती है। पर मैन इस युग मे अधिक महत्त्व भू-जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमे व्यापक से व्यापक अर्थ मे भागवत गुणो का अवतरण एव भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। 'ज्योत्स्ना' के अन्तिम दृश्य में, नवयुग-प्रभात के रूप मे, मैंने भू-जीवन के स्तर पर, नवीन चेतना के इसी सत्य की परिणति दिखलाई है। मै अब भी यही सोचता हूँ कि समस्त ज्ञान-विज्ञान, अर्थ-तन्त्र आदि का संचय एव उपयोग नव-मानवता के लिए धरा-स्वर्ग की शुभ रचना करने ही में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मात्र सैद्धान्तिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा सम्पूर्ण है; उसी मे एकमात्र अनन्त पीढ़ियों मे व्याप्त मानव-जीवन के अमरत्व की चरितार्थता है। यह जैसे आँख खोलकर ईश्वर का ध्यान अथवा भगवत्-सत्ता का साक्षात्कार करना है। निश्चय ही इन्द्रियगोचर होने से परात्पर या इन्द्रियातीत सीमित नही हो जाता, न उसमें अन्तर या भेद ही आता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आशिक सत्य हैं, उनसे पूर्ण सत्य है सूक्ष्म-स्थूल का सामजस्य। आज जो अन्तर्दृष्टि या ऊर्ध्व स्तर का सत्य है, कल वह बहिर्दृष्टि को समतल पर भी सुलभ हो सकेगा।

ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति मे, विशेष ज्ञान-सस्थानो तथा आश्रमो में, हमे विशिष्ट उच्चतम मान्यताओ के आधार पर, अन्तर्मन तथा अन्तर्जीवन

के सगठन-सयोजन के लिए, ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पडेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के सम्पर्क मे आकर अन्तश्चेतन के आलोक तथा अन्तर्वैज्ञानिक सिद्धियो के द्वारा लोकजीवन के विकास-पक्ष की बाधाओ तथा व्यवधानो को हटाने, मानस-ग्रन्थियो को सुलझाने एव विश्व-जीवन का उन्नयन करने मे सफल हो सकेगे। ऐसे तपोवन तथा साधना-द्वार हमारे देश की विशपता रहे है। वे सदैव हमारी श्रद्धा-भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र और हमारी चेतना-विषयक उच्च प्रयोगशालाएँ रहेगे, जहाँ से हमे शान्ति, पवित्रता, आनन्द, भगवत्-प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओ तथा सद्विचारो का अक्षय दान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैने 'उत्तरा' की भूमिका मे भी लिखा है, हमारा देश अन्तर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है। मुझे गगा-तट पर, जो भस्म रमाए हुए, जटाधारी साधु, एक हाथ ऊपर उठाए, या लोहे की प्रखर शलाकाओ पर लेटे मिलते है, उन्हे भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य सम्बन्धी प्रयोक्ताओ के ही रूप मे देखता है, जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनो से कर सकते है। ऐसे अनेक प्रकार के सम्प्रदाय आज प्राचीन प्रारम्भिक पद्धतियो के अवशिष्ट स्मृति-चिह्न तथा "उदर निमित्त बहुकृत वेश." आदि पाखड-मात्र रह गए है।

आज के सघर्ष और सहार के युग मे मेरे उपर्युक्त विचार तथा मान्यताएँ आधुनिक यथार्थवादियो को स्वप्न-कल्पित अतिरजनाएँ-मात्र प्रतीत हो सकती है। किन्तु आज के पक्षधर आलोचको की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वग्रहों मे खडित और विभक्त पाठकों की रुचियो के निर्णयो पर निर्भर रहकर मेरा जैसा 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागर' अल्पमति कवि सृजन-कर्म नही कर सकता। उसे नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत्-करुणा पर विश्वास रखकर अपनी अन्तरतम अनुभूतियो, प्रेरणाओ एव प्रकाश पर ही अवलम्बित रहना पडेगा। वर्तमान के सघर्ष और सहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज सवेदनशील हृदयो के भीतर नवीन चेतना-ज्वारो मे उठकर मानव-अन्तर के नव जीवन-बोध के स्तरो को स्पर्श कर रहा है, उसका मगल सन्देश कैसे भुलाया जा सकता है ? आज के भू-व्यापी सघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा सहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव-समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजो, नवीन जीवन-बोध के धरातलों तथा महत्तर सामजस्य की भूमिकाओ की ओर अग्रसर कर रहा है। निःसन्देह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयो का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजन-प्रेरणा का श्रेय उसी को है।

इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव-जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों मे सामजस्य अथवा सन्तुलन का अभाव। आज हमे भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श-सम्बन्धी अपनी पिछली धारणाओ को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक दूसरे के

निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे मे या तो हम मध्य-युगीन अभावो एव निषेधो के कुहासो के पार न देख पाने के कारण उदासीन है, या पश्चिम के अन्ध अनुकरण के कारण वाह्य युग-जीवन के अन्धकार मे भटक गए है। आज के बडे राष्ट्रो को, जो भू-जीवन के विकास तथा उन्नयन को अवरुद्ध किए हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन-यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी धरती की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे है और विज्ञान को जीवन-निर्माण तथा मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले, उसके पखो के ताप मे आणविक डिम्बो एव विनाश के विस्फोटको को सेकर, अपनी ऋण-सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे है। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रान्त हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व-जीवन एव मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे है। मुझ मानव-चेतना पर विश्वास है, वह इस अणु-सहार के नृशस हिस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना-मगल की दिशा एव भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।

जो नवीन प्रकाश मनुष्य के मन क्षितिज मे उदय हो रहा है उसी के आलोक में नवीन मानवता का निर्माण भविष्य मे सम्भव है। आज की बौनी, खडित, अपर्याप्त मान्यताओ से सचमुच ही आनेवाले मनुष्य का काम नही चल सकेगा, चाहे वह चन्द्र-लोक मे रहे या मंगल-लोक मे। 'वाणी' में मैने प्रश्न किया है —

"चन्द्रकलश प्रासाद रचोगे तुम दिग्विस्तृत ?
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य अखडित ?
कैसा नव चैतन्य ? मानसी भूति अपरिमित ?
कैसा सस्कृत जन जीवन सौन्दर्य अकल्पित ?
अणु बम वहाँ बनाएँगे क्या सभ्य शिष्ट नर ?
शीत युद्ध से कम्पित कर शकित भू पजर ?" इत्यादि।

आज के युग का सन्देह, अविश्वास, जीवन-सघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी-भीतरी क्रान्तियाँ—अर्थशक्ति-संचय, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के आमूल रूपान्तर के अग्रदूत हैं—इनका कोई दूसरा अर्थ नही हो सकता। मनुष्य के अन्त.करण मे जो अपापविद्ध, स्वयशुद्ध, शाश्वत अमृतत्व है, उसकी अन्य क्या सार्थकता या परिणति हो सकती है ? मानव-जीवन की, युगो के अन्धकार एवं नैतिक सकीर्णता की कलक-कालिमा मे सनी चेतना की चादर को—जिसे कबीर जतन से ओढकर ज्यो की त्यो रख गए थे—नवीन प्रकाश के जल मे डुबोकर, उसे संस्कृति के व्यापक मूल्यो की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें

सबके ओढ़ने योग्य बनाना होगा । नही तो अन्तरिक्ष के दीप्त ग्रहो मे मन के इस अन्धकार को ले जाने से क्या लाभ हो सकता है ? आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एकदेशीय आध्यात्मिकता या सस्कृति का नया सस्करण प्रस्तुत करना नही है, जैसा मध्ययुगो मे रहा है, आज समस्त मानवता तथा विश्व-जीवन को एक सक्रिय, जीवनोपयोगी, आध्यात्मिक चेतना तथा सास्कृतिक पीठिका प्रदान करना है । आनेवाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का । वह देशो (दिशा) की सीमाओ एव विभेदो को अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा । आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त, उसके भीतर, एक अन्तरवास्तविकता एव अन्तश्चेतना का उदय तथा विकास होगा । वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा । वही, काल के हृदय-कमल मे स्थित, कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा—जिसे धारण कर धरती, सूर्य की परिक्रमा करने मे, गौरव का अनुभव करेगी । इस मानव को सम्बोधित कर 'बुद्ध के प्रति' रचना की अन्तिम प्रार्थना उद्धृत करता हूँ :

"आओ, शान्त, कान्त, वर, सुन्दर, धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण !
विचरो नव युग पान्थ, बुद्ध बन, जन भू मन करता अभिवादन !
अणु रचना के भूति-मच पर हो सुखान्त मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन !"

अन्त मे, इस भूमिका के रूप मे प्रस्तुत अपने विचारो, विश्वासों तथा जीवन-मान्यताओं की त्रुटियों एव कमियो के सम्बन्ध मे पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करते हुए, अपनी द्वितीय उत्थान की सृजन-चेतना के चरण-चिह्नो को यहीं समय के बालू पर छोड़कर, नवीन रचना-भूमिका मे प्रवेश करने के उत्साह मे, मैं अपने अतीत के इस स्वप्न-भारनत संस्मरणों से विदा लेता हूँ .

'स्वस्ति, चेतना काव्य के काल,
रजत मानस के स्वर्ण मराल,
रश्मि दीपित कवि भाल !"

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
६ सितम्बर, १९५८

सुमित्रानन्दन पन्त

द्वितीय खंड

मेरा रचना-काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहले आप मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी मे चलिए। आपने अल्मोडे का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी मे पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृगार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकान्त मे बैठकर अपना पल-पल-परिवर्तित वेश सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ, तब मैं छोटा-सा चचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य कठ अभी तक फूटा नही था, पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय मे वह अपनी मीठी, स्वप्नो से भरी हुई, चुप्पी अकित कर चुकी थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरो मे बज उठी। पहाडी पेडो का क्षितिज न जाने कितने गहरे-हल्के रगो के फूलो और कोपलो मे मर्मर ध्वनि कर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रगीन सुगन्धित तहे जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदु-बोली-सी' अपनी उस हृदय की गुजार को मैंने अपने 'वीणा' नामक सग्रह मे 'यह तो तुतली बोली मे है एक बालिका का उपहार!' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरो की तरह उठने लगी थी, जिन पर खडा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखो के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना के पट पर रगीन रेखाएँ खीच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखो को चकाचौध कर चुकी थी, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तप पूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। मै छुटपन से ही जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर मे मुझे 'मेघदूत', 'शकुन्तला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका मे प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था, जो मेरे मन मे भरे हुए अवाक् सौन्दर्य को जैसे वाणी की झंकारो मे झनझना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था। मेरे बडे भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खडीबोली मे, और पहाडी मे भी, प्राय कविता लिखते थे। मेरे मन मे तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारम्भिक प्रयास भी शुरू हो गये थे, जिन्हे मुझे किसी को दिखाने का साहस नही

होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मैं अल्मोड़ा हाईस्कूल मे पढने चला गया। अल्मोडा मे उन दिनो जैसे हिन्दी की बाढ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवको के साथ मै भी उस बाढ मे बह गया। पन्द्रह-सोलह साल की उम्र मे मैने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना आरम्भ कर दिया था। मै तब आठवी कक्षा मे था। हिन्दी साहित्य मे तब जो कुछ भी सुलभ था, उसे मैं बडे चाव से पढता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध' 'रग मे भग' आदि रचनाओ से प्रभावित होकर मै हिन्दी के प्रचलित छन्दो की साधना मे तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों मे, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक मे तथा मासिक पत्रिका 'मर्यादा' मे प्रकाशित हुए थे। इन वर्षों की रचनाओ को मैं प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १९१८ से २० तक की अधिकाश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-सग्रह में छपी हैं। 'वीणा'-काल मे मैने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओ को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है, फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इन्द्रधनुष ओस-तारे, नदी-झरने, ऊषा-सन्ध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनो की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सँजोये हुए है।

'छोड द्रुमो की मृदु छाया,
तोड प्रकृति मे भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

——इत्यादि सरल भावनाओ को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले मे बाँहे डाले प्राकृतिक सौन्दर्य के छायापथ में विहार कर रही है:

"उस फैली हरियाली मे
कौन अकेली खेल रही माँ,
सजा हृदय की थाली मे,
क्रीडा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक मुख सरल हुलास!"

इन पक्तियो मे चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौन्दर्य-ज्ञान उस ओसो के हँसमुख वन-सा था, जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नो से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नही प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ

की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन-परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को सम्बोधन करके लिखे गये है

"माँ, मेरे जीवन की हार

तेरा उज्वल हृदय हार हो अश्रुकणो का यह उपहार"

—आदि रचनाओ मे प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतो मे मैने अपने मन के इन्ही उच्छ्वासो एव उद्गारो को भरकर स्वर-साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अग्रेजी रचनाओ मे मुझे अपने हृदय मे छिपे सौन्दर्य और रुचि की अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १९१६ की बात है, मै तब बनारस मे था। मैने रवीन्द्र-साहित्य बॅगला मे भी पढना शुरू कर दिया था। 'रघुवश' के कुछ सर्ग भी देख चुका था। 'रघुवश' के उस विशाल स्फटिक प्रासाद के झरोखो और लोचन-कुवलयित गवाक्षो से मुझे रघु के वशजो के वर्णन के रूप मे कालिदास की उदात्त कल्पना की सुन्दर झाँकी मिलने लगी थी। मै तब भावना के सूत्र मे शब्दो की गुरियो को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्ही दिनो मैने 'ग्रन्थि' नामक वियोगान्त खड-काव्य लिखा था। 'ग्रन्थि' के कथानक को दु खान्त बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के आरम्भ मे ही मेरे जीवन के बारे मे भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' मे प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेशकर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था। १९१६ की जुलाई मे मै कालेज पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही मे रहा। यहाँ मेरा काव्य-सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अग्रेजी कवियो से मैने बहुत-कुछ सीखा। मेरे मन मे शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओ का प्रारम्भ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यजना 'पल्लव' मे अधिक प्राजल एव परिपक्व रूप मे हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मासल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक सवेदनशील बन गयी है; 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', निर्झरी', 'विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओ मे वह प्रकृति के रगजगत् मे अभिनय करती-सी दिखाई देती है। अब उसे तुहिन-वन मे छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नही छिपाना चाहती कि उसके हृदय मे कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अचल अब आँसुओं से

गीला जान पड़ता है, उनकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का मुखर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलो के कटोरो से मधुपान करने को व्याकुल है। सरोवर की चचल लहरी उनमे आँखमिचौनी खेलकर उसके व्याकुल हृदय को दिव्य प्रेरणा से आश्वासन देने लगी है। वह उससे कहता है :

'मुग्धा की-सी मृदु मुसकान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता मे अचिर,—महान
दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास!"

सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन मे मैंने कालेज छोड दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास मे ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रन्थि-बन्धन जोडना निश्चय किया है। 'वीणा' मे मैंने ठीक ही कहा था -

"प्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दो में जीवन लाओ!"

बडी-बडी अट्टालिकाओं और प्रासादो से लेकर छोटी-छोटी झाड-फूस की कुटियों से जनाकीर्ण इस जगत् मे मुझे रहने के लिए मन का एकान्त छायावन मिला, जिसमे वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगो से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन-मनन और चिन्तन ही मे अधिक व्यतीत हुआ। १९२१ मे मैंने 'उच्छ्वास' नामक प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू'। मेरे तरुण-हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भविष्य-जीवन भी जैसे स्वप्नो और भावनाओ के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया :

"उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर
रव शेष रह गये है निर्झर,
लो, टूट पडा भू पर अम्बर!
धँस गये धरा मे सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यो जलद यान मे विचिर विचर, था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल!"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरो से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत्, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकाक्षाओं से भरे हुए हृदय को, अनन्त विचारो, मतान्तरो, रूढियो, रीतियो की भूल-भुलैया-सा लगता था, जैसे मेरे आँखों के सामने से ओझल हो गया। यौवन के आवेशो से उठ रहे वाष्पो के ऊपर मेरे हृदय मे जैसे एक नवीन अन्तरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बडी अनेक रचनाओ मे जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओ की सीढियाँ चढती हुई, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे मेरे उस काल के हृदय-मन्थन और बौद्धिक सघर्ष की विशाल दर्पण-सी है, जिसमे 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास एव जीवन की सग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियो से भरे बादल की तरह प्रतिबिम्बित है। इस अनित्य जगत् मे नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन मे जैसे 'परिवर्तन' के रचना-काल से ही प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसन्धान का केवल प्रतीक-मात्र है। हृदयमन्थन का दूसरा रूप आप आगे चलकर 'गुजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओ मे पायेगे।

मैं प्रारम्भ मे आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौन्दर्य की, जुगनुओं से जगमगाती हुई, घाटी मे घुमाकर धीरे-धीरे कर्म-कोलाहल से भरे ससार की ओर ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अन्तिम कुछ पक्तियो मे जैसे इन चालीस वर्षो का इतिहास आ गया है:

"अहे महाम्बुधि, लहरो-से शत लोक चराचर
क्रीडा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुग तरगो-से शत युग, शत शत कल्पान्तर
उगल, महोदर मे विलीन करते तुम सत्वर!"

मेरा जन्म सन् १९०० मे हुआ है, और १९४७ तक मै जैसे इस सक्रमणशील युग के प्राय: अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनो को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतन्त्रता के अदम्य सग्राम से आन्दोलित रहा। उसके मनोजगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी—जैसे

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण,
हिमताप पीत मधुवात भीत तुम वीतराग जड़ पुराचीन!"

—का सन्देश बखेरती रही है। दुनिया इन वर्षो मे दो महायुद्ध देख चुकी है:

"बहा नर शोणित मूसल धार
रुडमुडों की कर बौछार,
छेड़ खर शस्त्रो की झकार
महाभारत गाता संसार!—"

'परिवर्तन' की इन पक्तियो मे जैसे इन्ही वर्षो के इतिहास का दिग्घोष भरा हुआ है। मनुष्य-जाति की चेतना इन वर्षो मे कितने ही परिवर्तनो और हाहाकारो से होकर विकसित हो गयी है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए, बिलो मे छेडे हुए साँपों की तरह, फन उठाकर फूत्कार करती रही है।

यह सब इस युग मे क्यो हुआ? मानव-जाति प्रलय-वेग से किस ओर जा रही है? मानव-सभ्यता का क्या होगा? इस भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गो, देशो, राष्ट्रों के स्वार्थों में खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दिशा को होना चाहिए?—इन प्रश्नो और शकाओ का समाधान मैंने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया। 'ज्योत्स्ना' मे वेदव्रत कहता है · "जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकागी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामो से नष्ट हुई, उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकागी प्रकृतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल मे डूब गयी। पश्चिम के जडवाद की मासल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भरकर एव अध्यात्मवाद के अस्थिपजर मे भूत या जड-विज्ञान के रूप-रगो को भरकर हमने आनेवाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।"

'ज्योत्स्ना' मे मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है, 'गुजन' मे उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुजन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से सम्बद्ध है। 'गुजन' की 'अप्सरी' मे 'ज्योत्स्ना' की ही भावना-धारा को व्यक्तित्व दिया गया है। कला की दृष्टि से 'गुजन' की शैली 'पल्लव' की तरह मासल एवं ऐन्द्रिय रूप-रगो से भरी हुई नही है, उसकी व्यजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भावप्रवण है। उसमें 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नही है, पर भावों की सच्चाई और चिन्तन की गहराई है।

'गुजन'-काल के इन अनेक वर्षो के ऊहापोह, सघर्ष और सन्धि-पराभव के बाद आप मुझे 'युगान्त' के कवि के रूप मे देखते है। 'युगान्त' के मरु मे मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुँधले पद-चिह्न पड़े हुए है। वही चिन्तन के भार से डगमगात हुए पैर जैसे 'पाँच कहानियो' की पगडडियो मे भी भटक गये है।

'युगान्त' मे मै निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। मैंन जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था, उनका आभास 'ज्योत्स्ना' मे पहले ही दे चुका हूँ। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों के आधारों का समन्वय मैंन 'युगवाणी' के 'युगदर्शन' मे किया है। 'युगदर्शन' मे मैंने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धान्तो का जहाँ समर्थन किया है, वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ

समन्वय एवं सश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है; 'भौतिकवाद के प्रति' रचना में, मानव-जीवन की बहिर्गतियो का वैज्ञानिक निरूपण कर मैंने अपने वयोवृद्ध विचारकों में जीवन तथा जगत् के प्रति जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पायी जाती है उसे दूर करने का प्रयत्न किया है तथा अध्यात्म-दर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवकों में भ्रान्त धारणाएँ फैली है, उस पर भी प्रकाश डाला है। मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे मध्ययुग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खडन किया है। 'ग्राम्या' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० मे पहुँच गये हैं। इस बीच मे हिन्दी साहित्य की सृजनशीलता हिन्दुस्तानी के स्वादहीन आन्दोलन से तथा उसके बाद १९४२ के आन्दोलन से काफी प्रभावित रही। दोनों आन्दोलनो से हिन्दी की सृजनशील चेतना को अपने-अपने ढग का धक्का पहुँचा, और दोनो ने ही उसे पर्याप्त मात्रा मे चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूंघट पड़ा रहा। इसके उपरान्त सन् १९२९ की तरह मैं अपने मानसिक संघर्ष के कारण प्राय: दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओ के दो सग्रह 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के नामो से प्रकाशित हुए हैं। 'स्वर्ण-किरण"मे स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के प्रतीक के रूपमे किया है। उसमे मुख्यत. चेतना-प्रधान कविताएँ हैं। 'स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि मे मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप मे अकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' मे मैंने, पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियो का विभाजन हुआ है, उनमे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन एव धरती की चेतना-सम्बन्धी समस्याओ का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगो की सस्कृतियों को विकसित मानववाद मे बाँधकर मैंने भू-जीवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद उद्धृत कर इस वार्ता को समाप्त करता हूँ :

"भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति से हो गत सस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन !"

मैं और मेरी कला

जब मैंने पहले लिखना प्रारम्भ किया था, तब मेरे चारो ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियो तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी ! और किसी भी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नही, जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारो ओर की सामाजिक परिस्थितियाँ तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थी, उनके चिर परिचित पदार्थ मे मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नही था। फलत. मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकृति की ही लीला-भूमि मे लिखी गयी हैं। पर्वत-प्रान्त की प्रकृति के नित्य नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वत ही, जैसे किसी अन्तर्विवशता के कारण, पक्षियो तथा मधुपो के स्वरो मे स्वर मिलाकर, जिन्हे तब मैंने विहग-बालिका तथा मधुबाला कहकर सम्बोधित किया है, पहले-पहल गुनगुनाना सीखा है।

मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' नामक सग्रह के रूप मे प्रकाशित हुई है। इन रचनाओ मे प्रकृति ही अनेक रूप धरकर, चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्यपट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिडियाँ, भौरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरे आदि, जैसे मेरी बाल-कल्पना के छायावन मे मिलकर वाद्य-तरग बजाते रहे है ·

"प्रथम रश्मि का आना रगिणि, तूने कैसे पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?"

अथवा "आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव मे भरकर, अपने कवि के गीत मनोहर,
फैला आओ वन-वन घर-घर, नाचे तृण तरु पात।"

आदि गीत आपको 'वीणा' मे मिलेंगे जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

"उस फैली हरियाली मे—कौन अकेली खेल रही माँ,
वह अपनी वयबाली मे ?"

अथवा "छोड द्रुमो की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

आदि उस समय की अनेक रचनाएँ तब मेरे प्रकृति-विहारी होने की साक्षी है।

जिस प्रकार प्रकृति ने मेरे किशोर हृदय को अपने सौन्दर्य से मोहित किया है,

उसी प्रकार पर्वत-प्रदेश की निर्वाक् अलध्य गरिमा तथा हिमराशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमे अपने रहस्यमय मौन सगीत की स्वरलिपि भी अकित की है। पर्वत-श्रेणियो का वह नीरव सन्देश मेरी प्रारम्भिक रचनाओ मे विराट् भावनाओ अथवा उदात्त स्वरो मे अवश्य नही अभिव्यक्त हो सका है, किन्तु मेरे रूप-चित्रो के भीतर से एक प्रकार का अरूप सौन्दर्य यत्र-तत्र अवश्य छलकता रहा है, और मेरी किशोर दृष्टि को चमत्कृत करनेवाले प्राकृतिक सौन्दर्य मे एक गम्भीर अवर्णनीय पवित्रता की भावना का भी अपनेआप ही समावेश हो गया है :

"अब न अगोचर रहो सुजान,
निशानाथ के प्रियवर सहचर, अन्धकार, स्वप्नो के यान,
तुम किसके पद की छाया हो किसका करते हो अभिमान ?"

अथवा "तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर, कुमुद किरण से उतर-उतर,
मा, तेरे प्रिय पद पद्मो मे मैं, अर्पण जीवन को कर दूँ।
इस ऊषा की लाली मे!"

आदि पक्तियो मे पर्वत-प्रदेश के रहस्यमय अन्धकार की गम्भीरता और वहाँ के प्रभात की पावनता तथा निर्मलता एक अन्तर्वातावरण की तरह अथवा सूक्ष्माकाश की तरह व्याप्त है। 'वीणा' की रचनाओ मे मेरे अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस्य-सकेत तथा प्रेरणा-बोध से पूरा कर दिया है। उनके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का टहटहापन, सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फूटकर स्वत: काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गयी है।

'वीणा' के बाद की रचनाएँ मेरे 'पल्लव' नामक सग्रह मे प्रकाशित हुई हैं। 'पल्लव'-काल मे मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूप-रेखाओ में प्राकृतिक सौन्दर्य तथा उसकी रगीनी तो वर्तमान है, किन्तु केवल प्रभावो के रूप मे—उससे वह सान्निध्य का सन्देश लुप्त हो जाता है।

"कहो हे सुन्दर विहग कुमारि, कहाँ से आया यह प्रिय गान ?
अथवा
सिखा दो ना, हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।"

आदि 'पल्लव'-काल की रचनाओ मे विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान है, उनके प्रति हृदय की ममता भी ज्यो की त्यो बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक-भर रह गये हैं। उनके शब्दो मे कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नही। प्रकृति के उपकरण रागवृत्ति के स्वर बन गये है, वे अकलुष ऐन्द्रिय मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नही रह गये है। 'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौन्दर्य का सहवास 'पल्लव' की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा मे परिणत

हो गयी है। 'वीणा' की रचनाओं मे जो स्वाभाविकता मिलती है, वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन मे बदल गयी है। बाहर का रहस्यमय पर्वत-प्रदेश आँखो के सामने से ओझल हो जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आँखो को विस्मित करने लगा है। अब भी 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' वाला पर्वत का दृश्य सामने आता है, पर उसके साथ 'सरल शैशव की सुखद स्मृति सी' एक मनोरम बालिका भी पास ही खडी दिखाई देती है। बाल-कल्पना की तरह अनेक रूप धरनेवाले उडते बादलो मे हृदय का उच्छ्वास और तुहिन-बिन्दु-सी चचल जल की बूँदो मे आँसुओ की धारा मिल गयी है। प्रकृति का प्रागण छायाप्रकाश की वीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। उपलो पर बहुरगी लास तथा भगिमय भृकुटि-विलास दिखानेवाली निश्छल निर्झरी अब सजल आँसुओ की अचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य-भूमिका से 'वीणा'-काल का पवित्र प्राकृतिक सौन्दर्य 'उड़ गया अचानक, लो, भूधर, फड़का अपार वारिद के पर' के सदृश ही विलीन हो जाता है, और उसके स्थान पर 'रव-शेष रह गए हैं निर्झर' शेष रह जाते है। उस पवित्रता का स्पर्श पाने के लिए हृदय जैसे छटपटा कर प्रार्थना करने लगता है—

"विहग बालिका का सा मृदु स्वर, अर्ध खिले वे कोमल अग,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की, वह मेरी आनन्द उमग।
'अहो दयामय, फिर लौटा दो मेरी पद प्रिय चचलता,
तरल तरगो सी वह लोला, निर्विकार भावना लता!"

'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग मे लिखी गई है। १९२१ के असहयोग आन्दोलन के साथ ही देश की बाहरी परिस्थितियो ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। उनके स्पन्दन, कम्पन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखा मन को आकर्षित करने लगी; मेरे मन के भीतर वे सस्कार धीरे-धीरे सचित तो होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओ मे वे मुखरित नही हो सके, न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त ही प्रतीत हुए। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावाद की अभिव्यजना की सीमाएँ थी। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रान्त उस भावना की पुकार थी, जो बाहर की ओर राह न पाकर 'भीतर' की ओर स्वप्न-सोपानो पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही काल्पनिक उडान द्वारा नवीन वास्त-विकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि-रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के

प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुजन'-काल की रचनाओं मे नित्य सत्य पर जैसे मेरा दृढ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।

'सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर-सुन्दर जग जीवन।"

आदि रचनाओ मे मेरा मन परिवर्तनशील अनित्य वास्तविकता से ऊपर उठकर नित्य सत्य की विजय के गीत गाने को लालायित हो उठा है और उसके लिए आवश्यक साधना को भी अपनाने की तैयारी करने लगा है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' भी अनुभव होने लगा है और वह इस आकाक्षा से व्याकुल भी रहने लगा है। 'ज्योत्स्ना' मे मैंने इस नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव'-कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगान्त' मे मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा मे भी सक्रिय हो गया है और विकासकामी हृदय क्रान्तिकामी भी हो गया है। 'युगान्त' की क्रान्ति की भावना मे आवेश है और है एक नवीन मनुष्यत्व के प्रति सकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन मे पहले परिवर्तन और फिर क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दो मे बाहरी क्रान्ति की आवश्यकता की पूर्ति, मेरा मन, नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण"

द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है, वहाँ 'ककाल जाल जग मे फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' मे 'पल्लव'-काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। 'गा कोकिल बरसा पावककण! नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन, ध्वश-भ्रंश जग के जड़ बन्धन' के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन, रच मानव के हित नूतन मन' भी मैंने कहा है। यह क्रान्ति की भावना, जो अब साहित्य मे प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है, मेरी 'ताज', 'कलरव' आदि 'युगान्त'-कालीन रचनाओ मे विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद की भावना 'युगान्त' की 'मानव' 'मधुस्मृति' आदि रचनाओं मे। 'बापू के प्रति' शीर्षक मेरी उस समय की रचना गाधीवाद की ओर झुकाव की द्योतक है जो 'युगवाणी' मे भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रान्ति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नही होती, उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

"भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान"

'मुझे स्वप्न दो' 'मन के स्वप्न' 'आज बनो तुम फिर नव मानव' 'सस्कृति का प्रश्न' 'सास्कृतिक हृदय' आदि उस ममय की अनेक रचनाएँ मेरी उस सास्कृतिक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'ग्राम्या' मेरी सन् १९४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य मे घुटनो के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद का एक रूप जिम प्रकार वर्गयुद्ध की भावना के साथ दृढ कदम रखकर आगे बढना चाहता है, उस दृष्टि मे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट ही कहना पडेगा। सन् १९४० के बाद का समय द्वितीय विश्वयुद्ध का वह काल रहा है जिसमें भौतिक विज्ञान तथा मासपेशियो की सगठित शक्ति ने मानवता के हृदय पर नग्न पैशाचिक नृत्य किया है। सन् ४२ के असहयोग आन्दोलन मे भारत को जिस पाशविक अत्याचार तथा नृशसता का सामना करना पडा, उसमे हिंसात्मक क्रान्ति के प्रति मेरा समस्त उत्साह अथवा मोह विलीन हो गया। मेरे हृदय मे यह बात गम्भीर रूप से अकित हो गयी कि नवीन सामाजिक सगठन राजनीतिक-आर्थिक आधार पर नही, सास्कृतिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्वप्रथम सन् १९४२ मे मेरी 'लोकायन' की योजना मे और आगे चलकर 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि' की रचनाओ मे अभिव्यक्त हुई है। नवीन सास्कृतिक सगठन की रूप-रेखा तथा नवीन मान्यताओ का आधार क्या हो, इस सम्बन्ध मे मेरे मन मे ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय मै श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के सम्पर्क मे आगया और मेरी 'ज्योत्स्ना'-काल की चेतना एक नवीन युग-प्रभात की व्यापक चेतना मे प्रस्फुटित होने लगी, जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण-चेतना कहा है। और मेरा विश्वास धीरे-धीरे और भी दृढ हो गया कि नवीन सास्कृतिक आरोहण इसी चेतना के आलोक मे सम्भव हो सकता है, जो मनुष्य की वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रम कर उसे एक अधिक ऊर्ध्व, गम्भीर तथा व्यापक धरातल पर उठा देगी। इस प्रकार आनेवाली क्रान्ति केवल रोटी की क्रान्ति, समान अधिकारो की क्रान्ति ही न होकर जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण की क्रान्ति, मानसिक मान्यताओ की क्रान्ति तथा सामाजिक अथच नैतिक आदर्शो की भी क्रान्ति होगी। दूसरे शब्दो मे भावी क्रान्ति राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति तक ही सीमित न रहकर आध्यात्मिक क्रान्ति भी होगी, क्योकि वस्तु-जगत् के प्रति हमारे ज्ञान का स्तर हमारी आध्यात्मिक धारणा के सूक्ष्म स्तर से अविच्छिन्न रूप से जुडा हुआ है और वर्तमान युग की विश्रृंखलता को नवीन मानवीय सामजस्य देने के लिए मनुष्य की अन्न-प्राण-मन-सम्बन्धी चेतनाओ का बहिरन्तर रूपान्तर होना आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है, जिसे मैंने 'स्वर्णकिरण' मे इस प्रकार कहा है .

"सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रागण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिगिक्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु सघर्षण,
सस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढेंगे मनुज के चरण !"

भौतिक तथा आध्यात्मिक संचरणो के मध्य समन्वय की मेरी भावना धीरे-धीरे विकसित होकर अधिक वास्तविक होती गयी है और आज प्रतिगामी शक्तियो की अराजकता के युग मे प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मेरे मन की निष्ठा अधिकाधिक बढती जा रही है ।

आज की कविता और मैं

आज की कविता मे अनेक स्तर और अनेक छायाएँ है। वह एक देशीय भी है, विश्वजनीन भी; वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी; और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एव नवीन मनुष्यत्व की सन्देश-वाहक भी है—एक ऐसा मनुष्यत्व जिसमे आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी-भीतरी विरोध, नवीन सामजस्य ग्रहण कर रहे है।

जब मै विश्व-साहित्य एव काव्य पर दृष्टि डालता हूँ, तब मुझे लगता है कि उसमें मनुष्य-जाति के जीवन का संघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से, सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओ को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप मे प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नही है। आज का युग अनेक दृष्टियो से कई युगों का युग है। आज मनुष्य-जीवन मे बहिरन्तर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो र हैं। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे सक्रान्ति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते है। शिव और ब्रह्मा विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने मे सहायक होते है। पौराणिक शब्दों में आज का युग कलियुग और सतयुग का सन्धिस्थल है। ऐसे युग मे साहित्य या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने मे कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आनेवाला चरण ही दे सकता है, जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्तकर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेगी। अतएव प्रस्तुत वार्ता मे आज की कविताओ के सम्बन्ध में ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयन्न करूँगा और अपने सम्बन्ध मे निर्णय देने का अधिकार आनेवाले आलोचको पर छोड़कर सन्तोष करूँगा।

सन् १६०० में मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ, जो हिन्दी अथवा खडीबोली की पहली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खडीबोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य-जीवन के प्रारम्भ होने से २-३ वर्ष पहले ही श्री गुप्त जी की 'भारत-भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमें

स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित सर्वधर्म-समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नहीं था, जिसने विश्व-कवि रवीन्द्र-नाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमें उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूँज रहे थे, जो इस प्रकार थे :

> "हम कौन थे, क्या हो गए है, और क्या होगे अभी,
> आओ, विचारे आज मिल कर ये समस्याएँ सभी।"

साथ ही उसके भविष्यत् खड मे हमारी कुम्भकर्णी नीद मे सोई हुई भूमि के लिए उद्-बोधन और जागरण की आशा भी थी :

> "हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ।
> वर शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ।।
> अब भी समय है जागने का देख आँखे खोल के।
> सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वय जय बोल के।।"

किन्तु द्विवेदी-युग के कवियो के काव्य-सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्रीगणेश प्रसाद जी से होता है—न काव्य के रूप-निर्माण के सम्बन्ध मे विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध मे। छायावादी कवियो का लक्ष्य हिन्दू-जाति के जाग-रण तक सीमित नही रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार-विचारो को अतिक्रम कर नए प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप-विन्यास मे कवीन्द्र तथा अग्रेजी के कवियों का प्रभाव पडा, भावना मे युग-सघर्ष की आशा-निराशा का, तथा विचार-दर्शन मे विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर भूवाद, नव मानववाद मे परिणत हो गये। द्विवेदी-युग के कवियों मे आगे चलकर श्री गुप्त जी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियो ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अंशत. शेली आदि अग्रेजी कवियो से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व-भावना तथा लोकमगल-भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य मे दे सके। जन-सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणि का अग नही बन सकी थी। यन्त्रयुग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यन्त्रयुग की जनवादी सौन्दर्यभावना का उदय तब नही हो सका था, न पूँजी-वाद ही उनके आत्म-निर्माणकाल मे ऐसा वीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य मे यन्त्रो के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्यकालीन भारतीय सस्कृति की प्रतिक्रिया-मात्र है। श्रीकृष्ण चैतन्य अथवा

वैश्ववाद उनकी रचनाओ मे आधुनिक रूप धारणकर सर्वात्मवाद बनकर निखरा है। सास्कृतिक धरातल पर उन्होने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्त्वशास्त्र की दिशा मे किया है।

इन्ही आध्यात्मिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओ से हिन्दी मे छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गयी, उनके काव्य का पदार्थ भी उमी अनुपात मे बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता मे भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढते गये। सत्य के खोज की उडती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियो मे प्रभावित एव घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

प्रसाद जी की 'कामायनी' छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है, उनका 'आँसू' छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। कामायनी मे पूर्वी-पश्चिमी विचार-दर्शन का, उनके युग का समन्वय है। उसमे इडा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीज़न या रैशनलिज्म की प्रतीक है, श्रद्धा भारतीय अभीप्साजनित भावना की। मनु मानव-मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम, निर्वेद आदि प्रवृत्तियो का विकास जैव विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकासवाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इडा-श्रद्धा का सघर्ष, श्रद्धा की विजय, भक्ति, कर्म, ज्ञान का समन्वय, अन्त मे समरस आनन्द की व्यापक स्थिति—सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक मे विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होने युग के अनुरूप अद्‌भुत काव्य-सृष्टि की है। अन्तश्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियो का प्रवृत्तियो के रूप मे मानसीकरण कर उन्हे भेद-बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन-सघर्ष मे डालकर, श्रद्धा की सहायता से पुन निखारकर तथा उमी के द्वारा कर्म, भक्ति, ज्ञान के रूप मे जीवन, भावना तथा बुद्धि में सामजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

"नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन"

की भूमिका पर उठाकर प्रसाद जी ने कामायनी के श्रद्धा-प्रासाद को

"समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था"

की आत्मानुभूति के स्वर्ग मे प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन कामायनी के दर्शन के बिना असफल है। कामायनी के काव्य-पदार्थ मे प्राचीन ऋषियो का हृदय-स्पन्दन तथा उनके विचार-दर्शन की प्रतिध्वनियाँ मिलती है और अन्तिम सर्गो मे विचार-दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्व-द्रष्टाओ की तरह प्रसाद जी ने भी व्यक्ति-चेतना अथवा वैयक्तिक सचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एव लोक-कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एव स माजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय—यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सन्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमे अनगढ, विद्रोहभरे प्रगतिवाद के कवियो मे मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन भाव-प्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तु-प्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना गलत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य-भावना की प्रतिक्रिया से पीडित रहा, उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवनसौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियो तथा मध्य वृत्तिवालो के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा। नवीन लोकमानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमे नंगे-भूखे श्रमिक-कृषको के अस्थि-पजरो के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुठित बुद्धिवादियो की मानसिक प्रतिक्रियाओ का हुकारभरा क्रन्दन सुनाई पडने लगा। विचार-दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन-भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण, केवल कुछ तात्कालिक परि-स्थितियो के कोरे राजनीतिक नारो को बार-बार दुहराकर, उनका पिष्टपेषण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकाश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-चेतना के सरो-वर-तट पर राजनीतिक प्रचार का झडा गाडे, ऊपर ही ऊपर हाथ-पॉव मारकर झागो में तैरने का सुख लूटते रहे है और छिछले स्थलो से कीचड उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड-मरोड़कर नव दीक्षितो को दिग्भ्रान्त करते रहे है।

छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एव आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगति-वाद मे अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियो मे भागवत् या विराट्-चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियो मे जनना तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव सवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनो ही के मन मे सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप-रेखा या धारणा निश्चित नही बन पायी। एक भीतरी कुहासे मे लिपटे रहे, दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे।

कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दो की रेशमी रगीनी का एव उपमाग्रो को अभिनव सुन्दरता का सजोव प्रयोग कर सके। छन्दों की दृष्टि से सम्भवत उन्होंने अपनी अन्तर्लय-हीन भावनाग्रो तथा उच्छृंखल उद्‌गारो की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द के रूप मे पक्तिबद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके वहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असम्बद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद मे सुरुचि सस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमटकर अत्यन्त सकीर्ण अन्धानुयायिता मे बदल गयी। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियो ने किसी प्रकार अपने गिरते-पडते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाये। जागरणवादी कुछेक कवियो ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमे 'दिनकर' प्रमुख है।

प्रगतिवद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडडी पकडी, जो हमारी सडकों के नए नामों की तरह, पीछे स्वतन्त्ररूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलायी। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क-वितर्को मे फँसकर एक किमाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर-सगतिहीन भावनाग्रो की लहरियो मे मुखरित, उपचेतन-अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रन्थियो को मुक्त करती हुई तथा दमित-कुठित आकाक्षाग्रो को वाणी देती हुई लोकचेतना के स्रोत मे नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमे टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्दो का वैचित्र्य, उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभगुर रगरलियो का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियो तथा सन्देहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुग्रों, घोंघो, मेढको के उपमानो के रूप मे सरीसृपो के जगत् से अनुप्राणित होने लगी, जो वास्तव मे पश्चिम की ह्रासोन्मुखी सस्कृति का प्रभाव-मात्र है।

छायावादी छन्दो मे आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अन्त स्वर-सगति है, जो अपने दुर्बल क्षणो मे कोरा प्रेरणाशून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रकृतिवादी छन्दो मे सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पन्दन-कम्पन है, जो अधिकतर खोखली हुकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छन्दो मे एक करुण -मिश्रित नीदभरी स्वप्न-मर्मर है, जो प्राय- आत्मदया मे द्रवित होकर प्रणय के आँसुग्रो तथा उच्छ्वासो की निरर्थक सिसकियो मे डूब जाता है। छायावादी प्रीति-काव्य सौन्दर्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-गीत राग और वासना-मूलक।

अपने स्वस्थ रूप मे छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध मे व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी कुठित-अहता को। काव्य की ये तीनो धाराएँ आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन सचरणो को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है और तीनो ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से सम्पृक्त है।

इन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता मे राष्ट्र-भावना से भरी देश-प्रेम की झकारे भी मिलती है, जो मुख्यत. गाधीवाद से अनुप्राणित एव प्रभावित है। राष्ट्रवादी कवियो मे मुख्यतः सियारामशरण जी, माखनलाल जी तथा सोहनलाल द्विवेदी जी है। प्रथम दो के स्वरो मे तप और सयम है; सस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सास्कृतिक चेतना की उपेक्षा नही है। इनमे अतीत की स्वस्थ परम्पराओ के जागरण के साथ आधुनिक विश्व-बन्धुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश है। साध्य-साधन का सामंजस्य, हृदय-परिवर्तन का आग्रह, लोकहित तथा अहिसात्मक क्रान्ति का निर्देश है, साथ ही आज की समतल विचार-धारा की अराजकता मे ऊर्ध्व उदात्त सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिको को विशेष सृजन-प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता मे आज एक प्रकार का गतिरोध-सा दृष्टिगोचर होता है।

देशप्रेम के अतिरिक्त इस युग में मानवीय प्रेम की भावनाओ पर आश्रित स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी रागात्मक कविताएँ भी लिखी गयी है, जिसके प्रतिनिधि बच्चन है। बच्चन ने अपने हालावाद मे प्रेम के प्रतीक को, सूफियो की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास मे लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम-भावना 'निशानिमत्रण' 'आकुल अन्तर' तथा 'एकान्त सगीत' मे प्रच्छन्न विरह के रूप मे उमड़ी है, 'सतरगिणी' तथा 'मिलन-यामिनी' मे उन्मुक्त मिलन-उल्लास के रूप मे। छायावादी अशरीरी प्रेम-भावना बच्चन में मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है, पर उसमे युगीन परिष्कार का अभाव है। उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पन्दन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य-भावना से मडित, सस्कृत, मानवीय निखार नही। उसमे नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री-पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य मे मूर्त, मुघर सन्तुलित रागोच्छ्वास देखने को नही मिलता। बच्चन का प्रणय-निवेदन 'वह पग ध्वनि मेरी पहचानी' से लेकर 'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय-काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम-काव्य की परम्परा से अनुरजित एव प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इन्द्रिय-सवेदनो को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा-पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री-पुरुष की सज्ञा-

चेतना को शुभ्र ऊँचाइयो मे उठाने अथवा गहन अन्तर्लीन करने मे सहायक नही होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य-भाषा की परम्परा से छन कर आयी है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना-पखो की स्वर्णिम उडान लेकर नही आयी। उसमे सूक्ष्म विश्लेषण-सश्लेषण की रगच्छायाएँ नही मिलती, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरो मे बँधी और उक्तियो से भरी होती है। उसकी इधर की 'प्रणय-पत्रिका' की रचनाएँ भी—जो विनय पत्रिका' का आधुनिक सस्करण समझी जानी चाहिए—काव्य की दृष्टि मे उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि मे आती हैं। उदाहरण-स्वरूप—'तन के सौ सुख सौ सुविधा मे मेरा मन वनवास दिया सा' अथवा 'आज मलार कही तुम छेड़े मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओ के रूप में इसलिए लिया है कि मूलत. ये तीनो धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई है। उनके रूप-विन्यास, भावना-सौष्ठव मे कोई विशेष अन्तर नही और उनका विचार-दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनो धाराएं एक दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध-जर्जर युग मे हम एक नवीन सन्तुलन चाहते है। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओ मे नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते है। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरजनाओ तथा अतिरजनाओ के साथ अभिव्यक्ति पा रही है।

अपने युग की महत् चेतना से, एक साहित्य-जीवी के रूप मे, मै भी अपने ढग से अनुप्राणित एव प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढाव-उतार मे मेरी भी छोटी-सी देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान कवियो के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियो तथा सहयोगियो की प्रतिभा का भी मै प्रशसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपने इस नवीन काव्य-सचरण मे, अथवा अपनी काव्य-साधना मे मैंने सन्त कवियो तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता को अन्तश्चेतना तथा नवीन लोक-चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता मे परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधो को नवीन मानव-चेतना के समन्वय मे ढालने का प्रयत्न किया है। मै अपने युग की चेतना मे छाए हुए अन्धविश्वासो तथा निरर्थक रूढ़ि-रीतियो के प्रेतो से लडा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मो, सस्कृतियो तथा जातियो-वर्गो मे बँटे हुए लोगो को अपनी काव्य-चेतना के प्रागण मे आमन्त्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अति-

रजनाओ का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओ के रूप मे ग्रहण कर उन्हे लोककल्याण के लिए महत्तर सास्कृतिक समन्वय मे, एक दूसरे के पूरक की तरह, सयोजित करना चाहा है। 'युगवाणी' से लेकर 'स्वर्ण-किरण' तक मैने जीवन की बहिरन्तर मान्यताओ को सामजस्य के ताने-बानो मे गूँथकर नवीन मानवता के सास्कृतिक पट को शब्द-ग्रथित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतो मे मैने मनुष्य के लिए नवीन सास्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलायी है। उसे नवीन रागात्मक सवेदनाओ, नवीन आदर्शो के स्पन्दन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष मे मैने अपनी युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का परिधान देने का प्रयत्न किया है, जिस सबमे मुझे अवश्य ही सफलता नही मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्मश्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य मे यदि मै कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओ तथा स्वप्न-सम्भावनाओ को सापेक्षत परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका, तो मै अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूँगा।

———

कला का प्रयोजन

स्वान्त:सुखाय या बहुजनहिताय

हमारे युग का सघर्ष आज केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों ही मे प्रतिफलित नही हो रहा है, वह साहित्य, कला तथा सस्कृति के क्षेत्र मे भी प्रवेश कर चुका है। यह एक प्रकार से स्वास्थ्यप्रद ही लक्षण है कि हम अपने युग की समस्याओ का केवल बाहरी समाधान ही नहीं खोज रहे है, प्रत्युत उनकी भीतरी ग्रन्थियो को भी खोलने अथवा सुलझाने का यत्न कर रहे है। राजनीति के क्षेत्र मे आज बहुजनहिताय का सिद्धान्त प्राय: सभी देशो में निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुका है और अपना देश भी नवीन सविधान के स्वीकृत होने के साथ ही बहुजन-सगठित गणतन्त्र के विशाल तोरण मे प्रवेश कर चुका है। राजनीतिक क्षेत्र की यह कोटि कर-पद नवीन चेतना आज हमारे साहित्य, कला तथा सस्कृति मे भी युग के अनुरूप परिणति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। फलत. आज साहित्य मे इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे मन में उठने लगे है कि 'कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए', अथवा 'कला प्रचार के लिए या आत्माभिव्यक्ति के लिए' अथवा 'कला स्वान्त.सुखाय या बहुजनहिताय'। इस प्रकार के सभी प्रश्नो के मूल मे एक ही भावना या प्रेरणा काम कर रही है और वह है व्यक्ति और समाज के बीच बढते हुए विरोध को मिटाना अथवा वैयक्तिक तथा सामाजिक सचरणो के बीच सामजस्य स्थापित करना। मानव-सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की बुद्धि को कभी वैयक्तिक समस्याओं से उलझना पड़ता है, कभी सामाजिक समस्याओं से। मध्य युग मे हमारा ध्यान वैयक्तिक मुक्ति की ओर था तो इस युग मे सामाजिक, सामूहिक अथवा लोकमुक्ति की ओर। पिछले युगो मे सामन्ती परिस्थितियों के कारण मानव-अहन्ता का विधान तथा उसके पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण एक विशेष रूप से सगठित हुआ था। वर्तमान युग मे भूत-विज्ञान की शक्तियो के प्रादुर्भाव के कारण मानव-सभ्यता का मान-चित्र धीरे-धीरे बदलकर दूसरा ही रूप धारण करने लगा है, और मानव-अहन्ता का विधान भी पिछले युग के विशेष एव साधारण अधिकारो के सामजस्य अथवा बन्धन को तोड़कर अपने विचारो तथा आचार-व्यवहारो मे आज नवीन रूप से समान अधिकारो का सामंजस्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप इस सक्रान्ति एव परिवर्तन-काल मे, हमारे जीवन के रहन-सहन की बाहरी प्रणालियो के साथ ही, हमारे मनोजीवन के अन्तर्नियमों, विचारो तथा आस्थाओं मे भी, विरोधी शक्तियों के संघर्ष के रूप मे, प्रकारान्तर उपस्थित हो रहा है। कार्ल मार्क्स को जिस प्रकार

पूँजीवादी पद्धति मे एक मूलगत अन्तर्विरोध दिखलाई दिया था, उसी प्रकार इस युग के समीक्षको को भी आज मानव-चेतना के सभी स्तरो मे अन्तर्विरोध के चिह्न दिखाई दे रहे है और चाहे वस्तुवादी दृष्टिकोण से देखा जाय अथवा आदर्शवादी विचारो के कोण से, आज मनुष्य के मन तथा जीवन के स्तरों में परस्पर विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुई है। और हमारी साहित्यिक पुकारे 'कला कला के लिए या जीवन के लिए', अथवा 'कला स्वान्त सुखाय या बहुजनहिताय' आदि भी हमारे युग के इसी विरोधाभास को हमारे सामने उपस्थित कर उसका समाधान माँग रही हैं। हमारे युग का बहुमुखी जीवन पग-पग पर विरोध खडे कर जैसे युगमानव की प्रतिभा को चेतावनी दे रहा है और उसे प्रकट रूप से ललकार रहा है कि उठो, जीवन का नाम विरोध है, वह अन्धकार और प्रकाश का क्षेत्र है, इन विरोधों को पैरों के नीचे कुचलकर आगे बढ़ो, विरोध के विष को पीकर निर्विकार चित्त से युग-सामजस्य का अनुसन्धान करो और अपनी चेतना को गम्भीर तथा विस्तृत बनाकर इन अनमेल विरोधी तत्वों में सन्तुलन स्थापित करो। 'विश्वजयी वह आत्मजयी जो!'

अस्तु, तुलसीदास जी लिखते हैं, 'स्वान्त.सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा'। हमारा युग रघुनाथ-गाथा तो एकदम भूल ही गया है, वह स्वन्त. सुखाय से भी बुरी तरह उलझ रहा है। प्रश्न यह है कि यदि तुलसीदास जी रघुनाथ-गाथा को स्वान्त:सुखाय लिख गये है, तो क्या उसने बहुजनहिताय के अपने कर्तव्य को पूरा नही किया ? क्या उनकी कला स्वान्त:सुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नही रही ? यदि रही है, तो हमे स्वान्त सुखाय और बहुजनहिताय मे इतना बडा विरोध क्यो दिखाई देता है ? असल बात यह है कि हम गम्भीरतापूर्वक न इस युग के स्वान्त. के भीतर पैठ सके है, न बहुजन के भीतर, नही तो हमे इन दोनो मे विरोध के बदले एक व्यापक गम्भीर साम्य तथा एकता ही दिखाई देती, और हमे यह समझने मे देर न लगती कि स्वान्त: कहने से हम बहुजन के ही अन्तस् या मन की ओर संकेत करते है और बहुजन कहने से भी हम व्यक्ति के ही बाह्य अथवा सामाजिक अन्तस् की ओर निर्देश कर र है। एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व मे स्वान्त और बहुजन मे आपस में वही सम्बन्ध रहता है जो गुण और राशि मे, और एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस प्रकार हम देखेंगे कि इस युग की विरोधी विचार-धाराओं द्वारा हम, एक प्रकार से, मानव की भीतरी-बाहरी परिस्थितियों मे सन्तुलन अथवा सामजस्य प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे है।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वान्त: और बहुजन मे, व्यक्ति और समाज मे, किस प्रकार सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। इसका उत्तर देने से पहले हमें स्वान्त: और बहुजन का अभिप्राय समुचित रूप से समझ लेना चाहिए। स्वान्त: का अर्थ है

मन। 'स्वान्त मानस मन' जैसा कि अमरकोष कहता है। अतएव स्वान्त: से हमारा अभिप्राय है उन विचारो, भावो, धारणाओ तथा आस्थाओ से जिनसे हमारा अन्तर्जगत् अथवा हमारी भीतरी परिस्थितियों का ससार अथवा हमारा अन्तर्व्यक्तित्व बना हुआ है। वहुजन से हमारा अभिप्राय है उन बाहरी परिस्थितियो से जो आज अधिक से अधिक लोगो के जीवन का प्रतिनिधित्व कर रही है और जिनके पुनर्निर्माण पर असख्य लोगो के भाग्य का निर्माण निर्भर है। दूसरी दृष्टि से आज की वास्तविकता ही हमारे वहुजन का स्वरूप है। उसका कल का रूप या भविष्य का रूप अभी केवल युग के स्वान्त. मे अथवा अन्तस् मे अन्तर्हित है। जब हम अन्तर्जगत् के स्वरूप पर विवेचन करते है, तब हमे ज्ञात होता है कि हमारे बाह्य जोवन के क्रिया-कलाप का, हमारे ऐन्द्रिय जीवन की इच्छाओ-सम्बन्धी अनुभूतियों आदि का निचोड अथवा सार ही हमारे विचारो, धारणाओ, आदर्शों तथा आस्थाओ के रूप मे परिणत हो जाता है, अर्थात् बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही हमारा अन्तर्जीवन है। हमारे बाह्य और अन्तर्जगत् दो विरोधी तत्व नही है, बल्कि मानव-जीवन के एक ही सत्य के सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप है और व्यक्ति तथा विश्व के अन्तर्विधान को सामने रखते हुए ये दो समान्तर सिद्धान्तो की तरह कहे जा सकते है। इस प्रकार हमारा विचारो का दर्शन हमारे जीवन-दर्शन से भिन्न सत्य नही है, बल्कि हमारे जीवन की प्रणालियो, उसके क्रिया-कलापो तथा अनुभूतियो का ही क्रमबद्ध तथा सगठित स्वरूप है। इस दृष्टि से हमारे स्वान्त.सुखाय और बहुजनहिताय के सिद्धान्तो मे कोई मौलिक या अन्तर्जात विरोध नही है, केवल बाह्य वैषम्य-मात्र है।

अब हमे इस बाह्य विषमता के भी कारण समझ लेने चाहिए। जैसा कि मै ऊपर कह चुका हूँ, हमारा युग संक्रान्ति का युग है। भूत-विज्ञान के आविष्कारों के कारण मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ इस युग मे अत्यधिक सक्रिय हो गयी है। हमारा राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गहीन तन्त्र के रूप मे, उनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और हमारा जीवन-सम्बन्धी मान्यताओ तथा सामाजिक सम्बन्धो का दृष्टिकोण भी युगपत् परिवर्तित हो रहा है। दूसरे शब्दो में आज मनुष्य का बहिरन्तर प्रवहमान अवस्था मे है। किन्तु बाहरी परिस्थितियो के अनुपात मे जन-साधारण की भीतरी परिस्थितियाँ अभी प्रबुद्ध अथवा विकसित नही हो सकी है। फलत हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक मान्यताओ के बीच इस युग में एक अस्थायी विरोधाभास पैदा हो गया है और हम युग-जोवन के सत्य को व्यक्ति तथा समाज, स्वान्त. तथा बहुजन के रूप मे विभक्त कर उनको एक दूसरे के विरोधी मानने लगे है। किन्तु धीरे-धीरे युग-जीवन के प्रवाह में एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकेगी कि मनुष्य की बाहरी और भीतरी परिस्थितियों मे, अथवा मनुष्य के बाह्य और अन्तर्जगत् मे एक दूसरे के सम्बन्ध में सन्तुलन पैदा हो जाएगा, हमारी स्वान्त:सुखाय और बहुजन-

हिताय की धारणाएँ एक दूसरे के सन्निकट आकर अविच्छिन्न रूप से परस्पर संयुक्त हो जाएंगी और आज के व्यक्ति और समाज का संघर्ष हमारे नवोन युग को पूर्णकाम राम-गाथा मे अति मजुल भाषा-निबन्धरचना के रूप मे गुम्फित होकर नवोन युग का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व बन जाएगा। इस गरिमामय विराट् व्यक्तित्व के शिखर पर खड़े तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अन्तर और बाह्य, स्वान्तः और वहुजन, कला और जीवन, एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक है।

हमारा मन जिस प्रकार विचारो के सहारे आगे बढता है, उसी प्रकार मानव-चेतना प्रतीको के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण भी इसी प्रकार के प्रतीक हैं, जिनके व्यक्तित्व मे एक युग की सस्कृति मूर्तिमान हो उठी है, जिनके व्यक्तित्व में पिछला युग बहिरन्तर सामजस्य ग्रहण कर सका है, जिनके व्यक्तित्व मे युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो सका है। इस दृष्टि से हमारा युग एक विराट् प्रतीक्षा का युग है। एक दिन इस युग का व्यक्तित्व हमारे भीतर उतर आएगा और हमारे बाहर-भीतर के सभी विरोध उस व्यक्तित्व की महानता मे निमज्जित होकर कृतकार्य हो जाएँगे। और कोई प्रतिभाशाली तुलसी, महात्मा गाँधी जैसे लोकपुरुष के जीवन मे उस व्यक्तित्व को अकित कर, फिर से स्वान्त सुख के लिए नवीन युग की बहुजनहिताय गाथा गाकर उसे जन-मन मे वितरित कर सकेगा।

इसी प्रकार अपने युग की समस्याओ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने तथा मानव-जीवन के अतल अन्तस्तल मे अधिकाधिक पैठने से हमे ज्ञात हो जाएगा कि हमारे वर्तमान, व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी अथवा अन्तर-बाह्य-सम्बन्धी, ऊपरी विरोधो के नीचे हमारी चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरो मे एक नवीन सन्तुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टिकोणो को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामजस्य मे बाँध देगी। जीवन-रहस्य के द्वार खुल जाने पर हमें अनुभव होगा कि जीवन स्वय एक विराट् कला तथा कलाकार है और एक महान् कलाकार के कुशल करो मे कला कला के लिए होने पर भी जीवनोपयोगी ही बनी रहेगी और कला जीवन के लिए होते हुए भी कलात्मक अथवा कला के लिए रहेगी। इसी प्रकार कुछ और गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमारे भीतर यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी कि कला द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। और लोक-कला की परिणति भी आत्म-प्रकटीकरण अथवा आत्माभिव्यक्ति मे हो सकती है। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला-प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बाँहो की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारो की इस विशृंखलता को सामजस्य के व्यापक प्रीति-पाश में बाँध सकेंगे। एवमस्तु।

आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत

प्रस्तुत वार्ता का विषय है 'आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत', जिनसे हमारा अभिप्राय उन मौलिक प्रेरणाओं, मान्यताओं एव उन धारणाओ तथा प्रवृत्तियो से है जो आधुनिक हिन्दी काव्य को जन्म देने मे सहायक हुई है और जिन्होने उसके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा की ओर मोड़ा है। प्रत्येक युग अपनी विशेष विचार-धारा, विशेष भावनाओं के आधार तथा अपना विशेष दृष्टिकोण लेकर आता है; जो उस युग के साहित्य मे प्रतिफलित होता है। साहित्यिक अथवा कलाकार का सूक्ष्म भाव-प्रवण हृदय अपने युग की उन विकास तथा प्रगति की शक्तियो को पहचानकर अपनी कला के माध्यम द्वारा उन्हें जन-समाज के लिए सुलभ बना देता है।

काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छन्दों की झंकृति, वेशभूषा, शब्दों तथा अलंकारो का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यजना, कल्पना की सतरंगी उड़ान तथा सौन्दर्य-बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान-मात्र कहे जा सकते है। इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की वह अन्तश्चेतना है, जो युग-विशेष के हृदय-मन्थन तथा जीवन-सघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक-दिशा का इगित देती है, जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।

हिन्दी काव्य का आधुनिक युग छायावाद से प्रारम्भ होता है, जो द्विवेदी-युग तथा प्रयोगवादी युग का मध्यवर्ती काल है और जिसकी एक विशेष धारा प्रगतिवादी तथा दूसरी प्रयोगवादी कविता कही जाती है। छायावाद से पहले भी हिन्दी काव्य-साहित्य में नवीन प्रेरणाएँ काम करने लग गयी थी और एक प्रकार से द्विवेदी-युग से पहले भी श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे हिन्दी कविता मे नये विषयों का समावेश होने लगा था। श्री भारतेन्दु के भारतदुर्दशा नाटक मे देशभक्ति की मार्मिक व्यजना मिलती है। उनकी स्वतन्त्र कविताओं में भी यत्र-तत्र देश के अतीत गौरव की महिमा, वर्तमान अधोगति का वेदनापूर्ण चित्र और भविष्य का उद्बोधन-गान पाया जाता है।

देश की वर्तमान दशा से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु कहते हैं:

हाय, वहै भारत भुव भारी, सब ही विधि सो भई दुखारी।
हाय पचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
तुम में जल नहिं जमुना गंगा, बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा।
बोरहु किन झट मथुरा कासी, धोवहु यह कलंक की रासी।

भारतेन्दु के इस प्रकार के करुण उद्गारों मे देशभक्ति के साथ ही एक शक्तिमयी नयी अभिव्यजना मिलती है। द्विवेदी युग मे भारतीय जागरण के साथ ही देशभक्ति तथा राजनीति से प्रभावित अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ लिखी गयीं। श्री गुप्त जी की 'भारत भारती' ने अपने युग को सबसे अधिक प्रभावित किया। द्विवेदी-युग का मुख्य प्रयत्न खडीबोली को गद्य-पद्य के रूप मे मार्जित करने की ओर रहा। उनके युग मे हिन्दी, भाषा के सौन्दर्य से तो वचित रही, किन्तु उसका आधुनिक रूप निश्चित रूप से निखर आया और उसमे एक प्रकार का सयम तथा सुथरापन आ गया।

द्विवेदी-युग का काव्य अधिकतर गद्यवत्, इतिवृत्तात्मक तथा अभिधा-प्रधान रहा, किन्तु उसका भावना-क्षेत्र भारतेन्दु-युग से कहीं अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया। उसमे अनेकानेक नवीन विषयो का समावेश होने लगा और उसमे भारतीय पुनर्जागरण की चेतना जन्म लेने लगी। द्विवेदी-युग के कवियो मे तीन प्रमुख नाम हमारे सामने आते हैं: श्री श्रीधर पाठक, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त। वैसे अन्य भी कई कवि उस युग के साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

श्रीधर पाठक जी का प्रकृति-वर्णन उस युग के काव्य मे अपना विशेष महत्त्व रखता है, उनसे पहले प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त होता रहा। पाठक जी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी तथा उपासक थे। उनके शब्दो का चयन भी अत्यन्त मधुर तथा सुथरा होता था। उनकी वाणी मे जो एक प्रसाद था, वह स्वयं हिन्दी काव्य की नवीन चेतना का द्योतक था। उनके प्रकृति-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :

> बिजन वन प्रान्त था, प्रकृति-मुख शान्त था,
> अटन का समय था, रजनि का उदय था।
> प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
> बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।

"प्रसवकाल की लालिमा से लसे बाल शशि" की कल्पना मे आधुनिकता की छाप है। उनकी "स्वर्गीय वीणा" की पंक्तियो मे ध्वनि-सकेत की मधुरिमा देखिए :

> कही पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है,
> सुरो के सगीत की सी कैसी सुरीली गुजार आ रही है।
> कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है,
> दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेको बानक बना रही है।
> भरे गगन मे है जितने तारे, हुए हैं बद मस्त गत पै सारे,
> समस्त ब्रह्माड भर को मानो दो उंगलियों पर नचा रही है।

वीणा के सुरीले स्वरों पर गगन के तारों तथा समस्त ब्रह्माड का तन्मय होकर नाच उठना जिस आनन्दातिरेक की ओर इंगित करता है, वह अविमानस को एकता का परिचायक है। पाठक जी ने 'श्रान्त पथिक' तथा 'ऊजड़ गाम' के नाम से गोल्डस्मिथ के Traveller तथा Deserted Village के भी काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किये है। कश्मीर-सुषमा उनके प्रकृति-प्रेम का रमणीय लीलाकक्ष है, उसमे उनका पदविन्यास अत्यन्त कोमल तथा ललित होकर निखरा है। पाठक जी की रचनाओं मे समाज-सुधार की भी भावना मिलती है, इस नवीन धारा का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग मे हो चुका था। श्रीधर पाठक वास्तव मे एक प्रतिभावान तथा सुरुचि-सम्पन्न कवि थे।

द्विवेदी-युग के कवियों में 'हरिऔध' जी का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्हे बोल-चाल की भाषा पर भी उतना ही अधिकार था, जितना सस्कृत-गर्भित भाषा पर। उनके 'प्रियप्रवास' का शब्द-सगीत छायावाद के शब्द-सगीत के अधिक निकट है:

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा।

तरुशिखा पर अस्तमित सूर्य की प्रभा का चित्रण छायावादी अभिव्यजना है।

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना
तन्वगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीड़ा कला पुत्तली
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी।

इन चरणों की स्वर-झंकृति अधिक मधुर तथा सरल बनकर पीछे छायावाद के सगीत में प्रतिध्वनित हुई। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से भी 'प्रिय-प्रवास' मे श्री राधा का व्यक्तित्व रीतिकालीन पकिलता से मुक्त होकर अधिक स्वच्छ तथा आधुनिक बन गया है।

द्विवेदी-युग के कवियों में सबसे अधिक प्राणवान् तथा युगचेतना के प्रतीक-स्वरूप महाकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हुए। जैसा कि हम ऊपर कह आये है, भारतेन्दु-युग की स्वदेश-प्रेम की भावना गुप्त जी की 'भारत भारती' मे विकसित राष्ट्रभावना का स्वरूप ग्रहण कर सकी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दो मे "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता रही, कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओ और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि-कवि ये निःसन्देह कहे जा सकते है। इधर के राज-नीतिक आन्दोलनों ने जो स्वरूप धारण किया, उसका पूरा आभास गुप्त जी की रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानो और

श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम उनमे पाते है।" गुप्त जी की आधुनिकतम रचनाओं मे युग की चेतनात्मक क्रान्ति तथा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठे है। उनको 'झंकार' छायावादी युग की वस्तु है और 'पृथ्वी-पुत्र' प्रगतिवादी युग की। गुप्त जी मे पुरातन के प्रति सम्मान और नूतन के प्रति उत्साह तथा आग्रह की भावना मिली है। उनका यह सामजस्य छायावादी युग के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि का काम करता है। उन्हे प्रबन्ध-काव्य तथा आधुनिक प्रगीत-मुक्तको में समान रूप से सफलता मिली है। उनके मुक्तको मे छायावादी अभिव्यजना तथा लाक्षणिक प्रयोगों का वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। उनके प्रबन्ध काव्य 'साकेत' को काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का विरह-वर्णन एक नवोनता प्रदान कर देता है। अनसूया, उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओ की ओर गुप्त जी अपने काव्य-संस्कार मे बगला के अध्ययन से प्रभावित हुए है। सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

आगे चलकर हम देखेगे कि हिन्दी की नवीन काव्यधारा मे बँगला कवियो, विशेषकर रवीन्द्रनाथ, का विशेष प्रभाव पडा है। वैसे ही श्री मुकुटधर पाण्डेय आदि की रचनाओ मे छायावाद की सूक्ष्म भावव्यजना तथा रगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी, जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग मे पुष्पित-पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एव चेतना का सस्कार धारण कर, हिन्दी काव्य के प्रांगण मे नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।

प्रसाद जी छायावाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक माने जाते है। उनके युग मे आने तक हिन्दी-कविता के अन्तर्विधान मे भी बगला का, और विशेषकर कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य का, अत्यन्त गहरा प्रभाव पड चुका था। कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बनकर आये। उन्होने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावो का वैभव, नवीन कल्पना का सौन्दर्य, नवीन छन्दो को स्वर-झकृति प्रदान कर उसे विश्व-प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान् प्रेरणा हिन्दी काव्य-साहित्य को मिली, वही वास्तव मे छायावाद के रूप में विकसित हुई।

कवीन्द्र रवीन्द्र के आगमन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। बँगला मे भारतीय पुनर्जागरण का समारम्भ हो चुका था। एक ओर श्री रामकृष्ण परमहंस जी के आविर्भाव तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से आध्यात्मिक जागरण तथा सर्वधर्म-समन्वय का प्रकाश फैल चुका था, दूसरी ओर स्वदेशी आन्दोलन के रूप में राष्ट्रीय तथा राजनैतिक चेतना जाग्रत हो उठी थी। ब्रह्म-समाज के रूप मे पूर्व तथा पश्चिम की सस्कृतियों का समन्वय करने की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट हो चुका था।

रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर स्वय भी ब्रह्मसमाजी थे। कवीन्द्र महान् प्रतिभा से सम्पन्न होकर आये थे। उन्होंने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सारतत्वो का सग्रह अपने अन्तर मे कर लिया था। और अनेक छन्दो, तालो तथा लयो मे अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातो से जाग्रत, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकाक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नो मे मडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्य मे वेष्ठित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनो के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारो के हृदय मे खोल दिया था।

इसी काव्यमय आध्यात्मिक आलोक, सौन्दर्य-चेतना तथा सृजन-कल्पना की मुक्ति को ग्रहण कर हिन्दी मे छायावाद ने प्रवेश किया। द्विवेदी-युग की पौराणिक भावना, कला-परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग मे एक नवीन विराट् आध्यात्मिक चेतना, नवीन छन्द और शैलियो के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्वप्रेम की भावना के रूप मे परिणत हो गये। प्रसाद जी का 'झरना' जैसे हिन्दी मे एक नवीन अभि-व्यक्ति का झरना था। उनके 'आँसू' के कणो मे जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावनात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर उमड़ उठी। प्रसाद जी की 'कामायनी' मे छायावाद का अन्त.स्पर्शी गाम्भीर्य सौन्दर्य तथा विचार-सामजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक-प्रासाद के रूप मे साकार हो उठा। निराला जी ने छायावादी कविता को छन्दों के बन्धनो से मुक्त कर उसे एक अधिक व्यापक भूमि पर खड़ा कर दिया। उन्होने अपनी उज्ज्वल, ओजपूर्ण शैली द्वारा भारतीय दर्शन के आलोक को वितरित किया। 'परिमल' तथा 'गीतिका' मे उनके अनेक प्रगीत गीति-काव्य की परिपूर्णता प्राप्त कर सके है। छायावादी कविता मुख्यत प्रगीतों का रहस्य-इंगितमय सौन्दर्य लेकर प्रस्फुटित हुई। महादेवी जी के प्रगीत इस दृष्टि से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते है। दूसरी ओर श्री नवीन जी, भारतीय आत्मा तथा दिनकर जी ने राष्ट्रीय भावना को छायावादी परिधान प्रदान कर उसे अधिक सजीव, सक्रिय, ओजपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी बना दिया। छायावाद के आकाश मे और भी अनेक नक्षत्र प्रकाशपूर्ण व्यक्तित्व लेकर जगमगा उठे, जिनकी अमर देन से हिन्दी का काव्य-साहित्य अनेक रूप से सम्पन्न हुआ।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल मे हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्राय: सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा

बदल गयी। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा-आकाक्षाओ का वैभव, जो विचार-सामजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था, वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियो की वास्तविकता पर आधारित था। मानव-चेतना तव युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क मे नही आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के वाद वह सर्वधर्म-समन्वय, सास्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक-सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रेरणा ग्रहण की थी। और अनेक कवि तथा कलाकारो की सृजन-कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर अधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर आयी और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना को जन्म देने मे सलग्न हो गयी। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोणो को प्रभावित किया, उसी प्रकार फ्रायड, युग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषको ने रागवृत्ति-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण मे एक महान् क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलत छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासो के प्रति सन्दिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचारधाराओ से अधिक या कम मात्रा मे प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुठित आशा-आकाक्षाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए सक्रान्ति-काल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

किन्तु छायावाद की जो सीमाएँ सूक्ष्म धरातल पर थी, प्रगतिवादियों की वही सीमाएँ स्थूल धरातल पर है। छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव मे आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति नही प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अधिदर्शनों, मान्यताओं तथा धारणाओ से प्रभावित हुआ था। इसीलिए वह युग-जीवन की कठोर वास्तविकता से कटकर कुछ दार्शनिक एव मानसिक विरोधो मे सामंजस्य स्थापित कर सन्तुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा। इसी प्रकार आज के अधिकाश प्रयोगवादी एव तथाकथित प्रगतिवादी कलाकार पिछले अन्तर्मुख आदर्शो तथा नये बहिर्मुख यथार्थ के बीच प्रतिदिन बढ़ती हुई गहरी खाई मे गिरकर तथा सूक्ष्म के प्रति, आदर्श के प्रति, व्यक्ति के प्रति अपना विद्रोह प्रकटकर, सक्रान्ति-काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों तथा सामूहिक सर्वसाधारणता को वाणी देकर सन्तोष करना चाहते है।

यदि मैं कामायनी लिखता

जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणों को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री से दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कामायनी जैसी एक महान् कलाकृति की स्वर-सगति को भगकर फिर से उसका निर्माण करने की सम्भावना मन मे नही उठती। कामायनी हिमालय-सी दुर्लंघ्य न हो, पर श्रद्धा और मन की समरस तन्मयता की पावन समाधि ताजमहल-सी आश्चर्यजनक अवश्य है। यह अपने युग की सर्वांगपूर्ण कृति न हो, पर सर्वश्रेष्ठ कृति निश्चयपूर्वक कही जा सकती है।

पिछले पचास वर्षो मे हिन्दी-जगत् मे, भाषा तथा साहित्य-सृजन की दृष्टि से, एक महान् क्रान्ति उपस्थित हुई है। इन वर्षों मे उच्चतम महत् चोटी का निर्माण न हुआ हो, किन्तु महान तथा व्यापक परिवर्तन अवश्य हुए है। भारतेन्दु का स्नेह सम्भ्रमपूर्वक स्मरण करते हुए हम सहसा द्विवेदी-युग में प्रवेश करते है, जिसकी सुष्ठु-सन्तुलित व्यवस्था को देखकर मन को सन्तोष तथा प्रसन्नता होती है। कुहासा छँट जाता है: खडीबोली निर्भीक रूप से आगे कदम बढाने लगती है। उसकी गति मे एक नपा-तुला सौन्दर्य, अगों मे कटा-छँटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुंजार करने लगते हैं, आम्र की सद्य. मजरित डाली से पुस्त कोकिल माधुर्य की श्रीवृष्टि करने लगता है; और कही नवीन प्रयत्नो की वाटिकाओ मे नवीन जागरण का स्पष्ट गुजरण सुनाई पडता है। रीतिकाल की कलारूढ़ परम्पराओं का अतिक्रमण कर साहित्य-चेतना सुदूर अतीत के गौरव से मडित होकर निखर उठती है। पौराणिक सगुण ह्रासयुग के रस-विलास से ऊबकर खडीबोली के माध्यम से नवीन सुगठित कलेवर धारण करने लगता है। भावना मे फिर से उदात्त आरोहण परिलक्षित होने लगता है। अत्र-तत्र प्राकृतिक सुषमा का वर्णन, किन्तु सर्वत्र चिरकालीन सास्कृतिक प्रवाह की समरसता, वैष्णव भावना का करुण क्रन्दन तथा देशप्रेम की जाग्रत भारती का आह्वान वातावरण को ओतप्रोत कर देता है। सास्कृतिक पुनर्जागरण के सुमेरु की तरह राष्ट्रकवि गुप्त जी का महान व्यक्तित्व सर्वोपरि शिखर की तरह उठकर ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

द्विवेदी-युग के बाद छायावाद के युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव वीथियों से निकलकर लाजभरे सौन्दर्य मे लिपटी, एक नवीन काव्य-चेतना युग के निभृत प्रांगण को सहसा स्वप्न-मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला-सकेतों के अरूप सौन्दर्य मे तिरोहित होकर, भावना के सूक्ष्म अवगुठनों के कारण, रहस्यमयी प्रतीत होने लगती है। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन-प्रतिदिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्स्ना की नवीन मौन मधुरिमा के

सामने अनाकर्षक लगने लगता है। अपनी अधखिली कलियों के देहपात्र मे छाया-वाद एक नवीन प्रेम तथा सौन्दर्य की ज्वाला लेकर आया, जिसके मर्ममधुर स्पर्श से हृदय की शिराएँ शीतल वेदना की आकुल शान्ति मे सुलगने लगी।

इस नवीन युग के प्रवर्तक रहे है हमारे चिरपरिचित श्री जयशकर प्रसाद। रूप से अरूप की ओर आरोहण, सत्य से स्वप्न की ओर आकर्षण, जो एक नवीन रूप तथा नवीन सत्य के आह्वान का सूचक था, सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र की भुवन-मोहिनी हृत्तन्त्री में जाग्रत तथा प्रस्फुटित हुआ। वह भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों के अध्यात्म के जागरण का युग था, जिसकी चेतना हिन्दी मे खडीबोली की ऊबड-खाबड खुरदरी धरती से सघर्ष करती हुई प्रसाद जी के काव्य मे अकुरित हुई। छायावाद केवल स्वप्न-सम्मोहन ही बनकर रह जाता, यदि प्रसाद जी उसमे कामायनी जैसी महान् काव्य-सृष्टि की अवतारणा न कर जाते! कामायनी को छोडकर, प्रसाद जी मे भी अन्यत्र वह नवीन प्रकाश केवल अभिव्यक्ति की घनीभूत पीडा ही बनकर रह गया। हो सकता है कि प्रसाद जी मे साकेत से जयभारत एव पृथ्वीपुत्र तक का वृहत् विस्तार न हो, पर उनमे कामायनी जैसी महान कृति को जन्म देने की मौलिकता, गम्भीरता अथवा उच्चता अवश्य है! इसमे सन्देह नही कि कामायनी का कवि अत्यन्त महत्वाकाक्षी था, और कामायनी उसका एक अत्यन्त महत् प्रयास है; वह उसमे कहाँ तक सफल अथवा विफल हुआ, अथवा क्या कामायनी और भी सफल एव सर्वांगपूर्ण बनाई जा सकती थी—यह दूसरा प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न कहाँ तक सगत है, यह भी विचारणीय है।

आइए, इसी ऊहापोह मे हम कामायनी के सुरम्य प्रासाद मे प्रवेश करे। कामायनी के आमुख में प्रसाद जी वेदों से लेकर पुराणो और इतिहास मे बिखरा हुआ, आर्य-साहित्य मे मानवो के आदिपुरुष 'मनु' तथा कामगोत्रजा श्रद्धा और तर्कबुद्धि इडा का सक्षिप्त विवरण देते हुए अन्त मे लिखते है : 'मनु, श्रद्धा, इडा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे, तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश. श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।' आगे चलकर वे कहते है—'कामायनी की कथा-शृखला मिलाने के लिए कही-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम मे ले आने का अधिकार मै नहीं छोड़ सका हूँ।'

कामायनी को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक मनु, श्रद्धा आदि का ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है, वह केवल उसकी अतीत की गौरवमयी पृष्ठभूमि, उसके पावित्र्य तथा उसके प्रति भावना-जनित उपासना तक ही सीमित है; शेष केवल आदिमानव के मनोविधान के प्रस्फुटन, प्रवृत्तियो के सघर्ष, उनके निर्माण, विकास तथा समन्वय से सम्बद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना-सृष्टिभर है, जो कामनाओं की शिराओं

से जकड़ी हुई है, जिसके शिखर पर अध्यात्म का समरस शुभ्र प्रकाश प्रतिफलित हो रहा है।

इसके स्पष्टीकरण के लिए पहले कामायनी के कथानक पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। वह सक्षेप मे इस प्रकार है —कामायनी मे पन्द्रह सर्ग है, जिनके नाम है क्रमश चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इडा, स्वप्न, सघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द, जो मनुष्य के मन की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियो के नाम हैं और जिनका विकास-क्रम अधिकतर कल्पना की सुविधा के अनुसार ही रखा गया प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध जलप्लावन के कारण देवताओं की वैभवसृष्टि जलमग्न होकर विनष्ट हो जाती है। मनु की चिन्ता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुँचने के बाद वह देव-सृष्टि के ह्रास का युग था, जिसका साकेतिक अर्थ कामायनी मे नहीं मिलता। देवता अत्यन्त विलास-रत रहते थे। मनु के शब्दो में :

> प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में
> भोले थे हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के मद मे।
>
> वह उन्मत्त विलास क्या हुआ ? स्वप्न रहा था छलना थी—इत्यादि।

अस्तु, प्रथम सर्ग मे जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि पर उत्तुग हिम-शिखर का शुभ्र सौन्दर्य नैराश्य से निखरते हुए दृढ विश्वास की तरह मन को मोहक लगता है। भीगे नयन मनु का हृदय विगत स्मृतियो से उद्वेलित तथा चिन्ताग्रस्त है। धीरे-धीरे प्रलय-प्रकोप शान्त हो जाता है · मनु मे आशा का संचार होता है, वह फिर से यज्ञ करने लगते हैं। एक दिन श्रद्धा से उनका साक्षात्कार होता है, जो केवल मन के निचले स्तरों में काम तथा वासना के रूप मे प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता है। कालान्तर मे मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। असुर-पुरोहितो के प्रभाव से वे हिसक अहेरियो का जीवन व्यतीत करने लगते है। श्रद्धा इससे असन्तुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद-विवाद से ऊबकर श्रद्धा को छोडकर चले जाते हैं। उन्हे उसके महत्त्व को पहिचानने के लिए और भी निम्न प्रवृत्तियो का अनुभव प्राप्त करना था। सरस्वती के तट पर वह हेमवती छाया-सी इड़ा के सम्पर्क मे आते हैं—जो भेद-बुद्धि या तर्क-बुद्धि की प्रतीक है। इडा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से वहाँ राज्य बसाते है, और भोग मे रत रहते है। श्रद्धा इस बीच पुत्रवती हो जाती है। वह मनु की प्रतीक्षा में निराश होकर उनकी खोज मे निकलती है। इडा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते हैं। प्रजा भी उनसे असन्तुष्ट होकर विद्रोह करती है। मनु युद्ध में आहत होकर गिर पडते है। यह उनका चरम पतन है। इसके बाद मनु का उत्थान प्रारम्भ

होता है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते हैं और वहाँ से चुपके से निकल भागते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र को इडा को सौपकर मनु की खोज मे जाती है। वह भागवत करुणा की तरह सदैव आदिमानव की रक्षा के लिए आतुर रहती है। मनु उसके साथ फिर मन के शृगो का आरोहण करते हुए इच्छा, ज्ञान, कर्म के त्रिपुर मे पहुँचते है। श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनन्तर मनु मानस-तट पर नित्य आनन्द-लोक की प्राप्ति करते हैं, जहाँ विश्व के सुख-दु ख नही व्याप्त होते। उस समतल अधिमन की भूमि पर

'समरस थे जड या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखड घना था।'

कामायनी का कथानक उसमे निहित काव्य-दर्शन की अवतारणा के लिए केवल सक्षिप्त रगमच का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमें कुछ भी विशेषता नही है। उसमे न विस्तार है, न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढता, हृदयमन्थन अथवा भावों के उत्थान-पतन की सूक्ष्मता भी नही है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहो में लिपटा हुआ प्रसाद जी के इच्छाइगित पर चलता प्रतीत होता है। भाव-भूमि पर आधारित होते हुए भावनाओ के सवेग मे केवल शिथिलता तथा अनगढपन ही अधिक मिलता है। अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के बीच के कुहासे से गुम्फित छायापट की तरह, तीव्र अनुभूति के सवेदन में घनीभूत नही हो पाया है। पर जैसा कुछ भी धुला-घुला रंगों का छाया-प्रसार है, वह सुथरा, मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

कला-चेतना की दृष्टि से कामायनी छायावादी युग का प्रतिनिधि-काव्य कहा जा सकता है। रत्नच्छाया व्यतिकर की तरह उसकी कला, भावो की धूमिल वाष्प-भूमि में प्रस्फुटित होकर, नेत्रों को आकर्षित किये बिना नही रहती। उसमे प्राणों का मर्म मधुर उन्मन गुजार, भावनाओ का आरोहण तथा व्यापक सौन्दर्यबोध की नवोज्ज्वलता है। कुछ सर्गो में प्रसाद जी की कला हिमशिखरो पर फहराती हुई ऊषा की स्वर्णिम आभा की तरह हृदय को विस्मयाभिभूत कर देती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। अधितकर वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुठित मुख की तरह, मन से आँखमिचौनी खेलती रहती है। वह हृदय को तन्मय नही करती, केवल प्राणो में रस-स्रवण करती है। लज्जा सर्ग का आरम्भ प्रसाद जी के कला-जगत् के लिए उप-युक्त प्रवेशद्वार का काम करता है।

'कोमल किसलय के अंचल मे, नन्ही कलिका ज्यो छिपती सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर मे दिपती सी,
मजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यो
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों

नीरव निशीथ मे लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती,
कोमल बाहें फैलाये सी आलिगन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्र जाल के फूलो मे लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधुधार ढरे।' इत्यादि।

इन उपमानो द्वारा प्रसाद जी लज्जा का मूर्तिकरण करते है। सुरभित लहरों की छाया के बाद बुल्ला शब्द खटकता है, जादू पढती तथा मधुधार ढरे भी अच्छे नही लगते। शब्दो के चयन मे इस प्रकार की शिथिलता कामायनी में अत्यधिक मिलती है, जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रसाद जी को उसे दुबारा देखने का समय नही मिला। वैसे साधारणत कामायनी की कला-चेतना मे जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प में वैसी प्रौढता नही मिलती। कही-कही छन्द-भग तो असावधानी या छापे की गलती से भी हो सकता है, किन्तु बेमेल शब्द तथा श्लथ पद-विन्यास इस महान् कृति के अनुकूल नही लगते। प्राय. प्रत्येक सर्ग एक स्वतन्त्र कविता की तरह आरम्भ होता है, उसमे बहुत-कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है जो प्राय. काव्यद्रव्य की दृष्टि से वहुमूल्य नही और जिस पर सयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे सन्तुलन की श्रीवृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन' शीर्षक सर्ग का छन्द भी उसके उपयुक्त नही प्रतीत होता। किन्तु इन सब बातो के विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए यह उपयुक्त अवसर नही है। 'रहस्य' तथा 'आनन्द' नामक सर्गो मे कुछ स्थलो को छोड़कर कल्पना के आरोहण के साथ ही कला मे भी सयम का सुमधुर निखार आ गया है, यथा—

'सन्ध्या समीप आई थी उस सर के वल्कल वसना
तारों से अलक गुँथी थी, पहने कदम्ब की रसना
खगकुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि लेती थी ताने अभिनव!
श्रद्धा ने सुमन बखेरा शत शत मधुपों का गुजन
भर उठा मनोहर नभ मे मनु तन्मय बैठे उन्मन।' इत्यादि।

अब हम सक्षेप मे कामायनी के दर्शन-पक्ष पर भी विचार कर लें। मानव-मन की प्रवृत्तियो का सघर्ष, उत्थान-पतन तथा उन्नयन ही कामायनी की दर्शन-पीठ है। तर्क-बुद्धि इडा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका नि.श्रेयस्-भरा सन्देश है। यह सब ठीक है। मनु और इडा के आख्यान मे वर्तमान युग-सघर्ष का भी यत्किचित् आभास मिलता है। यद्यपि उसमें नैतिक पतन को ही संघर्ष का कारण बतलाया गया है, जो आज की युग की समस्या के लिए पूर्णतः घटित नही होता, किन्तु उसके बाद जो

कुछ है, वह केवल चिर परिचित तथा पुरातनतम, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है—अतिक्रम इस अर्थ मे कि वह मानव-जीवन के अधिक निकट पहुँच गया है। मनु इडा-प्रेरित जोवन-सघर्ष से विरक्त हो भाग खडे होते हैं और जीवन की भूमि को छोडकर मन के सूक्ष्म प्रतिमान-रूप त्रिपुर को भी पारकर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक मे पहुँचकर जीवन-समस्याओ का समाधान पाते है, जो सुख-दु ख, भेद-भाव के द्वन्द्वो से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ा-स्थल है। इडा, श्रद्धा, त्रिपुर और उनके पारस्परिक सम्बन्ध मे तथा आनन्द की स्थिति के उद्घाटन के बीच अनेक प्रकार की जो छोटी-मोटी दार्शनिक असगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है, उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक मे पहुँचकर विश्व-जीवन के सुख-दु.खमय सघर्ष से मुक्त होने का सन्देश कामायनी मे मिलता है, वह मुझे पर्याप्त नही लगता। मै मानव-चेतना का आरोहण करवाकर उसे वही मानस-तट पर अथवा अधिमानस-भूमि पर कैलाशशिखर के सन्निध्य मे छोडकर सन्तोष नही करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन-सघर्ष से विरत होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नही है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नही है कि वह इडा, श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—उसके सामने जो चिरन्तन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक-बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिए नि सशय ही इडा-श्रद्धा का सामजस्य पर्याप्त नही। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नही लौट आये। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नही कर सकते। ससार की समस्याओ का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति मे पहुँचकर, और वह भी व्यक्तिगत रूप से?

यही पर कामायनी कला-प्रयोगों मे आधुनिक होने पर भी और कुछ अशों में भाव-परिधान से भी आधुनिक होने पर भी वास्तव मे जोवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नही दे सकी। और अभिव्यक्ति देना तो दूर, उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी सम्भावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नही कर सकी। वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एव मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहणकर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एव समरस नित्य आनन्द-चैतन्य का आरोहणमूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य-युग के अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी कामायनी इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान् काव्य-कृति है, इसमे मुझे सन्देह नही । वह हमारे युग-प्रवर्तक प्रसाद जी का शुभ्र शान्त सौन्दर्य का पवित्र यश काय है, जिसे हिन्दी साहित्य मे और, सम्भवत, विश्व-साहित्य मे भी जरामरण का भय नही है, --मै यदि कभी कामायनी लिखने की असम्भव बात सोचता भी, तो मै उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नही बना सकता, जितना कि उसे महान् क्षमता तथा प्रतिभा-शाली प्रसाद जी बना गये है ।

कामायनी उनके सौन्दर्य, प्रेम तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की तरह सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठको को शान्ति, सुख, सान्त्वना देकर आत्म-कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एकमात्र मेरे हृदय की कामना है ।

काव्य-संस्मरण

जिस प्रकार अनेक रगो मे हँसती हुई फूलो की वाटिका को देखकर दृष्टि सहसा आनन्द-चकित रह जाती है, उसी प्रकार जब काव्य-चेतना का सौन्दर्य हृदय में प्रस्फुटित होने लगता है, तो मन उल्लास से भर जाता है। न जाने जगत मे कहाँ किन घाटियों की छायाओं मे, किन गाते हुए स्रोतो के किनारे तरह-तरह की फैली झाडियों की ओट मे पत्तो के झरोखो से झाँकते हुए ये छोटे-बडे फूल इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जब कि मनुष्य के कलाप्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचानकर, उनका संकलनकर तथा उन्हे मनोहर रगों की मैत्री मे अनेक प्रकार की क्यारियो तथा आकारों मे साज-सँवारकर उन्हे वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओ तथा आकांक्षाओ के गूढ तहों मे छिपे हुए अपनी जीवन-चेतना के आनन्द, सौन्दर्य तथा रस की खोजकर उसे काव्य के रूप में सचित किया।

जिस प्रकार बादलो के अन्धकार से सहसा अनेक रगों के रहस्यभरे इन्द्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनन्द-विभोर होकर किलकारी भरने लगता है, उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मन 'मेघदूत' की कुछ पक्तियाँ गुनगुनाने लगा। मैं तब नौ-दस साल का रहा हूँगा। मेरे बड़े भाई बी० ए० की परीक्षा समाप्तकर छुट्टियो मे घर आए हुए थे और बडी भाभी को मधुर कठ से गाकर राजा लक्ष्मण सिह का मेघदूत सुनाया करते थे। मै चुपचाप उनके पास बैठकर अत्यन्त तन्मयता के साथ मेघदूत के पद सुना करता था और एक अज्ञात आकुलता से मेरा मन चचल हो उठता था, सम्भवत:, भाई साहब के कठ-स्वर के प्रभाव के कारण। तब मै यह नही जानता था कि मेघदूत कालिदास की रचना है और यह केवल उसका हिन्दी अनुवाद है। बार-बार सुनने के कारण मुझे मेघदूत के अनेक पद कठस्थ हो गये थे और एकान्त में मेरा मन उन्हे दुहराया करता था, जैसे किसी ने उन्हे अपने आप मेरे स्मृति-पट पर अकित कर दिया हो।

सखा तेरे पी को जलद प्रिय मै हूँ पतिवती
सँदेसो ले वाको तव निकट आयो सुन सखी !

यह प्रिय का जलद मेरे लिए भी जैसे कुछ सन्देश लेकर आया है, तब मै इसे नहीं जानता था। जिसे अब मै शिखरिणी छन्द के नाम से जानता हूँ, तब वह मुझे बहुत प्रिय लगता था। मै प्राय. गाया करता था—

'मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन मे
मुखाभा चन्दा मे चकित हरिणी मे दृग मिले—
चलोर्मी मे भौहे, चिकुर बरही की पुछन में
न पै हा काहू मे मुहि सकल तो आकृति मिले !'

अब मुझे लगता है कि विरही यक्ष की तरह ही मैं भी न जाने कब से चकित हरिणी सी दृगवाली कविता-कामिनी के लिए छाया-पख-मेघ द्वारा सन्देश भेजता रहा हूँ—किन्तु उसकी कोई पूर्ण आकृति—जिससे मन को सन्तोष हो ऐसी छवि, मै अभी तक नही अंकित कर पाया हूँ, और मन ही मन सोचता हूँ :—

घाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह,
ऐसो घन कैसे दूत काज भुगतावेगो।
नेह कौ सँदेसो हाथ चातुर पठैवे जोग,
बादर कहोजी ताहि कैसे के सुनावेगो ।।

महाभारत के युद्ध का समर्थन जिस प्रकार गीता द्वारा कराया गया है, उसी प्रकार मेघ द्वारा दूत-कार्य कराने का समाधान मानो उपर्युक्त चरणों द्वारा किया गया है। मेघदूत मे यत्रतत्र आये हुए प्रकृति-वर्णनो ने मुझे बहुत ही मुग्ध किया है। यहाँ केवल एक ही उदाहरण देकर सन्तोष करूँगा :

जल सूखत सिन्धु भई पतरी तन, बेनी सरी को दिखावती है।
तटरूखन ते झरे पात पके, छबि पीरी मनो अँग लावती है ।।
धरि सोहनो रूप बियोगिनी को वह तो मे सुहाग मनावती है।
करियो घन सो विधि वाके लिये तन छीनता जो कि मिटावती है ।।

छुटपन मे मुझे विरहिणी नारी की रूप-कल्पना अत्यन्त सुन्दर लगती थी, सम्भव है यह मेघदूत ही का प्रभाव हो।

शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहि लिखिके
धरचों जौ लों चाहूँ तन अपन तेरे पगन में।
चले आँसू तौ लों दृगन मग रोके उमगिके
नही धाता धाती चहत हम याहू विधि मिले।

इन पंक्तियों को गाते तो आँखों मे बरबस आँसू उमड आते थे।

मेघदूत के अतिरिक्त मुझे शकुन्तला मे चौकडी भरते हुए हिरन का दृश्य भी बड़ा मोहक लगता था, जो इस प्रकार है :

फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत, देखन रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे, पिछलो गात समेटत आगे।

अधरोथी मग दाभ गिरावत, थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलॉच लखो तुम अबही, धरत पॉव धरती जब तब ही।

इस 'पिछलो गात समेटत आगे' का सस्कृत का रूप है—

पश्चार्धेन प्रविष्ट. शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वं कायम्—इस चरण में तो जैसे हिरन की गति आँखो के सामने मूर्तिमान हो उठती थी।

'पहरे बल्कल बसन यह लागत नीकी बाल' वाले छन्द को जब पीछे मैंने संस्कृत में पढा, तब तो जैसे शकुन्तला की समस्त मधुरिमा के सौरभ से हृदय भर गया। वह इस प्रकार है :

सरसिज मनुविद्ध शैवलेनापि रम्य,
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति .
इहमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिवहिमधुराणा मडन नाकृतीनाम्।

अन्तिम पक्ति का सत्य तो बारबार जीवन में परखने को मिलता रहा।

इस प्रकार मेघदूत और शकुन्तला के, राजा लक्ष्मणसिंह-कृत हिन्दी अनुवादों ने ही छुटपन मे सबसे पहले मेरे भीतर काव्य-प्रेम की नीव डाली। इसके बाद जिन पक्तियों की ओर सर्वप्रथम मेरा ध्यान आकर्षित हुआ वह तुलसीकृत रामायण की है, जिनका पाठ मेरी बहिन किया करती थी, यह भी छुटपन ही की बात है। वे पक्तियाँ है :

जय जय जय गिरिराज किशोरी, जय महेश मुख चन्द चकोरी।
जय गजवदन षडानन माता, जगत जननि दामिनि द्युति गाता।
नहि तव आदि मध्य अवसाना, अमित प्रभाव वेद नहि जाना।
भव भव विभव पराभव कारिणि, विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिणि।

इन पक्तियों की ओर मेरा ध्यान इसलिए भी आकर्षित हुआ कि मै गिरिराज हिमालय के अचल मे पला हूँ और रातदिन हिमशिखरों का दृश्य देखता रहा हूँ। पार्वती की इस स्तुति को सुनकर हिमालय के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गयी थी और जब उसके वाष्प-शुभ्र शृंगो पर कभी बिजली चमक उठती थी, जगत जननि दामिनिद्युति गाता का स्मरण हो आने से, मेरा मन, आँखों के सामने दिगन्तव्यापी हिम-श्रेणियों को देखकर विचित्र सम्भ्रम के भाव से भर जाता था।

मध्ययुगीन हिन्दी-कवियों मे पीछे जिस रचना ने मुझे सबसे अधिक मोहित किया है वह है श्री नरोत्तमदास-कृत सुदामा-चरित, जिसे मैंने न जाने कितनी बार पढ़ा है :

सीस पगा न झगा तन में प्रभु जानै को आहि, बसे केहि ग्रामा,
धोती फटी सी, लटी दुपटी, अरु पॉय उपानह् की नहिं सामा।
द्वार खडो द्विज दुर्बल, देखि रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा,
पूछत दीनदयाल कौ धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।।

द्वार पर खडी सुदामा की मूर्ति आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठती थी और हृदय कुतूहल से भर जाता था कि देखें कृष्ण क्या कहते हैं? आज अनेक दीनहीन किसान-मजदूरों के काव्य-चित्र देखने को मिलते हैं—किन्तु नरोत्तमदास के सुदामा का वह जीवित सम्मोहन उनमे नहीं मिलता। सुदामा की स्त्री अपनी गृहस्थी का जो चित्र उपस्थित करती है, वह तो जैसे बरछी की तरह हृदय मे चुभ जाता है .

कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौ दधि दूध मिठौती,
सीत वितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हे न हठौती।
जौ जनती न हितू हरि सौं तो मै काहे को द्वारिका पेलि पठौती,
या घर तें कबहू न गयो पिय, टूटो तयौ अरु फूटी कठौती।

वस्तु-स्थिति की ज्ञाता सुदामा की पत्नी उसे द्वारिका जाने को कई तरह से मनाती है। वह कहती है—लोचन अपार वै तुम्हे न पहचानि है?—जो पै सब जनम दरिद्र ही सतायौ तौ पैं कौने काज आइहै कृपानिधि की मित्रई?—किन्तु निरीह स्वाभिमानी सुदामा उसे समझाता है—सुख दुख करि दिन काटे ही बनैगे भूलि विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।

सुदम्मा का द्वारिका जाना, कृष्ण से मिलना और फिर लौटकर अपनी कुटी को न पहचान सकना—सभी वर्णन मेरे किशोर हृदय को अत्यन्त मर्मस्पर्शी लगते थे।

देव, बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि अनेक कवियों के चमत्कारपूर्ण पदों ने तब मेरे मन को अनेक अनूठे भावों की सौरभ से रससिक्त किया है। और भी प्राचीन कवियों मे विद्यापति मुझे बहुत प्रिय रहा है। उसकी कल्पना, उसका सौन्दर्य-बोध तथा कवित्व-शक्ति सदैव चिर नवीन रहेगी :

सरसिज विनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे
जीवन बिनु तन तन बिनु जीवन, को जीवन पिय दूरे।

पंक्तियाँ मन को एक अज्ञात अभाव से आकुल कर देती थी।... सूरदास के—'खंजन नैन रूप रसमातें—चंचल चारु चपल अनियारे, पल पिजरा न समाते'—पद चचल पक्षियो की तरह पंख मारकर कल्पना के आकाश मे बार-बार मँडराया करते थे :

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो,
इक लोहा पूजा मे राख्यो इक घर बधिक परचौ
पारस गुन अवगुन नहि देखत, कंचन करत खरचौ

इन पदों से मुझे सदैव बडी सान्त्वना मिलती रही है।

खडीबोली के कवियों में गुप्तजी के 'जयद्रथ-वध' नामक खंडकाव्य के अनेक चरण मुझे कठस्थ हो गये थे। उनमे उत्तरा का विलाप मुझे विशेष रूप से प्रिय लगता था।

> गति मति सुकृति धृति पूज्य प्रिय पति स्वजन शोभन सम्पदा
> हा एक ही जो विश्व मे सर्वस्व था तेरा सदा
> यों नष्ट उसको देखकर भी बन रहा तू भार है
> हे कष्टमय जीवन तुझे धिक्कार बारम्बार है

इन चरणों को मै प्राय गुनगुनाया करता था। आगे चलकर तो गुप्त जी की अनेक रचनाओं से मुझे प्रेरणा मिली है। उनकी नवीनतम कृतियों मे 'पृथ्वी पुत्र' मुझे विशेष प्रिय है। उस समय 'प्रिय-प्रवास' के भी अनेक अश मुझे अच्छे लगते थे, विशेषकर यशोदा और श्रीराधा का विलाप। अब भी मुझे उसकी अनेक पंक्तियाँ याद हैं :

> पत्रो पुष्पों रहित विटपी विश्व मे हो न कोई
> कैसी हो हो सरस सरिता वारिशून्या न होवे,
> ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का
> मोती ऐसा रतन अपना हाय कोई न खोवे! इत्यादि।

श्री नाथूराम शकर शर्मा के भी कई छन्दों ने मुझे मुग्ध किया है—विशेषकर उनकी 'केरेल की तारा' नामक रचना ने, जो तब कविता-कलाप मे प्रकाशित हुई थी :

> चौंक चौक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग
> खजन खिलाडियों के पख झड़ जाएँगे
> आज इन अँखियों से होड़ करने को भला
> कौन से अडोले उपमान अड़ जाएँगे—

अथवा मोहिनी की माँग के लिए 'तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है' आदि अनेक पक्तियाँ आज भी स्मृति-पट पर जग उठती हैं।

किन्तु कोई विशेष काव्य-कृति कब, क्यों प्रिय लगती है, यह कहना सरल नहीं है। सम्भवत. बहुत कुछ उस समय के वातावरण तथा चित्त-वृत्ति पर भी निर्भर रहता है। और यदि कुछ रचनाएँ स्मृति-पट पर अकित हो जाती हैं, तो वह सदैव ही उनकी उत्कृष्टता का प्रमाण नही माना जा सकता।

प्रसादजी की रचनाओ के सम्पर्क मे मैं बहुत पीछे आया, उससे पहले मेरा परिचय निराला जी की कविताओ से हो चुका था। सन्' ३० '३१ के बाद निरालाजी से व्यक्तिगत परिचय बढ़कर मैत्री मे परिणत हो चुका था। तब वह प्रायः जिन रचनाओं को सुनाया करते थे, उनमे अनेक कविताएँ मुझे विशेष प्रिय रही है, जैसे—

भर देते हो—बार बार तुम करुणा की किरणों से
तप्त हृदय को शीतल कर देते हो !—इत्यादि अथवा
जागो एक बार—प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हे
अरुण पख तरुण किरण खोल रही द्वार! आदि

और भी अनेक ऐसी रचनाएँ जिन्हे मै स्मृति से उद्धृत कर सकता हूँ और जो अब उनके परिमल नामक काव्य-सग्रह मे सगृहीत है, मुझे प्रिय रही हैं। परिमल की रचनाएँ मेरे अन्तर मे निरालाजी की घन-गम्भीर मन्द मधुर ध्वनि मे अंकित हैं। उनकी बड़ी रचनाओ मे तुलसीदास, सरोजस्मृति तथा राम की शक्ति-पूजा मुझे विशेष प्रिय है। छोटी रचनाओ मे परिमल के गीतो के अतिरिक्त गीतिका के अनेक गीत बड़े सुन्दर लगते है, यथा—सखि, वसन्त आया, भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया—अथवा—मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृगार—अथवा—मेरे प्राणो मे आओ, शतशत शिथिल भावनाओं के उर के तार सजा जाओ ! इत्यादि। इस प्रकार गीतिका के अनेक गीत मुझे अत्यधिक प्रिय है जिनमे 'वीणा-वादिनि वर दे' भी है जो अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका है।

प्रसाद जी की—'बीती विभावरी जागरी,
अम्बर पनघट पर डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी'

गीत एक विचित्र आशा-जागरण का मन्त्र लेकर मन को लुभाता है। और उनका 'हे लाज भरे सौन्दर्य बताओ मौन बने रहते हो क्यो—' गीत तो जैसे प्रसाद जी की मूर्तिमती कविता की तरह हृदय मे अपने आप गूँजता रहता है। प्रसाद जी के नाटकों के अनेक अन्य गीतो की तरह कामायनी के भी अनेक अश मेरी स्मृति की प्रिय धरोहर मे से हैं, जिनका उदाहरण देना सम्भव नही।

महादेवी जी का जो मर्म मधुर गीत सबसे पहले अपनी अपलक प्रतीक्षा की आशा लेकर मन मे प्रवेश कर गया, वह उनके नीहार नामक सग्रह मे मिलता है :

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा, कितने सँदेश, पथ मे बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणो का तार तार, अनुराग भरा उन्माद राग।
आँसू लेते वे पद पखार !

मुझे अपनी रचनाओं में 'चाँदनी' सबसे प्रिय है, जो मेरे मन की आकांक्षाओ से मेल खाती है :

जग के दुख दैन्य शयन पर, यह करुणा जीवन बाला
रे कब से जाग रही यह आँसू की नीरव माला।

किन्तु, 'जो तुम आ जाते एक बार' को मै इससे भी अधिक अपने निकट पाता हूँ। आगे चलकर तो महादेवी जी ने अनेक ऐसे गीत दिये है जिन्हे कठस्थ कर लेने को जी करता है, जिनमे 'मै नीरभरी दुख की बदली' भी है। सान्ध्यगीत तथा दीपशिखा के अनेक गीत मन के मौन सहचर बन गये है जो अन्तर को स्वप्न-ध्वनित करते रहते है।

बच्चन भी मेरा अत्यन्त प्रिय कवि तथा मित्र रहा है। निशा-निमत्रण तथा एकान्त सगीत के अनेक गीत 'मध्य निशा मे पंछी बोला' की तरह मन के अन्तरतम निराशा के स्तरो मे गहरी वेदना उड़ेल देते है। वैसे बच्चन की ओर सबसे पहले मै उसकी पग-ध्वनि से आकर्षित हुआ :

उर के ही मधुर अभाव चरण बन, करते स्मृति पट पर नर्तन
मुखरित होता रहता बन बन,
मै ही उन चरणो मे नूपुर, नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी
वह पग ध्वनि मेरी पहचानी!—

बच्चन की कविता की पगध्वनि मेरे मन की चिर पहचानी बन चुकी है। उसकी मिलन-यामिनी के अनेक गीत मुझे पसन्द है, विशेषकर :

प्राण, सन्ध्या झुक गई गिरि ग्राम तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद
मेरा प्यार पहिली बार लो तुम!—इत्यादि

काव्य वन के चचल खजन श्री नरेन्द्र शर्मा को मै नरेन कहता हूँ। सबसे पहले उनके 'प्रवासी के गीत' की प्रथम रचना ने ही मेरा ध्यान उनके कवि की ओर आकृष्ट किया :

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,

यह पंक्ति जैसे जीवन की अनेक गहरी साँझो को मौन मुखरित कर जीवन-विषाद के साक्षी की तरह मन की आँखो के सामने प्रत्यक्ष होती रहती है। उनके 'मिट्टी और फूल' की अनेक रचनाओ की पक्तियाँ मन में जब-तब गूँज उठती है। नरेन्द्र के अतिरिक्त श्री अज्ञेय जी की भी अनेक रचनाएँ मेरी प्रिय रही है। 'हारिल' रचना मैने कई बार पढ़ी है। 'हरी घास पर क्षण भर' की हरियाली मे क्षणभर ही नही, अनेक बार देर तक विचरण करता रहा हूँ। 'नदी के द्वीप' कविता के समर्थन में तो कई बार उनसे कह चुका हूँ कि मैं भी नदी का ही द्वीप हूँ।

वैसे अनेक और भी रचनाएँ मुझे अपने समकालीन एव नवीन कवियों की प्रिय है, जिनकी चर्चा समयाभाव के कारण इस छोटी-सी वार्ता मे करना सम्भव नहीं। इनमे दिनकर की किरणो का सम्मोहन मुझे सर्वाधिक प्रिय है।

पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

मेरे विचार मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नही है कि वह पुस्तकों से ही सीखे। पुस्तको के अतिरिक्त और भी अनेकानेक साधन हैं, जिनसे मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है और अपने भीतर सुरुचि, शील तथा उच्चतम सस्कारों को संचित कर सकता है। पुस्तको की शिक्षा एक प्रकार से एकागी शिक्षा है। हम प्रायः लोगों को कहते सुनते हैं कि अभी तुमने पढा ही है, गुना नही। इससे यही ध्वनि निकलती है कि पु तको की कोरी पढाई को जीवन और स्वभाव का अग बनाने के लिए और भी अनेक प्रकार की शिक्षाओ को आवश्यकता है, जिनमे सबसे प्रमुख स्थान शायद अनुभूति का है। वैसे भी सच्ची शिक्षा के लिए, जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुस्तको के अध्ययन-मनन के साथ ही उपयुक्त वातावरण तथा संस्कृत व्यक्तियो का सहवास, जिसे सत्सग कहते हैं, अत्यन्त आवश्यक है: जिनके बिना हम कोरे कागजी उपदेशो अथवा नैतिक सत्यो को अपने मन तथा स्वभाव का अग नही बना सकते। महान् व्यक्तियों के उन्नत विचारो तथा महान् ग्रन्थों के उत्तम आदर्शों को आत्मसात् कर उन्हे जीवन मे परिणत करने के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि उन्हे अपने कार्यो एव आचरणो मे अभिव्यक्त करने के लिए हमे मनो ुकूल व्यापक सामाजिक क्षेत्र मिले। जिस देश या समाज मे बाह्य परिस्थितियाँ, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा छोटे-मोटे स्वार्थो के कारण, मनुष्य की उन्नत आन्तरिक प्रेरणाओ का विरोध करती हैं, वहाँ भी शिक्षा का परिपाक अथवा व्यक्तित्व का यथोचित विकास नही हो पाता। ऐसी परिस्थितियाँ केवल नाटे, बौने, ठिगने, कुबडे व्यक्तियों को जन्म देकर रह जाती हैं।

स्वभाव से ही अत्यन्त भाव-प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नही रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जनसमागम से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्संग से कही अधिक सीखा है, जिसे मै सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ। इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है। भावुक तथा सवेदनशील होने के कारण मेरे भीतर स्वभाव का अश अत्यधिक रहा है। स्वभाव का अश, जिसमे अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच, सबल तथा दुर्बल सभी कुछ रहा है और अत्यधिक रहा है। छुटपन से ही मै सदैव अपने स्वभाव से उलझता रहा हूँ। अपने स्वभाव से सघर्ष करते रहने के कारण ही मैं थोडा-बहुत सीख सका हूँ, अपनी दुर्बलताओ तथा अपनी एकान्त आकाक्षाओ का ध्यान मेरे भीतर बराबर बना रहा है। अपने को भूलकर, आत्मविस्मृत होकर, अपने चिन्तन अथवा चिन्ता

के घेरे से बाहर निकलकर शायद ही मैं कभी आत्मविभोर-भाव से ससार के साथ रह सका हूँ। अगर किसी ने मुझे इस भावना से मुक्ति दी है, तो वह प्रकृति ने। प्रकृति के रूप को देखकर मैं अनेकानेक बार आत्म-विस्मृत हो चुका हूँ। जैसे माँ बच्चे को अपनाती है, वैसा प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चचल मन की आकुल व्याकुलता को, जिसे मैं किसी पर प्रकट नही कर सका हूँ और न स्वय ही समझ सका हूँ--अपने मे ले लिया है। प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी है। ससार के छोटे-मोटे सघर्षों तथा जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों के परे उसने एक व्यापक पुस्तक की तरह खुलकर मेरे भीतर अनेक सहानुभूतियाँ, सान्त्वनाएँ, स्नेह, ममत्व की भावनाएँ तथा अवाक् अलौकिक, अपने को भुला देनेवाली, शक्तियो का स्पर्श अकित किया है।

प्रकृति से मेरा क्या अभिप्राय है, शायद इसे मैं न समझा सकूँगा। अगर किसी वस्तु को बिना सोचे-विचारे, केवल उसका मुख देखकर, मेरे मन ने स्वीकार किया है, तो वह प्रकृति है। वह शायद मेरा ही एक अग है, सबसे स्निग्ध, उज्ज्वल और व्यापक अग, जिसके प्रशान्त अन्तस्तल मे सब प्रकार के सद्-असद्, उच्च-क्षुद्र, तथा सुख दुःख अपने आप जैसे घुलमिलकर एकाकार हो जाते है। उसकी एकान्त क्रोड मे बैठकर मैं अपने को सबसे बडा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सम्मुख नहीं हुई है। छुटपन मे दूसरों ने मुझे सदैव अपनी विकृतियो, सकीर्णताओ, कठोरताओं, निर्दयताओ तथा ढिठाइयो से दबाने का प्रयत्न किया है। अशिष्टता, रुखाई तथा असभ्यता का सामना करने मे अपने को अशक्त पाने के कारण मै सदैव, दूसरो की अयोग्यता के सामने भी सकोचवश सिकुड कर रहा हूँ। किन्तु प्रकृति ने अपने आँगन मे मुझे सदैव खुल खेलने को उसकाया है। उसने मेरे अनेक मानसिक घावों को अपने प्रेम-स्पर्श से भर दिया है, मेरी अनेक दुर्बलताओ को अपनी प्रेरणाओं के प्रकाश से धोकर मानवीय बना दिया है। इस प्रकार जो सर्वप्रथम पुस्तक मुझे देखने को मिली, वह प्रकृति ही है।

फूल, चाँद, तारे, इन्द्रधनुष और जगमगाते हुए ओसों से भरी इस रहस्यमयी प्रकृति के बाद--जिसका आनन्द-सन्देश मुझे साय-प्रातः पक्षी देते है--जिस दूसरे महान् ग्रन्थ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय मे अकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेट। बाइबिल भी उदार मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अग बन गयी। चिन्तन और बौद्धिक व्यायाम की कठोरता से अछूती अन्तरतम की सहज मर्मपूर्ण पुकार की तरह, बाइबिल, जैसे भावुक हृदय की, प्रेम-करुणा से भरी, पवित्र भावना की ज्योति-प्रेरित वाणी है। वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नही, आत्मा की भाव-विगलित कविता की कविता है। क्राइस्ट के अश्रुधौत, महत् त्यागपूर्ण मूर्तिमान प्रेम के व्यक्तित्व ने मेरे हृदय को मुग्ध कर दिया। दर्शन और

मनोविज्ञान के नीरस तथ्यो से ऊबकर मेरा हृदय चुपचाप, शिशु के अखड पवित्र विश्वास की तरह, सरल मधुर, बाइबिल की दिव्य लय मे बँध गया। Look at the lilies of the field, how they grow कहनेवाले महान् अन्तर्द्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वत स्फूर्त. सूक्ष्म, अन्त.सौन्दर्य का रहस्य खोल दिया। Resist not evil ने जैसे ईश्वरीय सत्य की अवश्यम्भावी अन्तिम विजय का सन्देश मेरे मन में अंकित कर दिया। Blessed are they that mourn, for they shall be comforted. Blessed are the meek : for they shall inherit the earth. जैसी सूक्तियो ने ईश्वर की अक्षय करुणा और प्रेम के न्याय के प्रति मेरे हृदय को अडिग विश्वास से भर दिया। इस क्षणभगुर, रागद्वेष और कलह-कोलाहल के अन्धकार के परदे को चीरकर सबसे पहले बाइबिल ने ही मेरे हृदय को ईश्वर की महिमा, स्वर्ग के राज्य तथा मानवता के भविष्य की ओर आकृष्ट किया। 'ye are the salt of the earth, ye are the light of the world' आदि वाक्यों ने मेरे मन की वीणा मे एक अक्षय आशावादिता का स्वर जगा दिया। सब मिलाकर बाइबिल के अध्ययन ने ससार की अचिरता और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुए मेरे अन्त.करण को एक अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया। अब भी बाइबिल को पढने से उसी प्रकार भगवत्-प्रेम के अश्रुओ से धुला, आत्म-त्याग से पवित्र, जीवन के सात्विक सौन्दर्य का जगत्, अपने मौन मधुर रूपरगो के वैभव मे मेरी मन की आँखो के सम्मुख प्रस्फुटित हो उठता है, जिसके चारो ओर एक अखडनीय शान्ति का स्निग्ध वातावरण व्याप्त रहता है, जो दिव्य औषधि की तरह मन की समस्त क्लान्ति को मिटाकर उसे नवीन शक्ति प्रदान करता है।

बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदो के अध्ययन ने भी मेरे हृदय मे प्रेरणाओ के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है। 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अत्यन्त प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अन्तर मे उपनिषदों ने ही बरसाया है। उपनिषदों का अध्ययन मेरे लिए शाश्वत प्रकाश के असीम सिन्धु मे अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियो के वातायन है, जिनसे हृदय को विश्वक्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झाँकियाँ मिलती है। अपने सत्यद्रष्टा ऋषियो के साथ चेतना के उच्च उच्चतम सोपानो मे विचरण करने से अन्त करण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया। मन का कलुष और जीवन की सीमाएँ जैसे अमृत के झरनो मे स्नान करने से एक बार ही धुल कर स्वच्छ एव निर्मल हो गयी। उपनिषदों का मनन करने से मन के बाह्य आधार नष्ट हो जाते है। उसकी सीमित कुठित तर्क-भावना को धक्का लगता है और बुद्धि के कपाट जैसे ऊपर को खुल जाते है। मन एक ऐसे अतीन्द्रिय केन्द्र मे स्थित हो जाता है, जहाँ से वह साक्षी की तरह तटस्थ भाव से विश्व-जीवन के व्यापारो का निरीक्षण करने लगता है। उपनिषदो मे भी ईशोप-

निषद् ने नाविक के तीर की तरह मेरे मन के अन्धकार को भेदने मे सबसे अधिक सहा-यता दी है। 'ईशावस्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्या जगत' के मनन-मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय मे जिज्ञासा जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षणभगुर संसार के दर्पण मे उस शाश्वत के मुख का बिम्ब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यन्त बल तथा शान्ति प्रदान की।

उपनिषदों के अध्ययन के बाद जब मैंने टाल्सटाय की My Religion नामक पुस्तक पढी, तो मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मुझे लगा कि जैसे आकाश से गिरकर मै खाई मे पड गया हूँ। टाल्सटाय की विचारधारा पाप-भावना से ऐसी कुंठित तथा पीड़ित लगी कि उसके सम्पर्क मे आकर मेरे भीतर गहरा विषाद जमा हो गया। उपनिषदों के उज्ज्वल, उन्मुक्त, अपापविद्ध ऊर्ध्वाकाश के वातावरण मे साँस लेनेवाले मन की गति जैसे श्रान्ति-क्लान्ति से शिथिल होकर निर्जीव पडने लगी। इससे उपनिषदो के ब्रह्मवाद का महत्त्व मेरे मन मे और भी बढ़ गया। इस देशकाल नामरूप के सापेक्ष जगत् के परे जो सत्य का परात्पर शिखर है, जो द्वन्द्वो मे विभक्त इस जागतिक चेतना की सीमाओ से ऊपर और बुद्धि से अतीत है, वही परम मानवीय सत्य का आधार हो सकता है। देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप बदलती हुई सापेक्ष नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं की स्थापना का रहस्य भी वही है।

किन्तु 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो' वाले उपनिपदो के सत्य मे मन अधिक समय तक केन्द्रित नही रह सका। मेरा स्वभाव फिर मुझसे उलझने लगा और, मेरे मन मे बार-बार यह जिज्ञासा उठने लगी कि यह सापेक्ष सत्य, जिसे माया कहते है, जो देश-काल के अनुरूप नित्य परिवर्तित होता रहता है, वह किन नियमों के अधीन है और उसे कौन-सी शक्तियाँ सचालित करती रहती है। मेरी इस जिज्ञासा की पूर्ति अनेक अशो तक मार्क्सवाद कर सका। हमारी सामाजिक मान्यताओ का जगत् क्यों और कैसे बदलता है और उसमे युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है, इसका सन्तोषप्रद निरूपण, इसमे सन्देह नही, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तर्कप्रणाली हमारा परिचय उन नियमो से कराती है जिनके बल पर मानवीय सत्य का छिलका अथवा सामाजिक जीवन का ढाँचा सगठित होता है। वह मानव-जीवन-सिन्धु के उद्वेलन-आलोड़न का, सामाजिक उत्थान-पतन तथा सभ्यता के प्रगति-विकास का इतिहास है। मानव-जीवन के इस समतल सतरग के वृत्त को मैंने अपनी युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे वाणी देने का प्रयत्न किया है।

किन्तु पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त मानव-जीवन के अध्ययन तथा मानव--

स्वभाव के सघर्ष की अनुभूतियो से मै जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, उनसे मुझे प्रतीत होता है कि मानव-विकास की वर्तमान स्थिति मे हमे मानव-जीवन के सत्य को उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपो मे पहचानने के बदले, उसे विश्वव्यापक सास्कृतिक स्वरूप मे पहचानने तथा अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, जिससे उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के अन्तर्विरोध नवीन जीवन-सौन्दर्य की भावना में समन्वित हो सके। इस सास्कृतिक सौन्दर्य की भावना ही मे मै नवीन मनुष्यत्व एव मानवता की भावना को अन्तर्हित पाता हूँ, जो धर्म और काम के बीच, व्यक्ति और विश्व के बीच, स्वभाव और नैतिक कर्तव्य के बीच, ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक सुनहली पुल की तरह झूलती हुई मुझे दिखाई देती है, जिसमें मानव-जाति की प्रगति तथा विकास अपने अन्तरतम सगीत को लय मे बँधे हुए युग-युग तक अविराम चरण धरते एव आगे बढते हुए जीवन की असीमता तथा शाश्वतता का प्रमाण देकर ईश्वर की आनन्द-लीला को सार्थक करते जाएँगे। एवमस्तु।

जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण

कूर्माचल की सौन्दर्य-पख तलहटी मे पैदा होने के कारण मुझे जीवन प्रकृति की गोद मे पेंग भरता हुआ मिला। सबसे पहले मैंने उसके मुख को सुन्दर के रूप मे पहचाना। किन्तु बचपन की चंचलता-भरी आँखो को जीवन का बाहरी समारोह जैसा मोहक तथा आकर्षक लगता है, वास्तव मे उसका वैसा ही रूप नही है। एक सृजन-प्राण साहित्यजीवी को वह जैसा प्रतीत होता है, जन-साधारण को वैसा नही लगता। साहित्य, सौन्दर्य तथा सस्कृति का उपासक स्वभावत भावप्रवण, कोमल प्राण, स्वाधीन प्रकृति तथा ससार की दृष्टि से असफल प्राणी होता है। उसके मन को नित्य नवीन स्वप्न लुभाते रहते है और उसकी सौन्दर्य-भोग की प्रवृत्ति उसे कठोर वास्तविकता से पलायन करने की ओर उन्मुख करती रहती है। अपनी भावुकता तथा स्वभाव-कोमल दुर्बलता के कारण उसे जीवन मे अधिक सघर्ष करना पडता है, और अपनी महत्त्वाकाक्षा के कारण बाहर के ससार के अतिरिक्त अपने अन्तर्जगत् से भी निरन्तर जूझता रहना पडता है। किन्तु यह सब होने पर भी जीवनी शक्ति के प्रति उसके मन मे एक अगाध विश्वास तथा अमिट आशा का सचार होता रहता है, जो जन-साधारण के मन मे कम पाया जाता है।

कुछ ऐसा ही स्वभाव लेकर मैंने भी इस ससार मे पदार्पण किया। मेरी भीतर की दुनिया मेरे लिए इतनी सक्रिय तथा आकर्षक रही कि अपने बाहर के जगत् के प्रति मै छुटपन से ही प्राय. उदासीन रहा। मैंने अपने समय का अधिकाश भाग कमरे के भीतर ही बिताया है और खिड़कियों के चौखटो मे जड़ा हुआ जो पास-पडोस का दृश्य मुझे देखने को मिलता रहा उसी से मै सन्तोष करता रहा हूँ। और अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखाई दी अथवा चिड़ियो का चहकना कानों मे पड़ गया, तब मेरी कल्पना जैसे उसमे अपना गन्ध-मधु मिलाकर मुझे किसी अपरूप स्वर्ग में उड़ा ले गयी है और मै बाहर के ससार के प्रति आँखे मूँद-कर और भी अपने भीतर पैठ गया हूँ, जहाँ पहुँचने पर मेरा मन धीरे-धीरे जिस स्वप्न-जगत् का निर्माण करने लगता है, उससे मेरे जीवन के समस्त अभावो की पूर्ति होती रहती है।

आप सोचेगे कि मै कैसा निकम्मा और आलसी जीवन व्यतीत करता हूँ, जो बाह्य जीवन के आर-पार-व्यापी यथार्थ से अपने को वचित अथवा विरक्त कर अपनी चेतना को स्वप्नो के झूठे सम्मोहन मे लिपटा हुए रूमानी वातावरण के नशे मे डूबा रहता हूँ। पर बात ठीक ऐसी नही है। वास्तव मे बाहर और भीतर की दुनियाँ

दो अलग दुनियाँ नही हैं। केवल यथार्थ का मुख देखते रहने से ही जीवन के सत्य तक नही पहुँचा जा सकता, और जो स्वप्न है उसे केवल असत्य कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। स्वप्न से मेरा क्या अभिप्राय है, यह आप समझ रहे होगे। वह नीद मे पगी अलस पलको का खुमार नही, बल्कि सतत जागरूक दृष्टि का नशा है। कोई यथार्थ से जूझकर सत्य की उपलब्धि करता है और कोई स्वप्नों से लड़कर। यथार्थ और स्वप्न दोनों ही मनुष्य की चेतना पर निर्मम आघात करते हैं, और दोनों ही जीवन की अनुभूति को गहन गम्भीर बनाते हैं। तो, मै स्वप्न का स्वर्ण-कपाट खोलकर जीवन के मर्म की ओर बढा हूँ, जो स्थूल के लौह कपाट से कही निर्मम तथा कठोर होता है क्योंकि वह सूक्ष्म, मोहक तथा अर्ध प्रकट होता है।

ससारी लोग मुझ जैसे व्यक्तियो पर मन ही मन हँसते है, क्योकि इतरजन जीवन की जिन परिस्थितियो का सामना सहज रूप से बिना नाक-भौह सिकोडे कर सकते हैं, उनसे मैं बार-बार क्षुब्ध तथा विचलित हो उठता हूँ। जीवन में सुख-दु:ख, दैन्य-सम्पदा, रोग-व्याधि तथा कुरूपता-कठोरता उन्हें अत्यन्त स्वाभाविक तथा जीवन के अनिवार्य अग-सी जान पडती है, और इन सब विरोधों या द्वन्द्वों को वे भाग्य की कभी न भरनेवाली टोकरी मे डालकर सन्तोष ग्रहण कर लेते है। किन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। मेरी आँखों के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है। मेरा मन मानव-जीवन का उद्देश्य जानना चाहता है, वह उसकी तह तक पैठकर उसे नये रूप मे सँजोना चाहता है और ध्येय की खोज मे अनेक प्रकार के प्रश्नों, समस्याओं तथा कार्य-कारण-भावों की गुत्थियों में उलझा रहता है। जीवन के यथार्थ को अपने विश्वासों के अनुकूल बनाने के बदले उसके सामने मूक भाव से मस्तक नवाने की नीति को वह किसी तरह अंगीकार नहीं करना चाहता। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दु.ख की भावनाओं में आत्म-सयम तथा साधना द्वारा सन्तुलन स्थापित कर सामाजिक यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने मे विश्वास करता है। इसीलिए यदि वह यथार्थ की तात्कालिक कुरूपता को उतना महत्त्व न देकर, उससे आँखे हटाकर, तथाकथित स्वप्न-जगत् में उसके आदर्श रूप को निरूपित करने मे व्यग्र रहता है, तो वह निष्क्रिय या आलसी जीवन नही व्यतीत करता।

स्वप्नद्रष्टा या निर्माता वही हो सकता है, जिसकी अन्तर्दृष्टि यथार्थ के अन्तस्तल को भेदकर उसके पार पहुँच गयी हो, जो उसे सत्य न समझकर केवल एक परिवर्तनशील अथवा विकासशील स्थिति भर मानता हो। विचारकों ने जीवन का कुछ भौतिक-बौद्धिक मान्यताओ तथा नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों मे विश्लेषण-सश्लेषण कर, उसे सिद्धान्तो मे जकड़ दिया है। मनुष्य की चेतना उन जटिल, दुरूह मूल्यांकनों को आर-पार न भेद सकने के कारण उन्ही की परिधि के भीतर घूम-फिरकर, उनकी

बालू की सी चकाचौध मे खो जाती है। किन्तु जीवन के मूल इन सबसे परे है। वह अपने ही मे पूर्ण है, क्योकि वह सृजनशील तथा विकासशील है। मनुष्य द्वारा अनुसन्धानित समस्त नियम तथा मान्यताएँ उसके छोटे-मोटे अग तथा उसकी अभिव्यक्ति के बनते-मिटते हुए पदचिह्न-भर है। वह आत्म-सृजन के आनन्द तथा आवेश में अपनी अभिव्यक्ति के नियमो को अतिक्रमकर अपनी साम्प्रत पूर्णता को निरन्तर और भी बड़ी पूर्णता मे परिणत करता रहता है।

हमारा युग जैसे लाठी लेकर आदर्श के पीछे पडा हुआ है। वह यथार्थ के ही रूप मे जीवन के मुख को पहचानना चाहता है, और उसी को गढकर, बदलकर मनुष्य को उसके अनुरूप ढालना चाहता है। यह मनुष्य नियति का शायद सबसे बड़ा व्यग्य है और यह ऐसा ही है जैसे मै अपनी प्रकृति को बदलकर अपने को बदलना चाहूँ अथवा अपनी वेशभूषा बदल लेने से अपने को भी बदला हुआ समझ लूँ। आज का मनुष्य इसीलिए यथार्थ की समस्त कुरूपता से समझौता कर, उसे आत्मसात् कर, उससे उसी के स्तर पर जूझ रहा है। "ए टूथ फार ए टूथ" का प्राकृतिक आदिम सस्कार आज उसके लिए सर्वोपरि सत्य बन गया है, और दलदल मे फँसे हुए हाथी की तरह मानव-अस्तित्व युग के कर्दम-कल्मष मे लिपटता हुआ स्वय भी कुरूप तथा कुत्सित बनता जा रहा है।

यथार्थ का दर्पण जिस प्रकार जगत् की बाह्य परिस्थितियाँ है, उसी प्रकार आदर्श का दर्पण मनुष्य के भीतर का मन है। यदि वह उस पर केवल यथार्थ की ही छाया को घनीभूत होने देगा, तो वह यथार्थ के भीषण बोझ से दवकर उसी की तरह कुरूप तथा बौना हो जाएगा। यदि वह आदर्श और यथार्थ को दो आमूल भिन्न, स्वतत्र तथा कभी न मिल सकनेवाली इकाइयाँ मानेगा, तो वह उनके निर्मम पाटों के बीच पिस जाएगा। यदि वह यथार्थ को आदर्श के अधीन रखकर उसे आदर्श के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करेगा, तो वह यथार्थ पर विजयी होकर मानव-जीवन के विकास में सहायता पहुँचा सकेगा।

जिस प्रकार आज का युग आदर्श से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है। वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है। वह व्यक्ति को समाज की भारी भरकम निष्प्राण मशीन का कल-पुरजा बना देना चाहता है। अन्तर्जीवी व्यक्ति की जो महान् सामाजिकता रूपी बाह्य देन है, वह मनुष्य की आत्मा को उसके अधीन रखकर चलाना चाहता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल-स्रोत की धारा को बन्दकर उसे उसी के प्रभाव से एकत्र हुए तालाब के पानी में डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की असगतियाँ आज के युग मे मेरे समान अन्तर्मुख प्राणी को अधिकाधिक चिन्तनशील बनाती जाती है, जिसे मै युग का ऋण समझकर चुकाने का प्रयत्न करता हूँ।

वैसे मै जीवनी शक्ति को अपने मे सम्पूर्ण मानता हूँ, जिसका प्रकाश भीतर है, छायाभास बाहर; जिसका केन्द्र मनुष्य के अन्तरतम मे है, बाह्य परिधि विशाल मानव-समाज मे; जिसका सत्य अन्तर्मुखी है; प्रसार तथा नियमो मे बँधा तथ्य बहिर्मुखी। जो मन तथा आत्मा से परिचालित होने पर भी उनके अधीन नही है। मन तथा आत्मा की इकाइयाँ जीवन के सत्य से ऊँची हो सकती है, किन्तु उससे अधिक समृद्ध तथा परिपूर्ण नही—जीवन , जो भगवत्-करुणा का वरदान स्वरूप, उनके आनन्द-इगित से चालित, उनकी मनोहर लीला का विकासशील उपक्रम-स्वरूप है। विकसित मनुष्य सृजनशील अन्त.स्थित प्राणी होता है, न कि तर्कबुद्धि मे अवसित बाह्य परिस्थिति-जीवी व्यक्ति; वह जीवन की अखडनीय एकता से सयुक्त होता है, न कि उसके चचल वैचित्र्य मे खोया हुआ, वह द्रष्टा होता है, न कि कोरा विचारक और चिन्तक; वह इन्द्रियो के स्वामी की तरह प्रकृति का उपभोग करता है, न कि उनका दास बनकर प्रकृति के हाथ का खिलौना बना रहता है। विकसित मनुष्य, वह जीवनी शक्ति का प्रतिनिधि होता है--जीवनी शक्ति--जो अन्ततः सच्चिदानन्दमयी दिव्य प्रकृति है। एवमस्तु।

भारतीय संस्कृति क्या है

आज हम एक ऐसे युग मे प्रवेश कर रहे है, जब भिन्न-भिन्न देशो के लोग एक नवीन धरती के जीवन की कल्पना मे बँधने जा रहे है। जब मनुष्य-जाति अपने पिछले इतिहास की सीमाओं को अतिक्रम कर नवीन मनुष्यता के लिए एक विशाल प्रांगण का निर्माण करने के प्रारम्भिक प्रयत्न कर रही है और जब विभिन्न संस्कृतियों के पुजारी परस्पर निकट सम्पर्क में आकर एक दूसरे को नए ढग से पहचानने तथा आपस में घुलमिल जाने के लिए व्याकुल है। ऐसे युग मे, जब कि मनुष्य के भीतर विराट् विश्व-सस्कृति की भावना हिलोरे ले रही है, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की घोषणा करनेवाली भारतीय सस्कृति के प्रश्न पर विचार-विवेचन करना असामयिक तथा अप्रासगिक नही होगा, क्योंकि भारतीय सस्कृति के भीतर वास्तव में विश्व-संस्कृति के गहन मूल तथा व्यापक उपादान यथोचित रूप से वर्तमान है।

भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे आज हमारे नव शिक्षितो के मन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई है और विचारशील लोग भी अनेक कारणों से भारतीय संस्कृति का उचित मूल्याकन करने की ओर विशेष अभिरुचि तथा आग्रह प्रकट करते नहीं दिखाई देते है। इसके मुख्य कारण यही हो सकते है कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हमारी सस्कृति के ढाँचे में अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ, असुन्दरताएँ तथा विचार-सम्बन्धी क्षीणताएँ आ गयी है और मध्य युगों से हम प्राय लौकिक जीवन के प्रति विरक्त, परलोक के प्रति अनुरक्त, अन्धविश्वासो के उपासक तथा रूढ़ि-रीतियों के दास बन गये है। मध्य युग भारतीय सस्कृति के ह्रास का युग रहा है, जिसके प्रमुख लक्षण हमारी आत्म-पराजय, सामाजिक असगठन तथा हमारे मानसिक विकास का अवरोध रहे है। इसके अतिरिक्त हमारे विचारको तथा विवेचको का मस्तिष्क पाश्चात्य विचारधारा से इतना अधिक प्रभावित तथा आक्रान्त रहा है कि उन्होने भारतीय सस्कृति के प्रति पश्चिम के समीक्षकों के छिछले तथा भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण को अक्षरशः सत्य मान लिया है, जिससे अपनी संस्कृति के प्रति उनकी भावना आहत तथा विवेक कुंठित हो गया है। फलतः आज हमारा नव शिक्षित समुदाय भारतीय संस्कृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा है और पश्चिमी विचारो तथा रहन-सहन का थोथा अनुकरण कर अति आधुनिकता के हँसमुख अन्धकार से भरे हुए गहरे गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

ऐसा क्यों हो गया है, पश्चिमी विचारधारा की क्या विशेषताएँ है और उसके आकर्षण के क्या कारण हैं, पहले हम इस पर विचार करेंगे।

पश्चिमी विचारधारा की मुख्य दो विशेषताएँ है, जिनके कारण वह युग-युग से पराधीन तथा जीवन-विमुख भारतीय शिक्षित समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सकी है। उसकी पहली विशेषता है उसका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण। पश्चिमी विचारधारा जीवन के प्रति अपने मोह को कभी नही भुला सकी है। उसने जीवन की कल्पना को मानव-हृदय के समस्त रस से सीचकर तथा रगीन भावनाओ मे लपेटकर उसे मन की आँखों के लिए सदैव मोहक बनाकर रखा है। जीवन के क्षेत्र का त्यागकर या उससे ऊपर उठकर मन की अन्तरतम गुहा मे प्रवेश करना अथवा आत्मा के सूक्ष्म रुपहले आकाश मे उड़ना उसने कभी अगीकार नही किया है। और भारतीय विचारधारा के प्रति उसके विरोध का एक यह भी मुख्य कारण रहा है कि उसने मात्र जीवन के सतरगी कुहासे को उतना अधिक महत्त्व नही दिया है, बल्कि उसे माया कहकर एक प्रकार से उसकी ओर निरुत्साह ही प्रकट किया है।

दूसरी विशेषता पश्चिमी विचारधारा की यह रही है कि उसने तर्क-बुद्धि के मूल्यांकन को आँखों से कभी ओझल नही होने दिया है। उसने तर्क-बुद्धि की सफलता को उसकी सामाजिक तथा लौकिक उपयोगिता में माना है और उसका प्रयोग ऐहिक, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुख की अभिवृद्धि के लिए किया है। पश्चिमी सस्कृति तर्क-बुद्धि से इतनी अधिक प्रभावित रही है कि उसने धीरे-धीरे धर्म को भी उसके सूक्ष्म रहस्यमय तत्त्वो से विमुक्त कर उसे अधिकाधिक लौकिक तथा उपयोगी बनाने की चेष्टा की है और धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक रूढ़ि-रीतियो को केवल अन्धविश्वास कहकर, धर्म को कुछ लौकिक तथा जीवनोपयोगी नैतिक नियमो के सयोजन में सीमित कर दिया है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर जन-साधारण के लिए पश्चिम में धर्मानुराग का अर्थ केवल व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी नैतिकता ही से रहा है। और भारतीय संस्कृति के प्रति पश्चिम के विचारकों का एक यह भी आक्षेप रहा है कि उसमे नैतिकता, सदाचार अथवा पाप-पुण्य की भावना पर उतना जोर नही दिया जाता है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी विचारकों ने भारतीय सस्कृति पर केवल ऊपर ही ऊपर सोच-विचार किया है। और इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति सदैव से उच्च से उच्चतम नैतिकता, सदाचार, आदर्शों तथा उदात्त व्यक्तित्वों की पोषक रही है। किन्तु वह नैतिकता तक ही कभी भी सीमित नही रही है, उसमें मन के आध्यात्मिक आरोहण के लिए नैतिकता एक आवश्यक उच्च सोपान-मात्र रही है। पश्चिमी संस्कृति आध्यात्मिकता को आध्यात्मिकता के लिए कभी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकी। जीवन के क्षेत्र मे दृढ़ चरण रखे हुए वह आध्यात्मिक स्फुरणों के सौन्दर्य, माधुर्य तथा आनन्द की केवल प्रशंसक-मात्र रही है और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपयोग उसने जीवन का भार वहन करने भर को किया है।

भारतीय संस्कृति का मूल ~~मन्त्र~~ आध्यात्मिकता रहा है और आध्यात्मिकता भी

केवल आध्यात्मिकता के लिए, न धन न जन न च कामिनी के लिए, जोकि ऐहिक जीवन के अत्यन्त आवश्यक उपादान है। किन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिकता का हम क्या अभिप्राय समझे ? इससे हमें यही समझना चाहिए कि भारतीय सस्कृति न मनुष्य के अस्तित्व का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है। उसने उसके मर्त्य तथा जीव-रूप को ही सम्मुख रखकर उसके लिए जीवन-धर्म की व्यवस्था नही बनायी है, वल्कि उसने उसके शाश्वत अमर्त्य रूप की अभिव्यक्ति तथा विकास के लिए भी पथ-निर्देश किया है। जो लोग भारतीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे केवल बाहरी ज्ञान रखते है, उन्हे उसमे केवल अनेक सम्प्रदाय, मत, रूढि-रीति, तप और साधना के नियम, योग, दर्शन आदि ऐसी अन्धविश्वासपूर्ण पुराणपन्थी वस्तुएँ मिलती है कि वे उनकी ऐहिक तथा लौकिक जीवन-सम्बन्धी उपयोगिता को यकायक समझ नही पाते है। हम प्राय. एक जन्म में एक पीढ़ी के, अथवा अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों के जीवन को देख पाते है और वह जीवन-वृत्त जिन मान्यताओ, दृष्टिकोणो, अभिरुचियों तथा परिस्थितियो को लेकर चलता है उन्ही को सत्य मान लेते है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन-तत्त्व सदैव विकासशील रहा है और व्यक्ति के जीवन की स्थिति केवल बाह्य जीवन ही मे नही, उससे भी ऊपर अथवा परे, शाश्वत परात्पर सत्य मे मानी गयी है। इस शाश्वत जीवन के लिए भारतीय सस्कृति ने अन्तर्मुखी पथ निर्धारित किया है। मनुष्य का पूर्ण विकास एक सुख-सम्पन्न पूर्ण सामाजिकता ही मे नही, बल्कि मुक्त शान्त आनन्दमय अमरत्व की स्थिति प्राप्त करने मे माना गया है और ऐसे व्यक्तियो ने, जो इस स्थिति को प्राप्त कर सके हैं, मानव-समाज के समतल सत्य मे भी बराबर नवीन मौलिक तथा उच्च गुणों का समावेश किया है। भारतीय सस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है वहाँ उसके लोकोत्तर व्यक्तित्व की रूप-रेखाएँ ईश्वरत्व मे मिल जाती हैं। किन्तु यह कहना मिथ्या आरोप होगा कि भारतीय सस्कृति केवल व्यक्तिवादी ही रही है। उसने सामाजिक तथा लौकिक जीवन के महत्त्व को भी उसी प्रकार समझने की चेष्टा की है। और भिन्न-भिन्न युगों की परिस्थितियों के आधार पर उसने अत्यन्त उर्वर तथा उन्नत सामाजिक जीवन के आदर्श सामने रखे है और उन्ही के अनुरूप लोक-जीवन का निर्माण करने मे भी वह अत्यन्त सफल रही है। धर्म-अर्थ-काम सभी दिशाओ मे उसका विकास तथा विस्तार अन्य सस्कृतियो की तुलना मे अतुलनीय रहा है। उसके वर्णाश्रम की मौलिक व्यवस्था भी जीवन की सभी स्थितियों को सामने रखकर बनाई गयी थी, अब भले ही अपने ह्रास-युग मे उसका स्वरूप विकृत हो गया हो।

किन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि बाह्य जीवन की खोज तथा विजय में पश्चिमी प्रतिभा की विश्व-सभ्यता को सबसे बड़ी देन रही है। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य मुख्यत: अन्तर्जगत् की खोज तथा उपलब्धि रही है और नि'सन्देह भारतवर्ष अन्तर्जगत् का सर्वश्रेष्ठ तथा सिद्ध वैज्ञानिक रहा है।

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं, जब कि पूर्व और पश्चिम एक दूसरे की ओर बाँहे बढ़ाकर एक नवीन मानवता के वृत्त मे बँधने जा रहे हैं। आज की जीवन-चेतना को पूर्व और पश्चिम मे, ज्ञान और विज्ञान में, या आध्यात्मिकता और भौतिकता में बाँटकर कुंठित करना भविष्य की ओर आँखे बन्द कर चलने के समान है। और इसी प्रकार भारतीय संस्कृति या पश्चिमी संस्कृति की दृष्टि से आज की मानवता के मुख को पहचानना, उसके लिए अन्याय करना है।

मनुष्य का भूत और वर्तमान ही उसे समझने के लिए पर्याप्त नही है। भावी आदर्श पर बिम्बित उसका चेहरा इन सबसे अधिक यथार्थ और इसीलिए अधिक सुन्दर तथा उत्साहजनक है।

यदि पिछले युगों में, और आज भी, पश्चिम की सभ्यता तथा सस्कृति अधिक जीवन-सक्रिय, क्षुब्ध तथा संघर्षप्रिय रही है और भारतवर्ष की सस्कृति अधिक अन्तश्चेतन, प्रशान्त, अहिंसात्मक तथा बाहर से अल्प क्रियाशील अथवा जीवन-अक्षम; अगर पश्चिम की सस्कृति वहिर्जड़ प्रकृति पर और पूर्व की अन्त प्रकृति पर विजयी हुई है; अगर पश्चिम की संस्कृति ने बाह्य का, वस्तु का, विविध का या वैचित्र्य का और भारतीय सस्कृति ने अन्तस् का, एक का, कैवल्य का या परम का अधिक अध्ययन, मनन तथा चिन्तन किया है; तो आनेवाली विश्व-सभ्यता और मानव-सस्कृति अपने निर्माण मे इन दोनों का उपयोग कर अधिक सुन्दर स्वस्थ सम्पन्न बनकर तथा भावी मानवता की एकता में नवीन विविधता और उसके पिछले संस्कारों की विविधता मे नवीन एकता के दर्शन कर, एक ऐसी व्यापक सस्कृति के वृत्त में प्रवेश कर सकेगी जो भारतीय भी होगा और पश्चिमी भी, और इन दोनों को आत्मसात् और अतिक्रमकर इनसे कही अधिक महत्, मोहक, मानवीय तथा अपनी पूर्णकाम लौकिकता मे अलौकिक भी।

भाषा और संस्कृति

आजकल जो अनेक समस्याएँ हमारे देश के सामने उपस्थित हैं, उनमे भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओ मे किसी न किसी रूप में इनकी चर्चा होती रहती है और इस सम्बन्ध मे अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादपूर्ण पहलू लोगो के सामने आ गये हैं और उन पर यथेष्ट प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमे अत्यन्त धीरज, साहस तथा सद्भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यन्त सबल साधनो मे से है। विश्व-मानवता का मानसिक सगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। भाषा हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारो, आदर्शो, सत्य-मिथ्या के मानों तथा अपनी भावनाओं एव अनुभूतियो को सरलतापूर्वक व्यक्तकर एक दूसरे के मन में वाहित करते हैं। भाषा भी, सस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज सत्य नही, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वरूप सगठित नहीं होता, तो हम जो कुछ शब्द-ध्वनियो या लिपि-संकेतों द्वारा कहते है, और अपनी चेतना के जिन सूक्ष्म भावो का अथवा मन के जिन गुणो का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते है, वह सब सम्भव तथा सार्थक नही होता।

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने युग तथा देश की परिस्थितियों पर विचार करते हैं, तो हमे यह समझने मे देर नही लगती कि अपने देश की जनता मे, उसके विभिन्न वर्गो और सम्प्रदायो मे, एकता स्थापित करने के लिए तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, सयुक्त एव सगठित बनाने के लिए हमें एक भाषा के माध्यम की नितान्त आवश्यकता है, जिसका महत्त्व किसी भी दूसरे तर्क या विवाद से घटाया नही जा सकता। यह ठीक है कि हमारी सभी प्रान्तीय भाषाएँ यथेष्ट उन्नत है, उनका साहित्य पर्याप्त विकसित है और वे अपने प्रान्तो के राज-काज को सँभाल सकती है। किन्तु राष्ट्रभाषा के प्रचार तथा अभ्युदय से प्रान्तीय भाषाओं के विकास मे किसी प्रकार की क्षति या बाधा पहुँच सकती है, इस प्रकार का तर्क समझ मे नही आता। वास्तव में राष्ट्रभाषा या एक भाषा का प्रश्न अगली पीढ़ियों का प्रश्न है। आज की पीढ़ी के हृदय में मध्ययुगों की इतनी विकृतियाँ और सकीर्णताएँ अभी अवशेष हैं कि हम छोटे-मोटे गिरोहों, सम्प्रदायो, वादो और मतों मे बँटने की अपनी ह्रास-युग की प्रवृत्तियो को छोड ही नहीं सकते। विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण तथा पराजित हो गयी

है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नही सकते और अपने स्वार्थो से बाहर, एक सबल सन्तुलित राष्ट्रीय सगठन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। अगली पीढियाँ अपनी नवीन परिस्थितियो के कारण राष्ट्रीय आदर्शो के गौरव के प्रति अधिक जाग्रत और प्रबुद्ध हो सकेगी, इसमे सन्देह नही। उनके हृदयों मे अधिक स्फूर्ति होगी, रक्त मे नवीन जीवन, तथा प्राणो मे अदम्य उत्साह एव शक्ति। वे अपनी प्रान्तीय भाषा के साथ राष्ट्रभाषा के वातावरण मे भी बढेगी और उसे भी आसानी से सीख लेगी।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की तरह रटकर साक्षर तथा शिक्षित होने का अभिमान ढोते आये है। तब प्रान्तीय भाषाओ के जीवन का प्रश्न हमारे मन मे नहीं उठता था। आज जब राजकाज मे अग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रान्तीय भाषा-भाषियो का विरोध हठधर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक साम्प्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-सम्बन्धी साम्प्र-दायिकता के दलदल मे डूबने जा रहे है!

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रान्तीय भाषाओ की जननी सस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओ मे भी सस्कृत के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे बढने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएँ तो विशेष रूप से सस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि-सौन्दर्य तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित है। अगर हम अपनी हठधर्मी से लड सके, तो मुझे कोई कारण नही दीखता कि क्यो हम आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे एकमत होकर स्वीकारकर उसे वास्तविकता मे परिणत नही कर सकते। अन्य प्रान्तीय भाषाओ की तुलना मे राशि (जनसख्या) तथा गुण (सरलता, सुबोधता, उच्चारण-सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

हिन्दी-उर्दू का प्रश्न प्रादेशिक भाषाओ के प्रश्न से कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है। एक तो दोनो की जनक-भाषाएँ आमूल भिन्न है। हिन्दी सस्कृत की सन्तान है, उर्दू फारसी और अरबी की। फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायो मे विभक्त है, हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोणों मे भी सामजस्य स्थापित नही हो पाया है। फलत हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न सस्कृतियों की चेतनाओ तथा उपादानो की वाहक मानने लगे है। पर यह पुरानी दुनिया का इतिहास है। ससार मे आज सभी जातियो, वर्गो, समहो या सम्प्रदायों में धार्मिक, नैतिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियो का सघर्ष देखने को मिलता है जो आगे चलकर आनेवाली दुनिया मे अधिक व्यापक सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ले

आएगा, तब भिन्न-भिन्न समूहों की अन्तश्चेतना के सगठनो मे साम्य, सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जायगी । इसे अनिवार्य तथा अवश्यम्भावी समझना चाहिए ।

हमे हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आप उत्तर प्रदेश की भाषा कह ले—दो रूप मानना चाहिए । दोनो एक ही जगह फूली-फली हैं । दोनो के व्याकरण मे, वाक्यों के सगठन, सन्तुलन तथा प्रवाह आदि मे पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य मे विभिन्नता भी है । साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक ही भाषा को दो चोटियाँ है, जिनमे से एक अपने निखार मे सस्कृत-प्रधान हो गयी है, दूसरी फारसी-अरबी-प्रधान । और उनका बीच का बोलचाल का स्तर ऐसा है जिसमे दोनों भाषाओं का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है । हिन्दी-उर्दू के एक होने मे बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप मे हमें विच्छिन्न किए हुई है । भविष्य मे हमारे राष्ट्रीय निर्माण मे जो सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेगी वह बहुत हद तक इन विरोधो को मिटाकर दोनो सम्प्रदायो को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व मे बाँध देगी । विरोध के भीतरी कारण नही रहेगे अथवा पगु हो जाएँगे ।

इस समय हमारा चेतन मानव-प्रयास इस दिशा मे केवल इतना ही हो सकता है कि दोनों भाषाओ को मिलाने के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सके । वह आधार इस समय स्थूल ही आधार हो सकता है—और वह है नागरी लिपि । सरकार को हिन्दी-उर्दू-भाषियो के लिए, राज-काज मे, एक ही लिपि को स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए । यही नीति हमारे शिक्षा-केन्द्रो की भी होनी चाहिए । हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बलपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नही करना चाहिए । केवल एक लिपि के आधार पर जोर देना चाहिए । यह कहने की आवश्यकता नही कि नागरी लिपि उर्दू से ही नही, ससार की सभी लिपियों से शायद अधिक सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और उसमें समयानुकूल छोटे-मोटे परिवर्तन आसानी से हो सकते है ।

भाषा का सूक्ष्म जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने आप कर सकेगा । उसमे आने वाली पीढियाँ अपने जीवन के रक्त से, अपनी प्रीति के आनन्द से तथा स्वप्नो के सौन्दर्य से सामजस्य प्रदान कर सकेगी । वह मेल अधिक स्वाभाविक नियमों से सचालित होगा । आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में दोनों को मिलाने का कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न कर रहे है । यह हमे कहीं नहीं ले जाएगा । क्योंकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्ही आन्तरिक नियमो के आधार पर ही सफल हो सकते हैं । ऐसे बाहरी प्रयत्नो से हम भाषा का व्यक्तित्व, उसका सौष्ठव तथा सौन्दर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देगे । भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते हुए मै सोचता हूँ हिन्दी-उर्दू का मेल सस्कृत के ध्वनि-सौन्दर्य, रुचि-

सौष्ठव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा, जिसमे अधिकाधिक मात्रा मे बोलचाल के लोक-प्रचलित तद्भव शब्दो का समावेश किया जा सकता है। किन्तु सचेष्ट प्रयत्नो के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आनेवाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियो के आलोक मे भाषा को किस प्रकार सँवारेगी यह अभी किसी गणित के नियम से नही बतलाया जा सकता।

सांस्कृतिक आंदोलन

आज का विषय है सास्कृतिक आन्दोलन,——क्यो, कैसा ?——इससे हमारा अभिप्राय है, क्या हमे सास्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है ? इस युग मे जिस प्रकार राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन लोक-जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति कर रहे हैं क्या हमे उसी तरह एक सास्कृतिक आन्दोलन भी चाहिए, जो हमारे युग की समस्याओ का समाधान करने मे सहायक हो ? और अगर चाहिए तो उसके आधार क्या हो, उसे किन मान्यताओ को अपना कर चलना चाहिए ?

शायद 'आन्दोलन' शब्द हमारे अभिप्राय को प्रकट करने के लिए अधिक उपयुक्त नही। वह आज के सघर्षपूर्ण वातावरण मे अधिक आन्दोलित लगता है। हमे कहना चाहिए शायद 'सचरण'——सास्कृतिक सचरण, जिससे सृजन और निर्माण की ध्वनि अधिक स्पष्ट होकर निकलती है। बाहरी दृष्टि से देखने मे उपर्युक्त विषय——सास्कृतिक आन्दोलन, क्यो, कैसा ?——ऐसा जान पडता है कि हम लोग यहाँ किसी प्रकार का बौद्धिक व्यायाम करने के लिए अथवा तार्किक दाँव-पेच दिखाने के लिए एकत्र हुए हैं। पर ऐसा नही है। मेरा विनम्र विचार है कि हमे सस्कृति जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को——जिसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तरतम विश्वासो, श्रद्धाओ, आदर्शो तथा सत्य, शिव और सुन्दर के सिद्धान्तो से है——केवल मन या बुद्धि के धरातल पर ही नही परखना चाहिए। उसका सम्बन्ध मनुष्य की अन्तश्चेतना, उसकी गम्भीरतम अनुभूतियों, उसके अन्तर्मन के सहजबोध तथा रहस्य-प्रेरणाओ से भी है। हम मनुष्य के मन और बुद्धि की सीमाओं से अच्छी तरह परिचित हैं। सस्कृति क्या है, इस पर एक महान् ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है और फिर भी उसके साथ यथेष्ट न्याय नही हो सकता। अभी मै अन्तश्चेतना, अन्तर्विश्वास और सहजबोध के बारे मे जो कह चुका हूँ, उनके अस्तित्व के बारे में भी कोई बौद्धिक प्रमाण नही दिया जा सकता। ये सदैव अनुभूति ही के विषय रहेंगे।

सस्कृति के आधारो तथा मान्यताओ की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही लगती है। बुद्धि का प्रकाश तो किसी हद तक सभी सूक्ष्म विषयो पर डाला जा सकता है, पर हमें बुद्धि के निर्णय को आखिरी हद या अन्तिम सीमा नही मान लेना चाहिए। उससे भी प्रबल और पूर्ण साधन मनुष्य के भीतर ज्ञान-प्राप्ति अथवा सत्य-बोध के लिए बतलाए जाते है।

मेरे विचार मे किसी भी सास्कृतिक आन्दोलन या सास्कृतिक सस्था का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्ति को उसकी बुद्धि के ऊपर स्थान दे

और उसे मानव-हृदय मे जाग्रत कर उसके विकास के लिए उपयुक्त साधन और वातावरण प्रस्तुत करे। जहाँ मनुष्य स्वय स्रष्टा बन जाता है वहाँ उसका अन्तरतम चेतन व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है—उसे सौन्दर्य, आनन्द और शाति का अनुभव होने लगता है जीवन का अन्धकार और मन का कुहासा छिन्न-भिन्न होने लगता है। वह जीवन और उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसका अपने अनुकूल तथा समाज और युग के अनुरूप निर्माण एव सृजन करने लगता है, वह प्रकृति और स्वभाव का अग ही न रहकर उनका द्रष्टा और स्रष्टा भी बन जाता है।

मनुष्य के श्रद्धा, विश्वास तथा भीतरी आस्थाओ के समर्थन मे मै इन थोडे से शब्दों में सकेत-भर कर रहा हूँ। वैसे हमारा युग विज्ञान का युग कहलाता है—जिसका अर्थ है भूत-विज्ञान का युग। विज्ञान शब्द मनोविज्ञान, अन्तर्विज्ञान, आत्मविज्ञान आदि जैसे सूक्ष्म दर्शन-विषयों के लिए भी प्रयुक्त होता है, लेकिन इस युग मे हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं—अधिक प्रकाश डाला है और भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक-रासायनिक शक्तियो पर अपना आधिपत्य जमा लिया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव-जीवन की, भौतिक एवं आधुनिक अर्थ में, सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गयी है। जीवन की इन सबल बाह्य गतियो का नए ढग से संगठन करने के लिए आज ससार मे नवीन रूप से राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलनो का प्रादुर्भाव, लोकशक्तियों का संघर्ष, तथा महायुद्धों का हाहाकार बढ़ रहा है। ये राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु-सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलत: आज हमारा पदार्थ-जीवन, भौगोलिक दृष्टि से, मुख्यत: तीन विभागो मे विभक्त हो गया है। एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र है, दूसरी ओर साम्यवादी रूस और चीन, तथा तीसरी ओर हिन्दुस्तान-जैसे अन्य छोटे-बडे देश, जिनका निर्माणकाल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नही हुआ है और जो उपर्युक्त दोनो सशक्त संगठनों के भले-बुरे परिणामो से प्रभावित तथा सत्रस्त है। हमे तीसरे विश्वयुद्ध की अस्पष्ट गर्जना अभी से सुनाई देने लगी है, जो सम्भवत. अणु-युद्ध होगा।

ऐसी अवस्था मे हम अनुभव करते है कि मानव-जाति को इस महाविनाश से बचाने के लिए हमे आज मनुष्य-चेतना के ऊर्ध्व स्तरों को भी जाग्रत तथा सक्रिय बनाना है, जिससे आज की विश्व-परिस्थितियो मे सन्तुलन पैदा किया जा सके, और लोक-जीवन के इस बहिर्गत प्रवाह के लिए एक अन्तर्मुख स्रोत भी खोलना है, जिससे जीवन की मान्यताओ के प्रति उसका दृष्टिकोण और व्यापक बन सके। आधुनिक भौतिकवाद मुझे, मध्ययुगीन भारतीय दार्शनिको के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकागी तथा अधूरा लगता है। मानव-जीवन के सत्य को अखडनीय ही मानना पड़ेगा, उसके

टुकड़े नहीं किए जा सकते। मैं सोचता हूँ मनुष्य की चेतना, सत्ता, मन और पदार्थ के स्तरों में नवीन विश्व-परिस्थितियों के अनुरूप समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से जो भी प्रयत्न सम्भव हो, उन्हें हमें नवीन सांस्कृतिक संचरण के रूप में ही अग्रसर करना होगा। क्योंकि संस्कृति का संचरण न राजनीति की तरह समतल संचरण है, न धर्म और अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है और मानव-जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों गतियों, प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का उसमें समावेश रहता है। मनुष्य की सृजनात्मिका वृत्ति को उसमें अधिक सम्पूर्ण प्रसार मिलता है।

ऐसे आन्दोलन द्वारा हम पिछले धर्मों, आदर्शों और संस्कृतियों में अस्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित मानव-चेतना के अन्तर-सौन्दर्य को अधिक परिपूर्ण रूप में प्रस्फुटित कर सकेंगे, और उसे जाति, श्रेणी, सम्प्रदायों से मुक्त एक नवीन मानवता में ढाल सकेंगे। जहाँ तक मान्यताओं का प्रश्न है मेरी समझ में मानवीय एकता ही हमारे जीवन-मानों का आधार बननी चाहिए। जो आदर्श अथवा विचार-धाराएँ मनुष्य की एकता के विरोधी हों या उसके पक्ष में बाधक हों उनका हमें परित्याग करना चाहिए, और जो उसकी सिद्धि में सहायक हों उनका पोषण करना चाहिए। मानव-एकता के सत्य को हम मनुष्य के भीतर से ही प्रतिष्ठित कर सकते हैं, क्योंकि एकता का सिद्धान्त अन्तर्जीवन या अन्तश्चेतना का सत्य है। मनुष्य के स्वभाव, मन और बहिर्जीवन में सदैव ही विभिन्नता का वैचित्र्य रहेगा। इस प्रकार हम भिन्न जातियों और देशों की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी मनुष्य को एक आन्तरिक एकता के स्वर्णपाश में बाँध सकेंगे एवं आज के विरोधों से रहित एक अन्त संगठित मनुष्यता का निर्माण कर सकेंगे जिसके चेतना, मन और प्राणों के स्तरों में अधिक सम्पूर्ण सन्तुलन होगा, जो अन्तर्जीवन की अभीप्साओं और बहिर्जीवन के उपभोग में एकान्त-समन्वय स्थापित कर सकेगी और जिसका दृष्टिकोण जीवन की मान्यताओं के प्रति अधिक ऊर्ध्व, व्यापक तथा गम्भीर हो जाएगा।

सांस्कृतिक चेतना

(अभिभाषण का अंश)

आज जब साहित्य, सस्कृति तथा कला की अन्तःशुभ्र सूक्ष्म पुकारे बाह्य जीवन के आडम्बर तथा राजनीतिक जीवन के कोलाहल मे प्राय डूब-सी रही है, आप लोगों का इस सास्कृतिक समारोह मे सम्मिलित होना विशेष महत्त्व रखता है। इससे हमे जो आशा, उत्साह, जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है, वह शब्दो मे व्यक्त नही की जा सकती। आपका अमूल्य सहयोग मनुष्य की उस अन्तर्जीवन की आकाक्षा का द्योतक है, जिसके अभाव मे आज के युग की बाहरी सफलता अपने ही खोखलेपन मे अधूरी तथा असम्पूर्ण रह गयी है।

किसी भी देश का साहित्य उसकी अन्तश्चेतना के सूक्ष्म सगठन का द्योतक है: वह अन्त सगठन जीवन-मान्यताओ, नैतिक शील, सौन्दर्य-बोध, रुचि, सस्कार आदि के आदर्शों पर आधारित होता है। आज के सक्रान्तिकाल मे, जब कि एक विश्वव्यापी परिवर्तन तथा केन्द्रीय विकास की भावना मानव-चेतना को चारो ओर से आक्रान्त कर उसमे गम्भीर उथल-पुथल मचा रही है, किसी भी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक संस्था का जीवन कितना अधिक कटकाकीर्ण तथा कष्टसाध्य हो सकता है, इसका अनुमान आप-जैसे सहृदय मनीषी एव विद्वान सहज ही लगा सकते है। इन आधिभौतिक, आधि-दैविक कठिनाइयो को सामने रखते हुए मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि यह सास्कृतिक आयोजन आज के युग की उन विराट् स्वप्न-सम्भावनाओं के स्वल्प समारम्भों में से एक है, जो आज पिछली सन्ध्याओ के पलनो मे झूलती हुई अनेक दिशाओं में, अनेक प्रभातों की नवीन सुनहली परछाँइयों मे जन्म ग्रहण करने का कृच्छ्र प्रयास कर रही है। ऐसे समय हम अपने गुरुजनो का आशीर्वाद तथा पथ-प्रदर्शन चाहते है, अपने समवयस्कों तथा सहयोगियो से स्नेह और सद्भाव चाहते है, जिससे हम अपने महान् युग के साथ पैग भरते हुए आनेवाले क्षितिजो के प्रकाश को छू सके। आप जैसे विद्वज्जनो के साथ हमे विचार-विनिमय तथा साहित्यिक आदान-प्रदान करने का अपूर्व सयोग मिल सके, यही हमारे इस अनुष्ठान का उद्देश्य, इस साहित्यिक पर्व का अभिप्राय है, जिसमे हम अपने समवेत हृदय-स्पन्दन मे पिछले युगो की चेतना को थपकी देते हुए और अपनी सास्कृतिक शिराओं मे नवीन युग की गत्यात्मकता को प्रवाहित करते हुए, अपने सम्मिलित व्यक्तित्व में पिछले आदर्शो का वैभव तथा नवीन जागरण के आलोक को मूर्तिमान करने का प्रयत्न करना चाहते है।

आज के साहित्यिक अथवा कलाकार की बाधाएँ व्यक्तिगत से भी अधिक उसके युग-पथ की बाधाएँ है। आज मानव-जीवन बहिरन्तर की अव्यवस्था तथा विशृंखलता

से पीड़ित है। हमारा युग केवल राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति का ही युग नही, वह मानसिक तथा आध्यात्मिक विप्लव का भी युग है। जीवन-मूल्यो तथा सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति ऐसा घोर अविश्वास तथा उपेक्षा का भाव पहले शायद ही किसी युग मे देखा गया हो। वैसे सभ्यता के इतिहास मे समय-समय पर अनेक प्रकार के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तन आये है, किन्तु वे एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध होकर शायद ही कभी आये हो। आज के युग की राजनीतिक तथा सास्कृतिक चेतनाएँ धूप-छाँह की तरह जैसे एक दूसरे से उलझ गयी है। मानव-चेतना की केन्द्रीय धारणाओ तथा मौलिक विश्वासो मे शायद ही कभी ऐसी उथल-पुथल मची हो। आज विश्व-सत्ता की समस्त भीतरी शक्तियाँ तथा बाहरी उपादान परस्पर विरोधी शिविरो मे विभक्त होकर लोक-जीवन के क्षेत्र मे घोर अशान्ति तथा मानवीय मान्यताओ के क्षेत्र मे विकट अराजकता फैला रहे है। आज अध्यात्म के विरुद्ध भौतिकवाद, ऊर्ध्वचेतन-अतिचेतन के विरुद्ध उपचेतन-अवचेतन, दर्शन के विरुद्ध विज्ञान, व्यक्तिवाद के विरुद्ध समूहवाद एवं जनतंत्र के विरुद्ध पूँजीवाद खड़े होकर मानव-जीवन मे एक अधिविश्व-क्रान्ति तथा अन्तर्गत असगति का आभास दे रहे है। मनुष्य का ध्यान स्वत ही एक व्यापक अन्तर्मुख-विकास तथा बहिर्मुख-समन्वय की ओर आकृष्ट हो रहा है। आज मनुष्य की चेतना नए स्वर्गो, नए पातालों तथा नई ऊँचाइयो, नई गहराइयो को जन्म दे रही है। पिछले स्वर्ग-नरक, पिछली पाप-पुण्य तथा सद्-असद् की धारणाएँ एक दूसरे से टकराकर विकीर्ण हो रही है। आज मनुष्य की अहता का विधान अपने ज्योति-तमस् के ताने-बाने सुलझाकर विकसित रूप धारण कर रहा है। मानव-कल्पना नवीन चेतना के सौन्दर्य-बोध को ग्रहण करने की चेष्टा कर रही है। ऐसे महान् युग मे जब एक नवीन सास्कृतिक सचरण-वृत्त का उदय हो रहा है, जब आध्यात्मिकता तथा भौतिकता मानव-चेतना मे नया सामंजस्य खोज रही है, जब आदि ज्योति एव आदिम अन्धकार, जो अभी जीवन-मान्यताओ मे नही बँध सके है, मनुष्य के अन्तर्जगत् मे आँख-मिचौनी खेलकर नवीन मूल्यो को अंकित कर रहे है, जब चेतना की नवीन चोटियो की ऊँचाइयाँ जीवन की नवीनतम अतल खाइयो मे सन्तुलन भरने की चेष्टा कर रही है—ऐसे युग मे सामान्य बुद्धिजीवी तथा सृजनप्राण साहित्यिक के लिए बहिरन्तर की इन जटिल गुत्थियों को सुलझाकर नवीन भावभूमि मे पदार्पण करना अत्यन्त दुर्बोध तथा दु.साध्य प्रतीत हो रहा है। इसीलिए आज यदि कोई स्वप्न-स्रष्टा चेतना के ऊर्ध्वमुख रुपहले आकाशो के नीरव प्रसारो मे खो गया है, तो कोई जीवन के बाह्यतम प्रभावों के सौन्दर्य मे उलझकर कला को सतरंगी उड़ानों मे फँस गया है।

किन्तु, हम इस प्रकार के वाद-विवादों, अतिवादो तथा कट्टरपन्थी सकीर्णताओ के दुष्परिणामो से मुक्त रहकर सहजबोध तथा सहज-भावना का पथ पकड़ना चाहते है, जो व्यापक समन्वय का पथ है। ऐसा समन्वय जो कोरा बौद्धिक ही न हो, किन्तु जिसमे

जीवन, मन, चेतना के सभी स्तरो की प्रेरणाएँ सजीव सामंजस्य ग्रहण कर सकें, जिसमे बहिरन्तर के विरोध एक सक्रिय मानवीय सन्तुलन में बँध सके। हम साहित्यकारों की सृजन-चेतना के लिए उपयुक्त परिवेश का निर्माण करना चाहते हैं, जिससे उनके हृदय का स्वप्न-सचरण वास्तविकता की भूमि पर चलना सीखकर स्वयं भी बल प्राप्त कर सके और वास्तविकता के निर्मम कुरूप वक्ष पर अपने पद-चिह्नो का सौन्दर्य भी अकित कर सके। हम परिस्थितियों की चेतना को अधिकाधिक आत्मसात् कर उसके मुख पर मानवीय सवेदना की छाप लगाने तथा उसे मानवीय चरित्र मे ढालने मे विश्वास करते हैं।

आज के सक्रान्ति-युग मे हम मानवता के विगत गम्भीर अनुभवों, वर्तमान सघर्ष के तथ्यो तथा भविष्य की आशाप्रद सम्भावनाओं को साथ लेकर, युवकोचित अदम्य उत्साह तथा शक्ति के साथ सतत जागरूक रहकर, नव निर्माण के पथ पर, सब प्रकार की प्रतिक्रियाओ से जूझते हुए असन्दिग्ध गति से बराबर आगे बढना चाहते है, जिसके लिए हमारे गुरुजनों के आशीर्वाद की छत्रच्छाया, तथा सहयोगियों की सद्‌भावना का सम्बल अत्यन्त आवश्यक है, जिससे हम सबके साथ सत्य-शिव-सुन्दरमय साहित्य की साधना-भूमि पर, ज्योति-प्रीति-आनन्द की मगलवृद्धि करते, सुन्दर से सुन्दरतर एव शिव से शिवतर की ओर अग्रसर होते हुए, निरन्तर अधिक से अधिक प्रकाश, व्यापक से व्यापक कल्याण तथा गहन से गहन सत्य का सग्रह करते रहे।

हिन्दी हमारे लिए नवीन सम्भावनाओ की चेतना है, जिसे वाणी देने के लिए हमे सहस्रो स्वर, लाखो लेखनी तथा करोड़ो कंठ चाहिए। उसके अभ्युदय के रूप मे हम अपने साथ समस्त मनुष्य-जाति का अभ्युदय पहचान सकेंगे। उसके निर्माण मे संलग्न होकर हम समस्त लोक-चेतना का निर्माण कर सकेगे। उसको सँवार-श्रृंगार कर हम नवीन मानवता के सौन्दर्य को निखार सकेगे। जिस विराट् युग मे हिन्दी की चेतना जन्म ले रही है, उसका किचित् आभास पाकर यह कहना मुझे अतिशयोक्ति नहीं लगता कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। एक महान् अन्तर्मूक सगीत के असंख्य स्वरों की तरह आज हम समस्त साहित्यकारों, कलाकारों तथा साहित्यिक संस्थाओं का हृदय से अभिनन्दन करते हैं और आशा करते है कि हमारे प्राणो, भावनाओ तथा विचारों का यह मुक्त समवेत आदान-प्रदान युग-मानवता के समागम को तथा मानव-हृदयो के संगम को अधिकाधिक सार्थकता तथा चरितार्थता प्रदान कर सकेगा।

धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव-आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना आज नवीन सौन्दर्य चाहती है, वह सौन्दर्य मानवचेतना के सर्वांगीण जागरण का सौन्दर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती

है, वह पवित्रता मनुष्य के अन्तर्मुख-तप तथा बहिर्मुख-साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव-उर में विकसित हो रही विश्वप्रेम की वाणी है। आज की साहित्यिक संस्था मानवता के अन्तरतम सम्मिलन का सृजन-तीर्थ है। इस सृजन-तीर्थ पर एक बार मैं फिर आप मानव-देवों का हृदय से स्वागत करता हूँ।

कला और संस्कृति

(अभिभाषण का अंश)

मैं स्वतन्त्र भारत के नवयुवक कलाकारों का स्वागत करता हूँ। मैं उनकी आँखों में सौन्दर्य के स्वप्न, उनके हृदय की धड़कन मे संस्कृत भावनाओं का सगीत और उनके सुन्दर मुखों पर मनुष्यत्व के गौरव की झलक देखना चाहता हूँ।

आप बुद्धिजीवी तथा कलाकार है। आपका क्षेत्र भीतर का क्षेत्र है, आपको सूक्ष्म का परिचालन करना है। आपको विकसित मस्तिष्क के साथ सस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है। विकसित मस्तिष्क से मेरा अभिप्राय युग के प्रति प्रबुद्ध, विश्व-जीवन की समस्याओ के प्रति जागरूक मन से है, और सस्कृत हृदय से मेरा प्रयोजन उस हृदय से है जिसमे राग-द्वेप आदि जैसी विरोधी वृत्तियों मे मनन तथा साधना द्वारा सन्तुलन आ गया हो तथा जो नवीन सास्कृतिक चेतना के प्रति उद्बुद्ध हो। ऐसा सन्तुलन साधारण लोकजीवन से ऊँचे ही स्तर पर स्थापित किया जा सकता है और परिस्थितियो की चेतना से ऊपर उठने के लिए एक कला-जीवी सौन्दर्य-स्रष्टा को प्रारम्भ मे स्वस्थ अभ्यासों, उन्नत सस्कारो एव विकसित रुचियों के प्रभावो की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के विन्यास मे जहाँ मन का स्तर है वहाँ एक प्राणो का भी स्तर है। यह हमारी लालसाओ, आवेगो, प्रवृत्तियो, भावना, आशा, स्वप्न आदि का स्तर है और यही शक्ति का भी स्तर है। महान् कलाकारो मे स्वभावत. ही प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह तथा प्रसार देखने को मिलता है। यह प्राण-शक्ति शीघ्र ही हमारे अभ्यासो तथा रुचियो का स्वरूप धारण कर लेती है। अत: एक कलाकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह किसी मत या वाद के प्रभाव से अथवा तीव्र राग-विराग के कारण विशेष अभ्यासों की सीमाओ के भीतर न बँध जाय। उसे सदैव मुक्त-हृदय, सवेदनशील तथा ग्रहणशील बना रहना चाहिए और अपने प्राणो के आवेष्टन को परिष्कृत कर उसे सौन्दर्य-ग्राही, ऊर्ध्वगामी बनाकर द्वेष-क्रोध आदि की निम्न वृत्तियों से ऊपर उठना चाहिए, जिससे उसके प्राणों के प्रवाह मे एक सगीत, सामंजस्य, तन्मयता, व्यापकता तथा भिन्न स्वभावधर्मा मानव-समूह के प्रति सौन्दर्य तथा सहानुभूति का सचार हो सके।

किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणो का समावेश रहना चाहिए—(१) सौन्दर्य-बोध, (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति, (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य-मिश्रण ही कला-वस्तु मे लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमें देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य-दर्शन में कितना मार्जन, ऊर्ध्वप्राणता तथा रहस्य-संकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुंठित नही, और यदि है तो उसका कारण

बाह्य उपादानो मे है अथवा अन्तर के भाव-सत्य मे। दूसरा, हमे देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति मे कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है। उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामजस्य स्थापित किया है—भीतर के जिस दर्पण मे उसने मानव-जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है, वह चेतना कितनी सूक्ष्म, प्रभावशाली तथा अतल-स्पर्शी है। तीसरा, हमे विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक-जीवन की भीतरी-बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नही। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है, जो व्यक्ति के अन्तरतम विकास मे भी, अपने युग की सीमाओ के भीतर, सहायता पहुँचाता है तथा लोक-समुदाय को भी बल प्रदान करता है।

किन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण, मेरी दृष्टि में, एक और भी वस्तु है, जिसके पूरक उपर्युक्त तीनों मान है। वह है किसी कलाकृति मे पाए जानेवाले सांस्कृतिक तत्व। अर्थात् जो चेतना, जो प्रकाश, जो सस्कार किसी कलाकृति को पढ़ने पर अज्ञात रूप से आपको प्रभावित कर आपका निर्माण करने मे सफल होते है—जिन सूक्ष्म उपादानो का एक कलाकृति सक्रिय वितरण करती है। आज जब कि हम एक संक्रान्तियुग के शिखर पर बैठे है, जिसके अन्तस्तल मे धरती को आन्दोलित करनेवाली ज्वालामुखी सुलग रही है, हमे सांस्कृतिक मान्यताओ के प्रति सबसे अधिक चैतन्य रहना चाहिए। सस्कृति मानव-चेतना का सारपदार्थ है, जिसमे मानव-जीवन के विकास का समस्त सघर्ष, नाम, रूप, गुणो के रूप में सचित है, जिसमे हमारी ऊर्ध्वगामी चेतना या भावनाओ का प्रकाश तथा समतल जीवन और मानसिक उपत्यकाओं की छायाएँ गुम्फित है; जिसमे हमे सूक्ष्म और स्थूल, दोनों धरातलो के सत्यो का समन्वय मिलता है। सस्कृति मे हमारी धार्मिक, नैतिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियो का ही सार-भाग नही रहता, उसमे हमारे सामाजिक जीवन मे बरते जानेवाले आचार-विचार एवं व्यवहारो के भी सौन्दर्य का समावेश रहता है। यदि हम सोचते है कि हम इसी क्षण से एक आमूल नवीन संस्कृति को जन्म दे सकते है, तो हम ठीक नही सोचते। क्योकि जो सांस्कृतिक चेतना अथवा सौन्दर्य-भावना आज हमारे भीतर काम कर रही है, उसके ताने-बाने मे मानव-जीवन की सहस्रो वर्षों की अनुभूतियाँ, सुख-दु:ख, सद्-असद्, सत्य-मिथ्या की धारणाएँ, उसका सूक्ष्म ज्ञानजगत् तथा बहिरन्तर का समस्त छाया-प्रकाश ग्रथित है। जिस प्रकार भाषा एक संगठित सत्य है, उसी प्रकार संस्कृति भी। वह स्वभावजन्य गुण नही, विकासक्रम से उपलब्ध वस्तु या सत्य है। मैं कुछ शब्द-ध्वनियो द्वारा, जो हमारी चेतना में सार्थक रूप से संगठित है, आपके मन में कुछ विचारों, भावनाओं एवं संवेदनो को जगा रहा हूँ। यदि मैं कुछ ऐसी ध्वनियो का प्रयोग करूँ, जिनका हमारे भीतर सार्थक संगठन नहीं है, तो आप उनसे कुछ भी अभिप्राय नही ग्रहण कर सकेंगे। इसी प्रकार हमारा सास्कृतिक ज्ञान भी हमारी अन्तश्चेतना में सगठित गुण है, जो हमे सत्य-मिथ्या का मान देता है और हमारी शिव-

अशिव, सुन्दर-असुन्दर, पाप-पुण्य आदि की भावनाओ से जुडा हुआ है। हमारी सांस्कृतिक मान्यताएँ प्राय हमारी प्राकृतिक स्वभावज लालसाओ तथा ऐन्द्रिय संवेदनों की विरोधी भी होती है, हम इन्हे सस्कार कहते है।

आप जिस जाति और जिस देश की भी सस्कृति के इतिहास का अध्ययन करें, आपको उसमें अन्त सगठन के नियम मिलेगे और उनमे बाह्य दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक साम्य तथा सूक्ष्म एकता मिलेगी। विभेदों का कारण देश-काल की परिस्थितियाँ होती है और एकता का आधार समान मानवीय अनुभूति का सत्य। समस्त सत्य केवल मात्र मानवीय सत्य है, उसके बाहर या ऊपर किसी भी सत्य की कल्पना सम्भव नही है। वनस्पति-जीवन, पशु-जीवन से लेकर—जो मनुष्य-चेतना से नीचे के धरातल है—स्वर्गलोक के देवताओं और उनसे भी परे का ज्ञान-विस्तार केवल मानवीय सत्य है। मनुष्य चाहे बाहर जितनी जातियों, धर्मो और वर्गों में विभक्त हो, वह भीतर से एक ही है; इसलिए समस्त मानव-जीवन के सत्य को एक तथा अखंडनीय समझना चाहिए।

यद्यपि हम अन्त:संगठन के सत्य मे आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते, हम उसके विकास के नियमों का अध्ययन कर उसे विशेष युग में विशेष रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकते हैं तथा उसका यथेष्ट रूपान्तर भी कर सकते हैं। हमारा युग एक ऐसा ही सक्रान्ति का युग है। जब कि हमे भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गों और धर्मों की सस्कृतियो का समन्वय एव सश्लेषण कर उन्हे मानव-सस्कृति के एक महान् विश्व-संचरण के रूप में प्रतिष्ठित करना है। आज हमें मानव-चेतना के क्षीर-सागर को फिर से मथकर उसके अन्तस्तल मे छिपे हुए रत्नो को पहचानना है और मौलिक अनुभूतियों के नवीन रत्नों को भी बाहर निकालकर अपने युग-पुरुष के स्वर्ण शुभ्र किरीट में उन्हें समय के अनुरूप नवीन सौन्दर्य-बोध में जड़ना है, जिससे वह भावी मनुष्यत्व की गरिमा को वहन कर सके। इसलिए हमारे युग के साहित्यिकों तथा कलाकारो के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है, जिसे हम साहस, सयम, सद्भाव तथा सहिष्णुता से ही पूरा कर सकते हैं।

सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए हमे व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए। ईश्वर को मानने से मेरा यह अभिप्राय नही कि आप विधिवत् पूजा-पाठ अथवा जप-तप करे। यह तो धर्म का क्षेत्र है और आपके स्वभाव, रुचि तथा नाड़ियों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बाते है। ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप मैं एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अन्तश्चेतना के संचरणों से भी अपने को सयुक्त रखे, और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियो का उपयोग कर समाज के अन्तर्जीवन का निर्माण करे। उसके कन्धों पर वास्तविकता तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहें।

सक्षेप मे, मै चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सास्कृतिक तत्वो से ओतप्रोत रहे और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज मे नवीन मानव-चेतना के आलोक को वितरण करे एवं लोक-जीवन को बाहर भीतर से सस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहयाक हो। हमारे युग के सास्कृतिक सूत्र है,—मानव-प्रेम, लोक-जीवन की एकता, जीवन-सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व-मानवता का निर्माण। यदि आप अपनी लेखनी और तूली द्वारा युग के इन स्वप्नों में रक्त-मास का सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूंक सकें, तो आप अपनें तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निबाहेंगे, जिस प्रकार एक राजनीति के क्षेत्र का नायक लोक-सघर्ष के उत्थान-पतनो का सचालन कर जीवन की परिस्थितियों को विश्व-तन्त्र का सन्तुलन प्रदान कर जन-समुदाय को नवीन मानवता की ओर अग्रसर कर रहा है।

कलाकार के पास हृदय का यौवन होना चाहिए, जिसे धरती पर उड़ेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है। वह सर्वप्रथम सौन्दर्य-स्रष्टा है। कलाकार की सबसे बड़ी कृति वह स्वय है। जब तक वह अपना बाहर-भीतर से परिमार्जन नही करेगा, वह संस्कृति के दिव्य पावक तथा सौन्दर्य के स्वर्गीय अलोक का आदान-प्रदान नहीं कर सकेगा। बेसुरी हृदय-वीणा से, जिसके तार चेतना के सूक्ष्म स्पर्शों के लिए सधे न हों, अन्तर के सगीत की वृष्टि कैसे हो सकती है? अतएव आप जो स्वतन्त्र भारत की चेतना के स्रष्टा हैं, आपको अपने को इस महाप्राण देश के गौरव का वाहक बनाना चाहिए जिसके आप अंजलि भर-भर कर संस्कृति के स्वर्णिम पावक-कण जन-समाज मे वितरण कर सकें। तथास्तु।

———

साहित्य की चेतना

(एक अभिभाषण का अंश)

मुझसे आप लोग किसी प्रकार के भाषण की आशा न करे, मै आप लोगो से केवल मिलने आया हूँ। अध्यापन का कार्य मेरा क्षेत्र नही है, किन्तु मै उसके उत्तरदायित्व को समझता हूँ। अतएव एक साधारण साहित्यसेवी के नाते मै आपकी उपस्थिति का स्वागत करता हूँ और आप लोगों के साथ साहित्यिक वातावरण मे साँस लेने का सुख अनुभव करता हूँ।

आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अन्तस्तल मे नही पैठ सकते और न उसका महत्त्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नही है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव मे मानव-जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ मे मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है। उसमें मानव-चेतना की ऊँची से ऊँची चोटियों का प्रकाश, मन की लम्बी-चौडी घाटियों का छायातप तथा जीवन की आकाक्षाओं का गहरा रहस्यपूर्ण अन्धकार सञ्चित है। उसमे मानव-सभ्यता के युग-युगव्यापी संघर्ष का प्रच्छन्न इतिहास तथा मनुष्य के आत्म-विजय का दर्शन अनेक प्रकार के आदर्शो, अनुभूतियो, रीति-नीतियों तथा भावनाओ की सजीव सवेदनाओ के रूप मे सगृहीत है। यदि साहित्य को पढ़कर हम मनुष्य-जीवन को सचालित करनेवाली शक्तियो तथा उनके विकास की दिशा को नही समझ सके, तो हम वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी कहलाने के अधिकारी नही है। इसलिए मेरा आप से अनुरोध है कि आप साहित्य को मनुष्य-जीवन के सनातन सघर्ष से कोई विभिन्न वस्तु न समझें, बल्कि उसे जीवन के दर्शन अथवा जीवन के दर्पण के रूप मे देखें। उस दर्पण मे जहाँ आप आत्मचिन्तन द्वारा अपने मुख को पहचानना सीखें, वहाँ अपनी सहानुभूति को व्यापक तथा गम्भीर बनाकर उसके द्वारा अपने विश्व-रूप की अथवा मानव के विश्वदर्शन की भी रूपरेखा का आभास प्राप्त करना सीखें। साहित्य के अध्ययन का अर्थ है रस द्वारा ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान ही शक्ति भी है। अतएव आप जब तक ज्ञान द्वारा शक्ति का संचय नही करेंगे, तब तक आप युग-जीवन का संचालन भी नही कर सकेंगे और मानव-जीवन के शिल्पी भी नहीं बन सकेंगे। आपको मनुष्य के भीतरी जीवन का नेतृत्व करना है,—साहित्य का क्षेत्र अन्तर्जीवन का क्षत्र है। इसलिए आपको अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आप लोग जो हिन्दी साहित्य द्वारा ही जीवन की प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं,

आपको यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि आज का साहित्य मानव का नवीन रूप मे निर्माण कर रहा है। आज का मनुष्य रेडियो, वाक्‌चित्रों, समाचार-पत्रो आदि द्वारा समस्त विश्व के मन को धारण तथा वहन कर रहा है। वह विश्व-मन के स्थूल-सूक्ष्म प्रभावो से प्रभावित होकर नवीन रूप से सगठित हो रहा है। आज का साहित्य एक देशीय अथवा एक जातीय होकर उन्नति नहीं कर सकता, उसे सार्वभौम बनना ही होगा। आधुनिकतम हिन्दी साहित्य मे आपको जो एक प्रगतिवाद की धारा मिलती है, उसका वास्तविक सन्देश यही है। मानव स्वभाव इतना दुरूह तथा जटिल है और जीवन की परिस्थितियो मे इतना अधिक वैचित्र्य है कि ससार मे कोई भी सिद्धान्त अथवा वाद बहुमुखी हुए बिना नही रह सकता। प्रगतिवाद भी इससे मुक्त नही है। अतएव प्रगतिवाद के अन्तर्गत आपको जो एक राजनीतिक सघर्ष से बोझिल विचार तथा भावना-धारा मिलती है, उसे प्रगतिवाद का निम्नतम धरातल अथवा अस्थायी स्वरूप समझना चाहिए। अपने स्थायी अथवा परिपूर्ण रूप मे वह एक सास्कृतिक धरातल की सृजनात्मक चेतना है, जिसका उद्देश्य विभिन्न संस्कृतियो, धर्मो तथा नैतिक दृष्टिकोणो के विभेदों से मनुष्य की चेतना को मुक्तकर उसे युग-परिस्थितियों के अनुरूप व्यापक मनुष्यत्व मे सँवारना है। वे परिस्थितियाँ केवल बाहरी आर्थिक तथा राजनीतिक आधारो तक ही सीमित नहीं हैं, उनका सम्बन्ध मनुष्य-जीवन की अन्तरतम अनुभूतियों तथा गहनतम विश्वासों से भी है। ये अन्तर्विश्वास, जिन्हे आप चाहे आदर्श कहे अथवा नैतिक दृष्टिकोण, पिछले युगों की आध्यात्मिक तथा भौतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध मानव-चेतना के वे अभ्यास हैं, जिनका हमें इस युग में अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक मनुष्यत्व के रूप में उन्नयन करना है। इसके लिए सभी देशों के महाप्राण तथा युग-प्रबुद्ध साहित्यिक साधना कर रहे है। अतएव वह साहित्य जो सम्प्रति मानव-जाति की अन्तरतम एकता के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, मानव-जाति के विभिन्न श्रेणी, वर्गों तथा सम्प्रदायों के बीच के व्यवधानों को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व-सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण, नवीन सौन्दर्य-बोध तथा नवीन सास्कृतिक उपादानों का सृजन कर रहा है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव मे इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। ऐसा साहित्य पिछले युगों के समस्त वाङ्‌मय में जो कुछ भी सग्रहणीय है, उसका सम्पूर्ण उपयोग करने के साथ ही उन नवीन-जीवन-मानो तथा सूक्ष्म अनुभूतियो पर भी प्रयोग कर रहा है, जिनके समावेश से इस युग की भाप, बिजली और अणुशक्ति से अति सक्रिय परिस्थितियाँ एक सार्वभौम मानवीय सौन्दर्य मे विभूषित हो सके तथा उनमें एक व्यापक सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो सके।

आज के साहित्य के विद्यार्थी को अपने युग की चेतना के शिखर पर खडा होकर पिछले युगो की ऊँची-नीची तलहटियो तथा संकीर्ण अँधेरी घाटियों पर दृष्टिपात करना

चाहिए तथा उनके अनेक छायाओं से भरे हुए सौन्दर्य का निरीक्षण कर, उनकी भावनाओं तथा विचारो के ऋजु-कुंचित नद-निर्झरों का कलरव श्रवण कर, उनके तरह-तरह के राग-विराग की संवेदनाओं से उच्छ्वसित वातावरण को सॉसो से हृदय मे भरकर मानव-सभ्यता के सघर्ष-सकुल विकास का मानचित्र बनाना चाहिए जिससे भिन्न-भिन्न युगों के आदर्शो और वादो को यथास्थान संयोजितकर वह मानव-चेतना के इतिहास का यथोचित अध्ययन कर सके और उसके भविष्य के गौरव का अनुमान लगा सके। इसी प्रकार की साहित्य-साधना मे मैं आपको अश्रान्त रूप से तत्पर देखना चाहता हूँ। साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्वरूप भी होता है, उसका भी अपना एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढ़ता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखको के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियो, साहित्यिक प्रथाओं, प्रचलनों तथा छन्दों-अलंकारो का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरों का, उसके सा रे ग म का ज्ञान है, जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूपविधान पहनाते हैं और उसके सौन्दर्य से हृदय को प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण अथवा स्थूल स्वरूप कह सकते है। भाव और भाषा मे भाव को ही प्रधानता देनी चाहिए, किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि भाषा के प्रति हमे विरक्त हो जाना चाहिए। चेतना तथा पदार्थ की तरह भाव तथा भाषा ऐसे अविच्छिन्न रूप से मिले हुए है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भले ही की जा सके, किन्तु अभिव्यक्ति असम्भव है। भावना की चेतना के साथ ही इस युग में भाषा के सौन्दर्य में भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गयी है। ध्वनि, व्यजना तथा प्रतीको का प्रयोग बढ़ता जा रहा है एवं भिन्न-भिन्न साहित्यों के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य विन्यास तथा अलंकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं। पर इन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना अध्यापकों का काम है और मुझें विश्वास है कि आप साहित्य के उस अग को भी उपेक्षा की दृष्टि से नही देखेगें।

अन्त में एक हिन्दी साहित्यसेवी के नाते मै आपके प्रति अपनी शुभ कामनाएँ तथा सद्भावनाएँ प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी साहित्य शीघ्र ही मानव की नवीन चेतना को वाणी देकर अपने प्रेमियों को अधिक से अधिक मानसिक वैभव प्रदान कर सकेगा, उनके हृदयों में व्यापक मनुष्यत्व का स्पन्दन, उनके पलको में नवीन सौन्दर्य के स्वप्न भर सकेगा तथा आज के साहित्य के विद्यार्थी कल के सत्य-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे।

———

मेरी पहली कविता

जहाँ तक मुझे स्मरण है मेरी पहली कविता मे कोई विशेषता नही थी, जैसे-जैसे मेरे मन का अथवा मेरी भावना या चेतना का विकास हुआ और मेरा जीवन का अनुभव गम्भीर होता गया मेरी कविता मे भी निखार आता गया।

मेरी पहली कविता एक न होकर अनेक थी। अपने किशोर मन के आवेग और उत्साह को अथवा कविता के प्रति अपने नवीन आकर्षण को 'ताल और लय' मे बाँधने की आकुलता में मैं अनेक छन्दो मे अनेक पद साथ ही लिखा करता था। किसी छन्द मे चार चरण और किसी मे आठ या बारह चरण लिखकर मेरा सद्यः-स्फुट काव्य-प्रेम मेरी अस्फुट भावना को अनेक रूपों मे व्यक्त कर सतुष्ट होता था। इस प्रकार के मेरे समस्त प्रारम्भिक किशोर-प्रयत्न मेरी पहली कविता कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन सबका एक ही विषय होता और उनमें एक ही भावना और प्राय: एक ही प्रकार के मि नते-जुलते शब्द रहते थे, जो केवल विभिन्न छन्दो और तुकों के कारण अलग-अलग रचना-खड प्रतीत होते थे। उदाहरण स्वरूप हमारे घर के ऊपर एक गिरजाघर था जहाँ प्रत्येक रविवार को सुबह-शाम घटा बजा करता था। यह अल्मोड़े की बात है और जैसा कि पहाड़ी प्रदेशों मे प्राय हुआ करता है हमारा घर नीचे घाटी मे था और गिरजाघर ऊपर सड़क के किनारे। उस गिरजे के घटे की ध्वनि मुझे अत्यन्त मधुर तथा मोहक प्रतीत होती थी। गिरजे के घटे पर मैने प्राय रविवार के दिन अनेक छन्दों मे अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिन्हे प्रयत्न करने पर भी अब मै स्मरण नही कर पा रहा हूँ। उन सब रचनाओ में प्राय: यही आशय रहता था कि "हम लोग बेखबर सोए हु ए हैं। यह दुनियाँ एक मोह निद्रा है, जिसमे हम स्वप्नो की मोहक गलियो मे भटक रहे हैं। गिरजे का घटा अपने शान्त मधुर आह्वान से हमे जगाने की चेष्टा कर रहा है और हमे प्रभु के मन्दिर की ओर बुला रहा है जहाँ दुनियाँ की मोह-निशा का उज्ज्वल प्रभात हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वरीय प्रेम का जीवन ही केवल मात्र पवित्र जीवन है। प्रभु ही हमे पापो से मुक्ति प्रदान कर सकते है" इत्यादि। अल्मोड़े मे पादरियों तथा ईसाई धर्म-प्रचारको के भाषण प्राय: ही सुनने को मिलते थे, जिनसे मै छुटपन मे बहुत प्रभावित रहा हूँ। वे पवित्र जीवन व्यतीत करने की बाते करते थे और प्रभु की शरण मे आने का उपदेश देते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। गिरजे के घटे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर मैने जितनी रचनाएँ लिखी हैं, उन सब मे इन्ही पादरियो के उपदेशो का सार-भाग किसी न किसी रूप में प्रकट होता रहा है। 'गिरजे का घटा' शीर्षक एक रचना मैने अपने आत्मविश्वास तथा प्रथम उत्साह के कारण श्री गुप्त जी के पास भेज दी थी, उन्होने अपने सहज सौजन्य के कारण उसकी प्रशंसा मे दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया था।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मेरे भाई एक बार अल्मोड़े मे किसी मेले से कागज के फूलो का एक गुलदस्ता ले आये, जिसे उन्होंने अपने कमरे में फूलदान में रख दिया था। मैं जब भी अपने भाई के कमरे मे जाता था, कागज़ के उन रग-बिरंगे फूलों को देखकर मेरे मन मे अनेक भाव उदय हुआ करते थे। मै बचपन से ही प्रकृति की गोद में पला हूँ। कागज़ के वे फूल अपनी चटक-मटक से मेरे मन मे किसी प्रकार की भी सहानुभूति नही जगा पाते थे। मैं चुपचाप अपने कमरे मे आकर अनेक छन्दों में अनेक रूप से अपने मन के उस असन्तोष को वाणी देकर कागज के फूलो का तिरस्कार किया करता था। अन्त में मैंने सुस्पष्ट शब्दो में अपने मन के आक्रोश को एक चतुर्दशपदी में छन्दबद्ध करके उसे अल्मोड़े के एक दैनिक पत्र मे प्रकाशनार्थ भेज दिया, जिसका आशय इस प्रकार था . हे कागज के फूलो, तुम अपने रूप-रग मे उद्यान के फूलों से अधिक चटकीले भले ही लगो, पर न तुम्हारे पास सुगन्ध है, न मधु। तुम स्पर्श को भी तो वैसे कोमल नही लगते हो। हाय, तुम्हारी पँखुड़ियाँ कभी कली नही रही, न वे धीरे-धीरे मुसकुराकर किरणो के स्पर्श से विकसित ही हुई। अब तुम्ही बतलाओ तुम्हारे पास भ्रमर किस आशा मे, कौन-सी प्रेम याचना लेकर मँडराये ? क्या तुम अब भी नहीं समझ पाये कि झूठा, नकली और कृत्रिम जीवन व्यतीत करना कितना बडा अभिशाप है ? हृदय के आदान-प्रदान के लिए जीवन मे किसी प्रकार की तो सच्चाई होनी चाहिए। इत्यादि ।

एक और उदाहरण लीजिए . मेरे फुफेरे भाई हुक्का पिया करते थे। सुबह-शाम जब भी मैं उनके पास जाता, उन्हे हुक्का पीते पाता था। उनका कमरा तम्बाकू के धुएँ की नशीली गन्ध से भरा रहता था। उन्हे धुआँ उडाते देखकर तम्बाकू के धुएँ पर मैंने अनेक छन्द लिखे हैं, जिनमे से एक रचना अल्मोडे के दैनिक मे प्रकाशित भी हुई है। इस रचना की दो पंक्तियाँ मुझे स्मरण है जो इस प्रकार है—

सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय मे
रखते, जहाँ बसे है भगवान विश्वस्वामी।

इस रचना मे मैंने धुएँ को स्वतन्त्रता का प्रेमी मानकर उसकी प्रशंसा की थी। आशय कुछ-कुछ इस प्रकार था .—"हे धूम ! तुम्हे वास्तव मे अपनी स्वतन्त्रता अत्यन्त प्रिय है। मनुष्य तुम्हे सुगन्धित सुवासित कर, तुम्हे जल से सरस-शीतल बनाकर अपने हृदय मे बंदी बनाकर रखना चाहता है, उस हृदय मे जिसमे भगवान का वास है। किन्तु तुम्हे अपनी स्वतन्त्रता इतनी प्रिय है कि तुम क्षण भर को भी वहाँ सिमिट कर नहीं रह सकते और बाहर निकलकर इच्छानुरूप चतुर्दिक व्याप्त हो जाना चाहते हो। ठीक है, स्वतन्त्रता के पुजारी को ऐसा ही होना चाहिए, उसे किसी प्रकार का हृदय का लगाव या बन्धन नही स्वीकार होना चाहिए . .इत्यादि।

इस प्रकार अपने आस-पास से छोटे-मोटे विषयो को चुनकर मैं अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना मे तल्लीन रहा हूँ। मेरे भाव तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व एव अविकसित रहे ही होंगे किन्तु उन्हे छन्दबद्ध करने मे तब मुझे विशेष आनन्द मिलता था। छन्दो के मधुर सगीत ने मुझे इतना मोह लिया था कि मैंने अनेक पत्र भी उन दिनो छन्दो ही मे गूँथ कर लिखे है। यदि प्रारम्भिक रचनाओ के महत्त्व के सम्बन्ध मे तब थोडा भी ज्ञान मुझे होता तो मै उन कविताओ तथा पत्रों की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य सुरक्षित रखता। अब मुझे इतना ही स्मरण है कि अपने पास-पड़ोस और दैनदिन की परिस्थितियों एव घटनाओ से प्रभावित होकर ही मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ नि.सृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना को भाषा की अस्पष्ट तुतलाहट में बाँधकर मैं अपने छन्द-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ। एक प्रकार से आरम्भ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारो ओर 'धूलि की ढेरी मे अनजान' बिखरे पड़े मिले है।

वैसे एक प्रकार से मै अल्मोडे आने से और भी बहुत पहले छन्दो की गलियो मे भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ। तब मैं अपने पिताजी के साथ कौसानी मे रहता था और वहीं ग्राम-पाठशाला मे पढ़ता था। मेरे फुफेरे भाई तब वहाँ अध्यापक थे और मेरे बड़े भाई बी० ए० की परीक्षा दे चुकने के बाद स्वास्थ्य सुधारने के लिए वहाँ आये हुए थे। मेरे बड़े भाई भी उन दिनो कविता किया करते थे। उनके अनेक छन्द मुझे अब भी कठस्थ हैं। वह अत्यन्त मधुर लय मे राजा लक्ष्मणसिह-कृत मेघदूत के अनुवाद को भाभी को सुनाया करते थे। शिखरिणी छन्द तब मुझे बडा प्रिय लगता था और मैं, "सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ ." आदि पक्तियो को गुनगुनाकर उन्ही के अनुकरण में लिखने की चेष्टा करता था। कभी-कभी मै भाई साहब के मुँह से कोई गज़ल की धुन सुनकर उस पर भी लिखने की कोशिश करता था। लेकिन अब मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी तब की रचनाओं मे छन्द अवश्य ही ठीक नही रहता होगा और मैं बाल-चापल्य के कारण छन्द की धुन मे बहुत कुछ असम्बद्ध और बेतुका लिखता रहा हूँगा। मुझे स्मरण है, एक बार भाई साहब को मेरी पीले कागज की कापी मिल गयी थी और उन्होंने मेरे गज़लों की खूब हँसी उडायी थी। अतएव उस समय की कविता को मैं अपनी पहली कविता नही मान सकता।

व्यवस्थित एव सुसम्बद्ध रूप से लिखना तो मैंने पाँच-छ. साल बाद अल्मोड़ा आकर ही प्रारम्भ किया। तब स्वामी सत्यदेव आदि अनेक विद्वानो के व्याख्यानों से अल्मोडे मे हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो चुका था, नगर मे शुद्ध साहित्य समिति के नाम से एक वृहत् पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी और नागरिकों का मातृभाषा के प्रति आकर्षण विशेष रूप से अनुराग मे परिणत हो चुका था। मुझे घर मे तथा नगर

मे भी नवोदित साहित्यिकों, लेखको एवं कवियों का साहचर्य सुलभ हो गया था । मैंने हिन्दी पुस्तकों का सग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था, विशेषकर काव्य-ग्रन्थों का, और 'नन्दन पुस्तकालय' के नाम से घर मे एक लाइब्रेरी की भी स्थापना कर दी थी । इसमें द्विवेदी युग के कवियो की रचनाओ के अतिरिक्त मध्ययुग के कवियो के ग्रन्थ तथा प्रेमचन्द जी के उपन्यासो के साथ बगला, मराठी आदि उपन्यासों के अनुवाद भी रख लिये थे और कुछ पिगल अलकार आदि काव्यग्रन्थ भी जोड लिये थे । सरस्वती, मर्यादा आदि उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाएँ भी मेरे पास आने लगी थी और मैंने नियमित रूप से हिन्दी साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया था ।

आदरणीय गुप्त जी की कृतियो ने और विशेषकर भारत-भारती, जयद्रथ वध तथा विरहिणी व्रजागना ने तब मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया था । प्रिय-प्रवास के छन्द भी मुझे विशेष प्रिय लगते थे । 'कविता कलाप' को मै कई बार पढ गया था । सरस्वती में प्रकाशित मकुटधर पाडेय जी की रचनाओं मे नवीनता तथा मौलिकता का आभास मिलता था । इन्ही कवियो के अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ मे मेरी काव्य-साधना का श्रीगणेश हुआ और मैंने सुसंगठित रूप से विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना सीखा । छन्दों की साधना में मुझे विशेष परिश्रम नही करना पडा । श्रवणो को सगीत के प्रति अनुराग होने के कारण तथा लय को पकड़ने की क्षमता होने के कारण सभी प्रकार के छोटे-बड़े छन्द धीरे-धीरे मेरी लेखनी से सरलतापूर्वक उतरने लगे । जो भी विषय मेरे सामने आते और जो भी विचार मन में उदय होते, उन्हे मै नये-नये छन्दो मे नये-नये रूप से प्रकट करने का प्रयत्न करता रहा । काव्य-साधना मे मेरा मन ऐसा रम गया कि स्कूल की पाठ्य-पुस्तको की ओर मेरे मन मे अरुचि उत्पन्न हो गयी और मैंने खेलकूद मे भी भाग लेना बन्द कर दिया । इन्ही दिनो अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने के लिए एक नवयुवक आकर हमारे मकान मे रहने लगे, जिन्हे साहित्य से विशेष अनुराग था । जिनके सम्पादन मे हमारे घर से एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकलने लगा जिसमे नियमित रूप से दो-एक वर्ष तक मेरी रचनाएँ निकलती रही । उनके साहचर्य से मेरे साहित्यिक प्रेम को प्रगति मिली और नगर के अनेक नवयुवक साहित्यिको से परिचय हो गया । मेरे मित्र अनेक प्रकाशको के सूचीपत्र मँगवाकर पुस्तको तथा चित्रों के पार्सल मँगवाते और उन्हे हम लोगों से बेचा करते थे । इस प्रकार उनकी सहायता से हिन्दी की अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन-संस्थाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तको का मेरा ज्ञान सहज ही बढ़ गया ।

हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि छन्दों में मैंने प्रारम्भ मे अनेकानेक प्रयोग किये है और छोटे-बड़े अनेक गीतों मे प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण भी किया है । प्रकृति-चित्रण के मेरे दो-एक गीत सम्भवत. 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका मे भी प्रकाशित हुए है । 'भारत-भारती' के आधार पर अनेक राष्ट्रीय

रचनाएँ तथा 'कविता कलाप' के अनुकरण मे राजा रवि वर्मा के तिलोत्तमा आदि चित्रों का वर्णन भी अपने छन्दों में मैंने किया है। अनेक पत्र तथा कल्पित प्रेम-पत्र लिखकर भी, जो प्राय: सखाओं के लिए होते थे, मैंने अपने छन्दो के तारो को साधा है। अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना-काल मे, न जाने क्यों, कविता का अभिप्राय मेरे मन मे छन्दवद्ध पक्तियो तक ही सीमित रहा है। छन्दो मे सगीत होता है, यह बात मुझे छन्दो की ओर विशेष आकृष्ट करती थी और अनुप्रासो या ललित मधुर शब्दो द्वारा छन्दो मे सगीत की झकारें पैदा करने की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से रहता था। कविता के भाव-पक्ष से मै इतना ही परिचित था कि कविता मे कोई अद्‌भुत या विलक्षण बात अवश्य कही जानी चाहिए। कालिदास की अनोखी सूझ की बात मै अपने भाई साहव से वहुत छुटपन मे ही सुन चुका था, जब वह भाभी को मेघदूत पढाया करते थे। किन्तु उस विलक्षण भाव को सगीत के पख लगाकर छन्द मे प्रवाहित करने की भावना तब मुझे विशेष आनन्द देती थी और मै अपनी छन्द-साधना के इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ से ही नही भूला हूँ।

मेरी उस प्रारम्भिक काल की रचनाएँ, जिन्हे मै अपनी पहली कविता कहता हूँ, न जाने पतझर के पत्तो की तरह मर्मर करती हुई, कब और कहाँ उडकर चली गयी, यह मै नहीं कह सकता। अपनी बहुत सी रचनाएँ काशी जाने से पहले मै अल्मोडे ही मे छोड गया था जो मुझे घर की अव्यवस्था के कारण पीछे नही मिली। सम्भव है उन्हे कोई ले गया हो या किसी ने रद्दी कागजो के साथ फेंक दिया हो या बाजार मे बेच दिया हो। वीणा काल से पहले के दो कविता-सग्रह जब मै हिन्दू बोर्डिग हाउस मे रहता था, मेरी चारपाई मे आग लग जाने के कारण, जल कर राख हो गये थे। कीट्स और शेली के दो सचित्र संग्रह भी, जो मुझे प्रो० शिवाधार जी पाडेय ने पढने के लिए दिये थे, उनके साथ ही भस्म हो गये थे। अपने उन दो सग्रहो के जल जाने का दु ख मुझे वहुत दिनो तक रहा। उनमे मेरी काव्य-साधना के द्वितीय चरण की रचनाएँ थी। मेरी आँखो मे अब उन अस्फुट प्रयासो का क्या महत्त्व होता यह मै नही कह सकता, पर ममत्व की दृष्टि से वे मुझे अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना के साक्षी के रूप मे सदैव प्रिय रहते, इसमे मुझे सन्देह नही। अपने कवि-जीवन के प्रथम उषाकाल मे स्वर्ग की सुन्दरी कविता के प्रति मेरे हृदय मे जो अनिर्वचनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था, उसका थोडा-सा भी आभास क्या मै इस छोटी-सी वार्ता मे दे पाया हूँ? शायद नही।

मेरी सर्वप्रथम रचना

रचना उसे कहते है जिसमे किसी प्रकार का विधान, सयमन अथवा तारतम्य हो। इस दृष्टि से मेरी सर्वप्रथम रचना कविता न होकर उपन्यास ही थी। वैसे मैं छोटी-छोटी तुकबदियाँ बहुत पहिले से कर लेता था, पर उन्हे रचना कहने का साहस नहीं होता। मेरे बड़े भाई जब बी० ए० की परीक्षा देकर गर्मियों मे घर लौटे तो वह अनेक हिन्दी, उर्दू, सस्कृत के काव्य-ग्रंथ—हिन्दी के मासिक पत्र आदि—तरह-तरह की रस-सामग्री अपने साथ ले आये थे। मैं तब ६-१० साल का रहा हूँगा, मुझे ठीक याद नही पडता। भाई साहब कभी-कभी बडी भाभी को मेघदूत अथवा शकुतला सुनाते तो कभी सूर, तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियो के मधुर पद, सवैये और कवित्त, और कभी सरस्वती पत्रिका से आधुनिक खडी बोली की कविताएँ। भाई साहब का कंठस्वर बड़ा भावपूर्ण होता और वह बहुत तन्मय होकर मद-मधुर लय मे अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरंजन के लिए प्राय: संध्या समय कविता-पाठ किया करते थे। बाहर हिमालय के ऊँचे, स्वच्छ शिखरो पर तथा चीड, बाँझ और देवदारु की हरी-भरी-घनी वनानियो मे छाई मौन-मनोरम पहाड़ी साँझ, अपने सुनहली छायाओं के निष्कप पख सिमटाये हुए, अवाक् होकर, जैसे, उस एकांत कवितापाठ को मेरे मन की अज्ञात गहराइयो मे उडेलती रहती थी और मैं तल्लीन एव आत्म-विस्मृत होकर, किवाडों की ओट मे खडा, उस प्रणय-निवेदन से भरी मधुर छद-ध्वनि का पान किया करता था। धीरे-धीरे मैं भी जैसे उन्ही छद-ध्वनियों की आत्माओं से प्रेरित होकर शब्दो की मालाएँ पिरोने लगा और कभी-कभी गजल की धुन पर भी लडखड़ाती हुई कुछ पक्तियाँ जोड़ लेता। किन्तु सर्वप्रथम रचना के उस समय के लिए व्यवस्थित रूप मे मेरी लेखनी से पहले उपन्यास का ही प्रणयन हुआ जिसकी चर्चा मैं संक्षेप मे पहले भी कर चुका हूँ।

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, मैं तब अल्मोडे के गवर्नमेंट हाईस्कूल में आठवी कक्षा मे पढ़ता था और जाडों की लबी दो-ढाई महीनो की छुट्टियों में अपने पिता जी के पास कौसानी गया हुआ था। कौसानी तो सौन्दर्य का स्वर्ग है ही। मेरे पिता सरकारी मकान मे रहते थे। मकान बहुत बड़ा नही था, सब मिलाकर सात-आठ कमरे रहे होगे। उत्तर की ओर चहारदिवारी से घिरा हुआ आँगन था, जहाँ से अतरिक्ष मे दूध के समुद्र की तरह उफनाई हुई ऊँची-ऊँची हिमालय की चोटियाँ दिखायी पड़ती थीं। आँगन मे एक पत्थर का चबूतरा बना था जो साँझ के एकान्त समय किसी अदृश्य ऋषि के ध्यान मौन आसन की तरह पावन एव विचार मग्न लगता था। आँगन के भीतरी बरामदे मे खूब चहल-पहल रहती थी और परिवार के सभी लोग सबेरे-शाम प्राय: वही जुटा करते थे। तीन-

चार कमरे पार करने पर पश्चिम की ओर एक छोटा-सा बरामदा था जो सडक की ओर खुलता था। सडक पर उतरने को तीन-चार पत्थर की सीढियाँ थी। सामने पहाड़ी पेड़ो का मर्मर करता हुआ हँसमुख क्षितिज दिन-रात कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता था। यह बरामदा ही मेरा छुटपन का सृजन-कक्ष था। उसमे एक कोने पर पिता जी की ऑफिस की मेज़ रहती थी और दूसरी ओर मेरी छोटी डेस्क। पिता जी दिन भर ऑफिस मे रहते थे, इसलिए उस छोटे से एकाकी बरामदे का मै ही एकमात्र अधिकारी था। यही बैठकर मैने अपनी सर्वप्रथम रचना का सूत्रपात किया था। जाड़े की अलस-मधुर दुपहरी मे उस चढ़ावदार सँकरी पहाडी सडक पर, न जाने, नीचे की किन हरी-भरी तलहटियो और मखमली घाटियों से निकलकर, उस छोटे से उपन्यास के लिए मद मंथर गति से आगे बढते हुए, नायक नायिका और करीब आधे दर्जन पात्र-पात्रियाँ मेरी अधखुली, स्वप्न-भरी आँखो के सामने, कैशोर-प्रेम की मुग्धता, ममता तथा तन्मयता से भरा उस कथानक का सौन्दर्य पट बुन गये, मुझे अब ठीक-ठीक स्मरण नही। सभवत अपने किशोर मन की कुछ अस्फुट भावनाओ एव अस्पष्ट विचारो को कथा के रूप मे गूँथने के लिए ही मैने उस लघु उपन्यास की कागज़ की नाव को साहित्य के सिन्धु मे प्रथम प्रयास के रूप मे छोड़ने का दु:साहस किया हो। उस कागज की नाव पर बैठकर आधे दर्जन लोग बिना मानव मन की गहराइयो को छुए, बिना शिल्प की पतवार घुमाये या अनुभव के डॉड़ चलाये, किस प्रकार ऊपर ही ऊपर, भावो के फेन को चीरते हुए, पार हो सके, मै आज भी उस बात को सोचकर आश्चर्य मे डूब जाता हूँ। ख़ैर, किशोर मन ढीठ नही तो दु:साहसी तो होता ही है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उस उपन्यास की पाडुलिपि इस समय मेरे पास नही है, वह मेरे एक स्नेही मित्र की अल्मारी या सदूकची मे दूसरे नगर मे सुरक्षित है—संभवत मेरे बाल-चापल्य के उदाहरण के रूप में। पर अपने उस बाल-प्रयास के बारे में मुझे जो कुछ स्मरण है उसे आपके मनोविनोद के लिए निवेदन करता हूँ। उपन्यास का नाम मैंने रक्खा था 'हार'। हार का अर्थ पराजय तथा माला—दोनो ही उस उपन्यास के कथ्य से सार्थक हो जाते थे : इस प्रकार 'हार' शब्द मे एक प्रकार का श्लेष था जो मुझे तब बड़ा व्यजनापूर्ण प्रतीत होता था। कथानक छोटा ही था पर लिखने का ढंग अथवा अभिव्यक्ति अलकरण-पूर्ण होने के कारण जो कि उस अवस्था के लिए स्वाभाविक ही था—उपन्यास मानव-चरित्र एव मनोविज्ञान से अधिक मेरे शाब्दिक ज्ञान का ही परिचय देता था। उसकी पृष्ठ संख्या सभवत. २०० के लगभग होगी। कथानक कुछ इस प्रकार था : एक भावुक युवक एक नव युवती के रूप से आकृष्ट होकर, उसे, बिना अपना प्रणय निवेदन किये, चुपचाप अपने हृदय के आसन पर बिठा लेता है। युवती अपने मा-बाप के साथ ग्रीष्म ऋतु मे एक-दो महीनो के लिए किसी पहाड़ी प्रान्त मे घूमने-फिरने के लिए आयी हुई थी। प्राकृतिक सौदर्य के उस मनोरम प्रदेश मे अबोध युवक और युवती, प्रतिदिन

परस्पर के सपर्क मे आकर, भद्रता और शील का अभिनय करते हुए, अज्ञात रूप से, एक दूसरे की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते गये । किन्तु युवती को वस्तुस्थिति का बोध पहले हो जाने के कारण वह धीरे-धीरे सतर्क हो जाती है । और युवक को प्रणय-निवेदन का अवसर न देकर उसके हृदय मे प्रेम की अतप्ति का नैराश्य एव विषादपूर्ण अधकार भर कर एक दिन विना उसे पूर्व सूचना दिये, अपने माता-पिता के साथ पर्वत प्रदेश को छोड़कर चली जाती है । युवक इस अप्रत्याशित मूक विछोह से क्षुब्ध होकर विरक्त हो उठता है और उसे मानव-जीवन का समस्त व्यवहार खोखला तथा आस्थाशून्य लगने लगता है । वह, प्रेम की मृग-मरीचिका से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर, मानव-जीवन के उचित ध्येय की खोज करता है और अपने अध्ययन तथा चिन्तन से इस परिणाम पर पहुँचता है कि नि:सग रह कर लोक-सेवा करने से ही आनद तथा आत्म-कल्याण की उपलब्धि सभव हो सकती है । वह अपने कुछ नवयुवक साथियो को लेकर नैतिक जीवन बिताने के लिए शायद एक आश्रम की स्थापना करता है । मानव-जीवन का गहरा अनुभव न होने के कारण मैंने 'हार' और 'ग्रन्थि' दोनो ही गद्य-पद्य कथाओं के नायकों को प्रेम-सन्यास दिलाकर, विरक्त बनाकर छोड़ दिया है ।

जब मै अपनी उन दिनो की मनोदशा का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे स्मरण आता है कि 'हार' लिखने के समय मै अपने भाई से सुनी हुई रीतिकालीन कवियों की शृगार भावना, शकुन्तला की प्रेम-कथा तथा मेघदूत की वियोग-व्यथा से ज्ञात-अज्ञात रूप से काफी हद तक प्रभावित था । मैंने भाई साहब की पुस्तको मे से विहारी सतसई तथा तिलक की गीता का भी तब अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार अध्ययन अवश्य कर लिया था । क्योंकि 'हार' मे यत्र-तत्र एकात प्रणय-निवेदन अथवा रूप-वर्णन के रूप मे विहारी के नाविक के तीरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है । और प्रेम वचित हृदय को सात्वना देने के लिए मैंने लोकमान्य की गीता के कर्मयोगी भाष्य का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है । उन दिनों अल्मोड़े में जो स्वामी सत्यदेव आदि बड़े लोगो के भाषण होते थे उनमे देश-सेवा एवं लोक-सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था । उन सब परिस्थितियों एव बौद्धिक वातावरण से लाभ उठाकर मैंने अपने विचारो तथा भावनाओं को व्यवस्थित वाणी देने के अभिप्राय से ही, संभवत:, 'हार' नामक उपन्यास की रचना की होगी । क्योकि छंद मे तब अपनी गति उतनी न होने के कारण अपने चंचल, किशोर मन को, नित्य बढ़ती हुई भाव-राशि के बोझ से मुक्त करने के लिये मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पड़ा होगा । सभवत:, मुझे अब स्मरण नही पड़ता, मैंने भाई साहब के पुस्तकालय से दो-एक उपन्यास भी तब छिपाकर अवश्य ही पढ़ लिए होगे । क्योकि, तब मुझे याद है, हम बच्चे ही समझे जाते थे और हमे उपन्यास, कहानी आदि पढ़ना मना था । भाई साहब के कभी घर से बाहर घूमने-फिरने के लिए निकलने पर मैं जिस क्षुधा एवं उत्साह के साथ उनकी पुस्तकों की अल्मारियों पर टूट कर, कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकों को जल्दी-जल्दी उलट-

पलट कर पढा करता था, वह मुझे याद है । और कभी-कभी अपनी एक-आध पुस्तक भाई साहब को मेरे सिरहाने तकिए के नीचे दबी हुई भी मिल जाती और तब उनकी लाड़-प्यार की भर्त्सना को सहना मेरे लिए बडा कठिन हो जाता था । मै कई दिन तक उन्हें मुँह दिखाने मे शरमाता था ।

मैंने, अपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियों के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पाकर अपना खिलौना उपन्यास 'हार' लिखा था—जो मेरी सर्वप्रथम रचना थी ।

मेरी सबसे प्रिय रचना

यदि मुझे अपनी रचना के संबध मे कहना न होता तो मैं आपको बिना किसी संकोच या हिचक के तुरंत यह बतला देता कि शेली या वर्ड्सवर्थ, टैगोर या कालिदास, वाल्मीकि या व्यास की वह कौन-सी रचना है जो मुझे सबसे प्रिय है और वह क्यो मुझे सबसे प्रिय है ? पर बात अपनी कविता के बारे मे कहने की है और यही सबसे कठिन समस्या है . 'निज कवित्त केहि लागे न नीका' पढने के बाद भी आप न जाने क्यों मुझसे यह पूछना चाहते हैं कि मुझे अपनी सबसे प्रिय रचना कौन-सी लगती है ? बात यह है कि मैं जिस समय जो भी रचना लिखता हूँ उस समय मुझे वही अपनी सबसे प्रिय रचना प्रतीत होती है,....दुबारा चाहे भले ही मेरा जी उसे पढने को न करता हो या मैं नयी सृजन वेदना या सृजन उल्लास के नशे मे फिर दूसरी रचना की सृष्टि करने मे तल्लीन हो जाऊँ ।

मैंने जब कविता लिखना आरभ किया था तब खड़ी बोली की कविता की नीव ही नही पड़ चुकी थी उसके प्रासाद के कई शिखर-कलशो तथा गुबदो का भी निर्माण हो चुका था । द्विवेदी-युग के कवि नयी भारती की आरती का थाल सँजोकर तब वाणी के मंदिर मे उन्मुक्त उदात्त कठो से गा रहे थे । खडी बोली जागरण की चेतना थी । द्विवेदी-युग जिस जागरण का प्रारम्भ था हमारा युग उसके विकास का समारभ था । छायावाद के शिल्प-कक्ष मे खड़ी बोली ने धीरे-धीरे काव्य-सौदर्य, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार भाषा का सिंहासन ग्रहण किया । गद्य मे निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है ।

हमारी पीढ़ी एक प्रकार से, व्यापक अर्थ में जागरण की ही पीढ़ी रही है । हिन्दी हम लोगो के लिए एक मात्र भाषा ही नही एक नयी चेतना, नयी प्रेरणा का प्रतीक बनकर आयी थी । देश मे सर्वत्र, सभी क्षेत्रो मे, नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे,.. .हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को, हिन्दी ही के रूप में पहचाना था । उसी सर्वतोन्मुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्नो मे हिन्दी का भी कंठ फूटा था । उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नही छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरें लेने लगा था । इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति के रूप मे,—एक मानवीय सौंदर्यबोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई थी ।

श्री गुप्त जी की 'भारत-भारती' तब हमारे लिए कितना महान् राष्ट्रीय उत्थान का सदेश तथा आत्म-गौरव का आश्वासन लेकर आई थी ! श्रीकृष्ण ने न जाने कब बाँसुरी छोड़कर पाचजन्य उठा लिया था ! प्रथम महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे समस्त देश मे स्वतत्रता का गान तथा उद्बोधन का मत्र गूँज उठा था। जो जागरण सर्वप्रथम बगाल मे रवीन्द्रनाथ के स्वरो मे छनकर एक काव्यात्मक सबोध, सास्कृतिक आह्वान तथा संकेत के रूप में ध्वनित हुआ था, वह हिंदी के भीतर से धीरे-धीरे गाधीवादी कर्मचेतना के सक्रिय यथार्थ के रूप मे प्रकट तथा प्रस्फुटित होने लगा। नया हिन्दी-काव्य केवल रवीन्द्रनाथ की ही प्रतिध्वनि नही रहा, उसने अपने युग की पृष्ठभूमि से स्वतत्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार हमारे युग की कविता, जो छायावादी कविता कही जाती है, जहाँ एक ओर राष्ट्रीय अभ्युत्थान के गीत गुनगुना रही थी वहाँ, मुख्य रूप से, वह भारतीय सास्कृतिक पुनर्जागरण को ही मुखरित करने मे संलग्न थी। मध्य-युगीन काव्य-चेतना या तो अपने रीतिकालीन विलास-शृगार के कर्दम मे डूबी हुई सामती रूप-भावना मे सीमित थी या सत-परपरागत रसशुद्ध समदृष्टि जीवन-दर्शन से पीडित थी। छायावादी कविता सोई हुई भारतीय चेतना की गहराइयों मे नवीन रागात्मकता की माधुर्य-ज्वाला, नवीन जीवन-दृष्टि का सौदर्यबोध तथा नवीन विश्वमानवता के स्वप्नो का आलोक उड़ेल रही थी। छायावाद से पहले खडीबोली का काव्य, भाव तथा भाषा की दृष्टि से, बिल्कुल दरिद्र था। छायावाद ने उसमे अँगड़ाई-लेकर-जागते-हुए-भारतीय-चैतन्य का भाव-वैभव भरा। विश्व-बोध के व्यापक आयाम, लोक-मानव की नवीन आकाक्षाएं, जीवन-प्रेम से प्रेरित परिष्कृत अहता का मासल सौन्दर्य-परिधान पहले पहल उसी ने हिन्दी-कविता को प्रदान किया।

यह सब छायावाद के लिए इसलिए सभव हो सका कि भारतीय पुनर्जागरण विश्व-सभ्यता के इतिहास के एक और भी महान् लोक-जागरण का अंग बनकर आया था। विश्व-सभ्यता के इतिहास का ही नही, वह मानव-चेतना के भी एक महान् सांस्कृतिक क्रान्ति के युग का समारभ बनकर उदय हुआ था। इसलिए छायावाद मे हमे राष्ट्रीय जागरण के गभीर स्वप्न, मौन संवेदन-भरे गीत तथा धरती के जन-जागरण के संघर्ष-मुखर विद्रोह भरे स्वर एक साथ सुनने को मिलते हैं। प्रगतिशील कविता वास्तव मे छायावाद की ही एक धारा है। दोनों के स्वरो मे जागरण का उदात्त सदेश मिलता है—एक मे मानवीय जागरण का, दूसरे में लोक-जागरण का। दोनो की जीवन-दृष्टि मे व्यापकता है, एक मे सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरी मे यथार्थ के खोज या बोध की। दोनो ही वैयक्तिक क्षुद्र अहंता को अतिक्रम कर प्रवाहित हुई है, एक ऊपर की ओर, दूसरी विस्तृत धरातल की ओर। दोनों ही क्षमतापूर्ण रही हैं,—एक गांभीर्य की, दूसरी गति की शक्ति से। प्रगतिशील कविता लोक-सस्कृति की भावात्मक या घन-

चेतना को जन्म न दे सकने के कारण अपने ह्रास मे जिस प्रकार सकीर्ण दलबदी, बौद्धिक कुठा तथा कोरी राजनैतिक नारेबाजी मे खो गई, उसी प्रकार छायावाद के अन्तर्गत उसकी जीवन-सौन्दर्यवादी काव्यधारा भी आज अपनी अतिवैयक्तिक, उपचेतनाग्रस्त भावना, आत्मदया पीडित अहता तथा रूपकारिता एव साज-सँवार सबधी अति आग्रह के कारण प्रयोगवाद के रूप मे विकीर्ण हो रही है। उसमे अब वह मानववादी व्यापकता, उदात्तता, वह अन्तःस्पर्शी तथा अतर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकोभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के सदेश का प्रकाश नही देखने को मिलता। उसमे उर्दू शायरी की बारीकियाँ, रीतिकालीन चित्रणो, अत्युक्तियो तथा भेदोपभेदो की विचित्रताओ एवं सस्ती अहजन्य असाधारणताओ के कारण युगीन ह्रास के सभी चिह्न प्रकट होने लगे है।

अपने युग के काव्य-साहित्य की पृष्ठभूमि का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इसलिए आवश्यक हो गया कि अपनी सबसे प्रिय रचना के बारे मे कहने से पहले मै आपके सम्मुख यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरी काव्यरुचि या सस्कार का निर्माण करने मे किन शक्तियो का हाथ रहा तथा मेरी काव्य-सबधी मान्यताओ को किस प्रकार सास्कृतिक-राजनीतिक जागरण की व्यापक चेतना ने प्रेरित एव प्रभावित किया। मेरी प्रिय-अप्रिय की भावना व्यक्तिगत रुचि से चालित न रहकर जीवन-मान्यताओ-सबधी दृष्टिकोण से शासित रही।

मैंने प्रकृति के एक सौंदर्यवादी कवि के रूप मे काव्य के सारेगमो का अभ्यास आरम्भ किया। सौंदर्य, स्वभाव मे ही मुझे, अपनी भावना के सहज धरोहर के रूप मे मिला। प्रकृति के सुन्दर मुख को मैंने छुटपन ही मे पहचान लिया था। 'वीणा' 'ग्रन्थि' तथा 'पल्लव' काल की मेरी किशोर कल्पना नैसर्गिक सौन्दर्य के ही मधुर स्वप्न देखती रही। रगों की तूली से चित्रित सद्य स्फुट प्रकृति की शोभा उसे विस्मय-विमुग्ध करती रही। 'गुजन' मे धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुडकर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे मे गुनगुनाना सीखा। अपने भीतर मुझे अधिक नही मिला। व्यक्तिगत आत्मोन्नयन के सत्य मे मुझे कुछ भी मोहक, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण नही दिखायी दिया। मैंने जीवन-मुक्ति के लिए छटपटाती हुई प्राण-कामना तथा राग-भावना को 'ज्योत्स्ना' के रूपक मे अधिक व्यापक, सामाजिक, अवैयक्तिक तथा मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर व्यक्तिगत जीवन साधना के प्रति—जिसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'गुजन' मे मिलती है—विद्रोह प्रकट किया और अपने परिवेश की सामाजिक चेतना से असंतुष्ट होकर एक अधिक संस्कृत, सुदर एव मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया। स्वप्न इसलिए कि उसे वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में मूर्त करने की बात तब मेरे मन में नही उठी थी, उस ओर मेरा ध्यान ही नही गया था। बाधा-बधनहीन किशोर कल्पना उड़ान भरना जानती थी, वह उसने भर दी। आदर्श, लक्ष्य अथवा साध्य का अनुमान

कर उसकी रूपरेखा बनाना कठिन नही होता, पर उसकी ओर अग्रसर होने के लिए पथ का अन्वेषण करना सरल नही होता। उसके लिए जीवन की वास्तविकता का भी अनुभव चाहिए। पथ की खोज मुझे बराबर रही है, और अब भी है। लक्ष्य के प्रति मेरे मन मे कोई सदेह या दुविधा कभी नही रही।

गाधीवाद तथा मार्क्सवाद का मुख्य भेद साधन का भेद है, लक्ष्य दोनो का विभिन्न शब्दो मे व्यापक लोकहित ही है। गाधीवाद युग के अधिक निकट होने के कारण युगीन पृष्ठभूमि की दृष्टि से अधिक आधुनिक है, मार्क्सवाद साधन के सबध मे निश्चय ही पिछड़ा हुआ है। 'नमक-सत्याग्रह से लेकर सन् '४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलन के बीच का समय असहयोग-आन्दोलन के उतार का समय रहा है, जबकि हमारे जागरण-युग की कर्मचेतना श्रात-श्लथ होकर, एक प्रकार से, विश्राम ग्रहण कर रही थी और व्यक्तिगत सत्याग्रह मे कभी-कभी इधर-उधर सुलगकर अपने जीवत अस्तित्व का स्मरण-भर दिला देती थी। इस बीच अनेक प्रकार का आशा-निराशा, उत्साह-कुठा का स्नायविक सग्राम युग मानस मे फलत युग-साहित्य मे, चलता रहा और अनेक प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं एव विचार-दर्शनो का प्रभाव मन मे उथल-पुथल मचाता रहा। यह युग, साहित्य मे, हिन्दी-कविता के प्रगतिशील युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल मे मैने भी मार्क्स के गभीर आर्थिक, सामाजिक सिद्धान्तों तथा विचार-निर्णयो से प्रभावित होकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखी थी, जिनसे संभवतः हिन्दी मे प्रगतिवाद का नया चरण आरम्भ हुआ था। अपने इस नए रुझान का आभास मै 'युगान्त' मे पहले ही दे चुका था।

सामाजिक ऐतिहासिक दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप मेरा जीवन-दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित नही हो गया था, जैसा कि मेरे आलोचकों को तब प्रतीत हुआ, मेरी जीवन-दृष्टि अधिक व्यापक हो गई थी। अर्थात् आदर्श के अतर्मुख-चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथार्थ का बहिर्मुख-आग्रह भी स्वीकार कर लिया था। जीवनादर्श के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही बना रहा, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए—उसके विकास के अग के रूप में—वस्तु-जगत् के सघर्ष को भी मेरा मन समझने लगा, तथा उसकी यथार्थता को महत्त्व भी देने लगा। किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थ के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब इतनी विकसित, सशक्त एवं परिपक्व नही हो सकी थी कि वह आदर्श और यथार्थ को एक ही मानव-सत्य के, समग्र सत्य के, अगो—परस्पर पूरक अगो—के रूप मे देख सके अथवा ग्रहण कर सके।

अब मै अपने कवि-मन के विकास के एक अत्यन्त आवश्यक मोड़ या स्थिति के बारे मे कहने जा रहा हूँ, जहाँ से 'स्वर्ण-किरण' का युग आरंभ होता है, और जिसे आप मेरे चेतना-काव्य का युग भी कह सकते है। यह 'ग्राम्या' से पॉच वर्ष के बाद का समय

है । इस बीच मेरे मन मे 'ज्योत्स्ना' और 'ग्राम्या' की चेतनाओ का—आदर्श और यथार्थ की चिन्तन-धाराओं का—संघर्ष तथा मथन चलता रहा और इसी का परिपाक 'स्वर्ण-किरण' की विकसित जीवन-चेतना के रूप मे हुआ, जिसको मै अपनी 'स्वर्णोदय' नामक रचना मे संभवत. अधिक सफल अभिव्यक्ति दे सका हूँ ।

'स्वर्ण-किरण' की काव्य-दृष्टि को मेरे आलोचको ने समन्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर आत्मसतोष ग्रहण किया है । मै यह नहीं कहना चाहता कि उसके पुष्कल चैतन्य की उन्होने जान-बूझकर उपेक्षा की है । नही, उसकी ओर उन्होने सभवत. यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है । और उसे समझने की चेष्टा भी अभी नही जाग्रत हुई है । इसका एक कारण, और सभवतः मुख्य कारण, यह है कि वर्तमान सास्कृतिक ह्रास के युग मे मानव-चेतना और विशेषतः बुद्धिजीवियों एव कलाकारों की भावप्रवण सवेदनशील चेतना प्राणिक जीवन-वृत्तियो के उच्छवासों तथा भावनाओ के उपचेतन स्तरो मे ऐसी उलझ गयी है कि उन गुहाओ से घने अंधकार को नवीन चैतन्य के स्वर्णिम प्रकाश से विगलित होने मे समय लगेगा । संभवतः, समय आने पर, 'स्वर्ण-किरण' के युग की मेरी रचनाएँ—जिनमे मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित है—पाठको एव आलोचको का ध्यान अधिक आकृष्ट कर सकेगी और उनके प्रति अधिक न्याय हो सकेगा । मै उनके सबंध मे केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि उनमे केवल समन्वयवादी या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही नही है, उनमे मेरी समस्त जीवन-अनुभूति का, ग्राम्या की हरीतिमा का भी, निचोड है । उनमे जीवन-सौन्दर्य के परिधान मे मूर्त नवीन जीवत मानव-चैतन्य भी है, जिसको अधिक परिपक्व अथवा पूर्णतम अभिव्यक्ति मै अभी नही दे सका हूँ ।

यह एक इतना विराट् तथा विश्वव्यापी चेतनात्मक, फलत. मान्यताओ की, क्रान्ति का युग है कि मानव-मन उसके महत्व को अभी पूर्णत. ग्रहण नही कर पाया है । यह महत् अतः क्रान्ति जो कि मानव-जीवन में एक महान परिवर्तन तथा रूपान्तर उपस्थित कर सकेगी, अभी केवल विकास के पथ मे है । मैंने 'उत्तरा' के गीतो मे इस ओर सकेत किया है । नव युग का सूक्ष्म सांस्कृतिक ऐश्वर्य, मनोवैभव तथा जीवन-सौन्दर्य अभी पूर्णतः प्रस्फुटित होकर मनुष्य के भीतर नहीं अवतरित हो सका है । इसीलिए सभवत मेरी सबसे प्रिय रचना भी अभी कहीं रुकी हुई है, मै उसे शब्दो मे बाँधकर मूर्त नही कर सका हूँ । उसके लिए अभी उपयुक्त भावना-भूमि प्रस्तुत नही हो सकी है । सभव है, मै कभी भविष्य मे अपनी सबसे प्रिय रचना को आपके सम्मुख रख सकूँगा ।

आज के युग में कविता को केवल वादों, बौद्धिक दर्शनों, सामूहिक नारो, अवचेतन के वैचित्र्य-भरे अपरूप उच्छ्वासों एवं उद्गारों के रूप मे ही देखना उसके प्रति अन्याय करना है । जुगुनुओं की पक्तियो की भाँति मानव-मन की विषण्ण गहराइयो मे जगमगाती, रीढ़-हीन बिखरी बेलों की तरह धरती पर जड़ी हुई एव बेलबूटो की तरह कढ़ी हुई सतरें

और जिस तथ्य को भी वाणी देती हो, वे निश्चय ही नए युग के नए मानव के चैतन्य को अथवा नए मानव-सत्य को अभिव्यक्त नही करती, इसमे मुझे रत्ती-भर सदेह नहीं। सभवत. यह कविता के विश्राम-ग्रहण करने का समय है। नया मानव-चैतन्य अ तर्मुखी होकर अपने लिए नवीन भावभूमि, नवीन सौन्दर्य-वाणी, नवीन माधुर्य-रस तथा नवीन इद्रिय-आनद का स्पर्श खोज रहा है। मै नई कविता को धीरे-धीरे, नवीन अनुराग को ज्वाला के चरण बढाकर, और भी निकट आते हुए देख रहा हूँ। सभव है, उसी मे कही मेरी सबसे प्रिय रचना हो।

———

मैं और मेरी रचना 'गुंजन'

अपनी रचनाओ मे मै 'गुजन' का स्थान महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। 'गुजन' की कविताओ से पहले मेरा ध्यान अपनी ओर कभी नही गया था। यह बडी विचित्र बात है कि इकत्तीस-बत्तीस साल की उम्र तक, जब मैंने 'गुजन' की रचनाएँ लिखी, मुझे बाह्य जगत् इतना लुभाता रहा कि मुझे जैसे अपनी सुधि ही नही रही। बाह्य जगत् से मेरा अभिप्राय प्रकृति के जगत से है, जिसने मुझे सर्वप्रथम कविता लिखने की प्रेरणा दी और जो मुझे दस-बारह साल की उम्र से तीस-बत्तीस साल की उम्र तक किसी न किसी रूप मे अपनी सुन्दरता से रिझाता तथा मोहता रहा। यह बात नही है कि उसके बाद प्राकृतिक शोभा ने मुझे आकर्षित नही किया हो। उसके आकर्षण को तो मै जीवित रहने के लिए एक प्राणप्रद तथा आवश्यक उपादान मानता हूँ। किन्तु 'गुजन' के रचना-काल तक मै जिस प्रकार प्रकृति की क्रोड मे निश्चिन्त विचरण करता हुआ अपने को भूला रहता था वह बात आगे मेरे साहित्य मे नहीं पाई जाती। 'गुजन' के पहले की मेरी कुछ रचनाएँ 'वीणा', 'ग्रथि' और 'पल्लव' नाम के तीन सग्रहो मे प्रकाशित हो चुकी थी जिनमे वीणा मे मेरी प्रारभिक रचनाएँ, 'ग्रथि' मे एक काल्पनिक प्रेम-कथा और 'पल्लव' मे विशेष रूप से मेरे प्रगीत सगृहीत हुए है। प्रकाशन की दृष्टि से 'पल्लव' ही पहले प्रकाशित हुआ। 'पल्लव' मे मेरे अधिकाश प्रगीतों के विषय मुख्यत प्रकृति के सौन्दर्य से सम्बद्ध रहे है। उनमे मैंने अपनी रचनाओ के रूप-विधान के लिए प्राकृतिक उपकरणो का ही विविध रूपों मे प्रयोग किया है। हिन्दी मे जितना आब्जेक्टिव या वस्तुपरक काव्य मैंने लिखा है, उतना शायद ही और किसी ने लिखा हो। 'पल्लव' मे अतिम रचना सन्' २५ की मिलती है। सन् १९२५ से लेकर सन् ' ३०, तक इन पाँच वर्षो मे, मेरा काव्य, जो अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणो से वस्तुपरक से धीरे-धीरे भावपरक हो गया, वह शायद स्वाभाविक ही था। इन भाव-परक प्रगीतों का सर्वप्रथम सग्रह 'गुजन' के नाम से सन् '३२ मे प्रकाशित हुआ। मेरी पल्लव-कालीन कल्पना-कोमल तथा वस्तुमूलक कविताओं का 'गुजन' की रचनाओ मे एकदम कायापलट देखकर मेरे पाठकों को कुछ समय तक आश्चर्यचकित, विचारमग्न अथवा प्रश्नमौन रहना पड़ा। पर मै, जोकि अपने मानसिक विकास के अन्त सूत्र से भलीभाँति परिचित हूँ, अपने काव्य के इस दिशा-परिवर्तन को विस्मय की दृष्टि से नही देखता। आगे चलकर ऐसे और भी नए क्षितिज मेरे भीतर खुले है जिन्होंने मेरी काव्य-कल्पना को नवीन दिशाएँ प्रदान की है और मै उन कारणों को अच्छी तरह जानता हूँ।

कौन जाने, आज जो मेरे भीतर एक नया अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है वह मेरी आगामी रचनाओं की दिशा को फिर से एक दूसरा मोड दे दे, पर यह बात अभी से ठीक तरह नहीं कही जा सकती ।

'गुंजन'--जैसा कि इस शब्द से ध्वनित होता है,--मेरी भावात्मक तथा चिन्तन प्रधान रचनाओ का दर्पण है जिसमे मेरा आत्मान्वेषी, जिज्ञासु व्यक्तित्व प्रतिफलित हुआ है । 'गुंजन' के स्वर मे मै अपने अत्यन्त समीप आकर सोचने लगता हूँ । वैसे 'पल्लव' के अन्तर्गत अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक रचना मे भी मैंने विचार-दर्शन दिया है, पर वे विचार मुख्यतः बाह्य जगत् से प्रेरित है । उसमे मैंने केवल जगज्जीवन के रूप को परखा है, जो निर्मम रूप से बदलता रहता है । मै उसका विश्लेषण कर विक्षुब्ध हुआ हूँ :

> "आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात !
> चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अधकार अज्ञात' !"
> "शून्य साँसो का विधुर वियोग, छुड़ाता अधर मधुर सयोग,
> मिलन के पल केवल दो चार, विरह के कल्प अपार ।'
> "खोलता इधर जन्म लोचन, मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण ।' इत्यादि

अब भी इन सब बातो को सोचकर मन मे अवसाद भर जाता है । जगज्जीवन का संश्लेषण कर मैंने परिवर्तन से सात्वना भी ग्रहण की है, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों मे अभिव्यक्त हुआ है

> "बिना दुख के है सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार।
> दीन दुर्बल है रे ससार, इसी से दया क्षमा औ प्यार।'
> 'आज का दुख कल का आह्लाद, और कल का सुख आज विषाद,
> समस्या स्वप्न गूढ ससार, पूर्ति जिसकी उस पार"

पर, यह केवल सात्वना ही तो थी । सामाजिक विषमताओ और द्वद्वो का भी 'परिवर्तन' मे यत्र-तत्र चित्रण हुआ है .

> 'काँपता इधर दैन्य निरुपाय, रज्जु सा, छिद्रो का कृशकाय ।'
> 'लालची गीधो-से दिन रात, नोचते रोग शोक नित गात !'
> 'सकल रोओ से हाथ पसार, लटता इधर लोभ गृह द्वार,
> उधर वामन डग स्वेच्छाचार, नापता जगती का विस्तार ।'
> 'बजा लोहे के दन्त कठोर, नचाती हिंसा जिह्वा लोल ।' इत्यादि ।

किन्तु यह सब होते हुए भी मेरा ध्यान तब मन के भीतर छिपी हुई शक्ति की ओर नही गया था और परम्परा-गत भाग्यवाद की भूमिका से प्रेरणा ग्रहण कर मैंने

> 'हमारे निज सुखदुख निःश्वास, तुम्हें केवल परिहास;
> तुम्हारी ही विधि पर विश्वास, हमारा चिर आश्वास'

कहकर अपने मन को आश्वस्त किया था ।

मेरे जीवन-विकास मे यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि पल्लव काल के समाप्त होते-होते, जब 'यहाँ सुख सरसो, शोक सुमेरु' की धारणा के कारण मेरे भीतर जगज्जीवन के प्रति अत्यन्त विषाद तथा विरक्ति का दु सह बोझ जमा हो गया था, तब जैसे उसी अवसाद के भार के तीक्ष्ण दबाव के कारण मेरे भीतर एक अज्ञात आनन्द स्रोत फूट पड़ा, जिसने मेरा ध्यान 'यही तो है असार ससार' से सहसा हटाकर मन के भीतर के प्रच्छन्न आनन्द-स्रोत को ओर आकर्षित कर दिया और इस अनुभूति ने जैसे 'गुजन' के सा रे ग म ही बदल दिए।

उस आनद स्पर्श ने पहली अभिव्यक्ति सन् '२७ के एक प्रगीत मे पाई :

लाई हूँ फूलो का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन वन का उल्लास ?,
लोगी मोल, लोगी मोल ?,
फैल गई मधुऋतु की ज्वाल,
जल जल उठती वन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल बोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
उमड़ पडा पावस परिप्रोत,
फूट रहे नव-नव जलस्रोत,
जीवन की ये लहरे लोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?"—इत्यादि

यह तरल तुहिन वन का उल्लास, मधुऋतु की ज्वाल, कोकिल के कोमल बोल अथवा जीवन की लोल लहरें—मुझे उसी आनद स्फुरण के रूप मे मिले। सन् '३० में मैंने :

"जग के उर्वर आँगन मे
बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो कुसुमो मे मधु बन,
प्राणो मे अमर प्रणय धन,
स्मिति स्वप्न अधर पलको मे,
उर अंगो मे सुख यौवन,
बरसो सुख बन, सुषमा बन,

बरसो जग जीवन के घन,
दिशि दिशि में औ' पल पल में,
बरसो संसृति के सावन' . . . आदि

रचना द्वारा भी उसी आनंद-घन का आवाहन किया है। 'गुंजन' की रचनाओं में ऐसे अनेक प्रगीत हैं जो इस शुद्ध अमिश्रित आनन्द को क्रीडा के साक्षी हैं: यथा

"विहग विहग !
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज
चिर सुभग सुभग !
अथवा
जीवन का उल्लास,
यह सिहर सिहर,
यह लहर लहर,
यह फूल-फूल करता विलास" . आदि ।

इस भीतरी आनन्द के स्पर्श से मुझे आत्म-संस्कार, आत्मोन्नयन, आत्मसमर्पण तथा आत्म संयमन के लिए भी प्रेरणा मिली । मेरे मन की इन वृत्तियों की द्योतक अनेक कविताएँ 'गुंजन' में यत्र-तत्र बिखरी पडी हैं, जिनमें से कुछ के उदाहरण मैं दे रहा हूँ । 'गुंजन' की पहली ही कविता है .

"तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन !"

यह मेरे मन की एक प्रकार की आध्यात्मिक व्यथा अथवा मेटाफिजिकल एंग्विश (Metaphysical Anguish) है । इन पंक्तियों में 'मधुर-मधुर' शब्द आनन्द-स्पर्श जनित व्यथा का परिचायक है । अकलुष और उज्ज्वल बनने के बाद मैंने अपने मन से जीवन की पूर्णता अथवा समग्रता में बँधने को कहा है, जो इस प्रकार है :

"अपने सजल स्वर्ण से पावन, रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम !
स्थापित कर जग में अपनापन, ढल रे ढल आतुर मन !"

आत्मोन्नयन के लिए उत्सुकता, विह्वलता अथवा व्यथा मेरे इस समय की अनेक रचनाओं के ताने-बाने मे मिल गई है और इसके कारण जग-जीवन के सुख-दु खों के प्रति, जिनसे कि मैं 'पल्लव' और 'परिवर्तन' काल मे विचलित हो उठता था—मेरा दृष्टिकोण ही आमूल बदल गया और वे मुझे एक-दूसरे के पूरक तथा आत्मोन्नयन के लिए आवश्यक सोपान प्रतीत होने लगे। अनेक गीतो मे मैंने इस भावना को वाणी दी है; जैसे

"मै नही चाहता चिर सुख, मै नही चाहता चिर दुख
सुख दुख की खेल मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख।
सुख दुख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन मे ओझल हो शशि, फिर शशि मे ओझल हो घन।"

निष्क्रिय विषाद से अधिक महत्त्व मेरे मन ने सक्रिय आनन्द को ही दिया है; जैसे :

"आँसू की आँखो से मिल भर ही आते है लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का पर हो सकता अभिवादन।"
'दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा खा कर भरती प्रकाश से वह मन।"—
अथवा "वन की सूखी डाली मे सीखा कलि ने मुसकाना,
मै सीख न पाया अब तक मुख मे दुख को अपनाना।"

इस सब के साथ ही जीवन के प्रति और जीवन के विकसित प्रतीक मानव के प्रति मेरे मन मे एक नवीन आस्था पैदा हो गई। अपनी अन्तर-अनुभूति को चिरस्थायी बनाकर चरितार्थ करने के लिए 'गुजन'-काल मे मेरे मन ने कठोर साधना की और यह साधना मुझे बिलकुल भी नही खली। मानव और जीवन के प्रति आस्था ने जगज्जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण ही बदल दिया .

"काँटो से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली,
इसमे ही तो जीवन के पल्लव की फूटी लाली,"
या "अपनी डाली के काँटे बेधते नही अपना तन
सोने-सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणो का धन।"

आदि रचनाएँ मेरे उसी व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक है।

इस निरतिशय आनन्द-भावना ने मुझे एक नवीन सौन्दर्य-बोध भी जीवन-पदार्थ के प्रति प्रदान किया। वह सौन्दर्य-बोध संक्षेप मे अन्त सौदर्य का ही बाह्य जगत् मे प्रतिबिम्ब है। इस सौदर्यानुभूति को मैंने अनेक गीतो मे वाणी दी है; यथा :

"सुन्दर विश्वासो से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यो सहज सहज साँसो से चलता उर का मृदु स्पदन।"

अथवा

सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन, चिर सुदर सुख दुख का मन,
सुन्दर शैशव यौवन रे सुन्दर सुन्दर जग जीवन।
सुन्दर से नित सुदरतर, सुदरतर से सुंदरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर-सुन्दर जग जीवन। इत्यादि।

'गुजन'-काल की आनन्द-भावना ने मुझे जो एक प्रकार की तन्मयता प्रदान की वही 'गुजन' के छन्दों मे एक श्लक्ष्ण सूक्ष्म सगीत बनकर मूर्त हुई है। 'गुजन' के प्रगीतो की छन्द-योजना अपनी एक विशेषता रखती है, जो उससे पहले या आगे मेरी रचनाओ मे नही मिलती। 'गुजन' की पहली ही कविता के पदो में जैसे वह तन्मयता रजत-मुखर हो उठती है :

वन वन उपवन
छाया उन्मन उन्मन गुजन
नव वय के कलियो का गुजन।
रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले औ' ताम्र भौर
रे गध अध हो ठौर ठौर
उड पाँति पाँति मे चिर उन्मन
करते मधु के वन मे गुजन।

इस प्रकार आप देखते है 'गुजन' का काव्य मेरी अन्त साधना का सयम-शुभ्र काव्य है। वह मेरे मन की एक विशेष भावस्थिति का, मेरे जीवन-विकास के एक विशिष्ट रजत-शिखर का द्योतक है। किन्तु इस शिखर पर आगे चलकर जो धूल और सौरभ-भरी आँधियाँ टूटी, जो इद्रधनुष और बिजली-भरे बादल गरजे, जिनके कारण कि मुझे मानव-जगत् तथा जीवन का फिर से नए रूप मे अध्ययन करना पड़ा, उसकी कथा कभी फिर बतला सकूँगा। तथास्तु।

रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण

इसमें संदेह नही कि रचना-प्रक्रिया एक अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल प्रणाली है, जिसकी गतिविधि के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है। इसका सम्बन्ध एक ओर कलाकार की तात्कालिक चित्तवृत्ति एवं मानसिक स्वास्थ्य से है और दूसरी ओर यह वस्तुस्थिति, वातावरण तथा सामाजिक परिवेश से भी नियमित होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थूल-सूक्ष्म ऐसे कारण होते हैं जो इसके प्रस्फुटन, विकास तथा संयमन में सहायता देते हैं।

मेरे भीतर रचना-प्रक्रिया की एक ही पद्धति काम नही करती रही। मनोवेगों की अवस्थानुसार तथा अनुभूतियो की परिपक्वता के साथ ही और भी अनेक ऐसे कारण तथा घटनाओं का हाथ रहा, जिससे समय-समय पर उसका स्वरूप बदलता रहा। उदाहरणार्थ, किशोर वयस में मेरा मन विस्मय की भावना से अधिक अभिभूत रहता था और मन की आश्चर्य से प्रेरित स्थिति प्राय अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाती थी। 'वीणा'-काल की अनेक रचनाओं में मुझे विराट् के प्रति विस्मय, प्राकृतिक सौंदर्य के नित्य नवीन रूपों के प्रति विस्मय, छोटी-छोटी प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति विस्मय ने कविता लिखने की प्रेरणा दी है। 'वीणा' की 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना' एक ऐसी ही रचना है। प्रभात होते ही चिड़ियो का चहक उठना किशोर मन में आनंद-मिश्रित आश्चर्य पैदा करता था। यद्यपि यह रचना बनारस में लिखी गई जहाँ मैं अपने कमरे की खिड़की से प्रभात का स्वागत करता था और आनंदातिरेक से कलरव करती हुई चिडियो के कंठो की ध्वनियाँ प्रभात-किरणों के साथ मेरे मन को उनके स्वर में स्वर मिलाने को प्रोत्साहित करती रही हैं, पर रचना के वातावरण में अज्ञातरूप से पर्वत-प्रदेश के प्रभात की उज्ज्वलता, माधुर्य तथा उल्लास मिलकर समा गये हैं। विशेषकर 'ऊँघ रहे थे घूम द्वार पर प्रहरी-से जुगनूँ नाना' तथा झलका हास कुसुम अधरों पर हिल मोती का सा दाना' आदि ऐसे अनेक उपादान पर्वत-उपत्यकाओं में उदय हो रहे प्रभात में ही मुख्यतः देखने को मिलते हैं।

पहाड़ी चिड़ियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं और चिड़ियाँ मुझे लगती भी बड़ी अच्छी हैं। चिडियो के कलरव पर आधारित वीणा में एक और रचना है जो इस प्रकार है—

"अँगड़ाते तम में,
अपने कलरव ही से कोमल
मेरे मधुर गान में अविकल

सुमुखि, देख लो दिव्य स्वप्न-सा,
जग का नव्य प्रभात ।"

छाया, ओस, झरने, उड़ते हुए शुभ्र बादल मेरे मन मे ऐसी ही विस्मय-भरी भावना जगाते थे । तब मैं पूरी की पूरी कविता राह चलते, मन ही मन, लिख लेता था और पीछे समय मिलने पर उसे कापी मे उतार लेता था ।

"पल्लव"-काल तक प्रकृति के इतने सुन्दर-सुन्दर उपकरण मेरे मन मे अपने आप एकत्रित हो गए थे कि तब उन्हे अनेक चित्रो तथा उपादानो से अलकृत करना मेरे लिए स्वाभाविक हो गया था । 'वीणा'-काल मे कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय मेरे भीतर तुरत रचना-प्रक्रिया को जागृत कर देता था । उस काल की रचनाओ मे भावो की सीधी उड़ान तथा अन्विति मिलती है, कविता के प्रयोजन मे एकाग्रता पाई जाती हैं । 'पल्लव'-युग मे मेरे मन मे काव्यचित्र अधिक स्पष्ट होकर उतरते थे—उनमे रगो की ताज़गी, सुन्दरता का निखार, भावो की सूक्ष्मता तथा बिम्बो की बहुलता स्वाभाविक रूप से आ गई है । मेरी विस्मय की भावना मे गहराई आ गई है, वह जिज्ञासा मे बदल गई है । 'वीणा' का 'कलरव' पल्लव मे 'सोने के गान' मे परिणत हो जाता है :

"कहो हे प्रमुदित विहग-कुमारि,
कहाँ पाया सोने का गान ?
विटप मे थी तुम छिपी अजान,
विकल क्यो हुए अचानक प्राण,
छिपाओ अब न रहस्य कुमारि,
लगा यह किसका कोमल वाण ? इत्यादि

भावना मे एक वय सुलभ आवेग आ गया है । 'वीणा' की छोटी 'छाया' शीर्षक रचना 'पल्लव' में जिस 'रहस्यमय अभिनय की यवनिका' बन गई है वह भावनाओं का रंगस्थल मेरी उस समय की मनोदशा का द्योतक है । इसी प्रकार 'वीणा मे एक छोटा सा गीत 'शिशु की मुसकान' पर है :

"कैसा नीरव मधुर राग यह,
शिशु के कपित अधरो पर,
सजनि, खिल रहा है रह रह" इत्यादि

'पल्लव' की 'स्वप्न' शीर्षक रचना भी इसी जिज्ञासा का समाधान खोजती है

"बालक के कपित अधरों पर,
किस अतीत स्मृति का मृदु हास,
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह-रह उपहास !" इत्यादि ।

किन्तु उसमे अधिक गभीरता भाव-चित्र-सगति तथा कल्पना का विकास दृष्टिगोचर होता है। पल्लव' की रचनाओ की प्रक्रिया अधिक वैचित्र्यपूर्ण, सूक्ष्मता के साथ ही व्यापकता लिये हुए है, उसमे ऐसे अनेक बिम्ब, उपमाएँ तथा भावनाएँ मिलती है जो मेरी सृजन-वृत्ति को उस समय प्रत्यक्ष रूप मे प्रेरित तथा प्रभावित करती रही है; जैसे—

"विपिन मे पावस के से दीप,
सुकोमल सहसा सौ सौ भाव,"
सजग हो उठते नित उर बीच, इत्यादि।

यह चित्र पहाडी घाटियो मे जुगनुओं के चमकने से मन मे स्वतः ही उदय हो सका है। 'उच्छ्वास' शीर्षक रचना की 'पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश,' आदि पक्तियो मे नैनीताल की प्राकृतिक छटा का चित्र अकित है।

"उड गया अचानक लो, भूधर,
फडका अपार वारिद के पर"—यह दृश्य तो नैनीताल मे

वर्षाऋतु मे प्राय ही देखने को मिलता है। नए-नए बादलो का सुफेद मेमनो की तरह पर्वत-शिखरो पर कुदकने का दृश्य मुझे कौसानी मे अपने ही घर के सामने बराबर देखने को मिलता रहा है। पतझर मे पक्षियो के पखो की तरह बिखरे पेड के अनेक पत्तों को एक साथ हवा मे उड़ते देखकर मेरा किशोर मन हर्ष से नाचने लगता था। 'मुसकान' शीर्षक रचना मे मैंने अपने इसी अनुभव का चित्रण किया है:

"कभी उडते पत्तो के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
गुदगुदाते ये तन मन प्राण," इत्यादि।

'पल्लव', 'गुजन', 'ज्योत्स्ना'-काल तक मेरा मन प्राकृतिक सौदर्य के हिडोले मे निर्बाध स्वच्छन्द रूप से झूलता रहा है। मानव-जीवन के सुख-दुःखों के आघात पाकर धीरे-धीरे उसने प्रकृति से मानव-जगत् की ओर मुड़ना आरम्भ किया। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जैसी रचनाओं मे पतझर या प्रकृति की ओर ध्यान न जाकर मानव-जगत् मे चल रही परिवर्तन की आँधी का ही चित्र आँखों के सामने आता है। कालाकाँकर के गाँवो की पृष्ठभूमि मे ऐसी अनेक घटनाओ ने मेरे हृदय को स्पर्श किया जो मेरे साहित्य का एक अविच्छिन्न अग बन गई है। 'दो लड़के' शीर्षक युगवाणी की रचना की प्रेरणा मेरे मन मे दो छोटे-से लड़को को देखकर उदित हुई थी जो मेरी काटेज के आस-पास मँडराकर भीटे को ढाल मे पडे हुए कूडे कचरे से रंगीन डोरियाँ, चमकीली पन्नियाँ तथा अखबारों मे छपी हुई रग-बिरगी कटी-फटी तस्वीरे चुनने के लालच से प्राय. आते रहते थे। उनकी नगी गदबदी देह, सरल डरपोक स्वभाव और स्वच्छन्द हँसी ने बरबस उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया था।

"सुदर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर मे भरता अपनापन !"—आदि भावनाएँ
मन मे अपने आप ही आ गयी थी ।

'झंझा मे नीम' शीर्षक कविता मैंने आधो मे झूमते हुए अपने आगन के नीम के पेड पर लिखी थी । इसी प्रकार 'ग्राम्या' की 'वे आखे', 'वह बुड्ढा', 'कठपुतले' आदि अनेक रचनाएँ मैंने विशेष व्यक्तियो के सम्पर्क मे आकर, विशेष परिस्थितियो का आघात पाकर लिखी है । 'वह बुड्ढा' तो मेरे ही नौकर का बाबा था, जिसकी उम्र एक सौ साल से ऊपर बतलाई जाती थी .

"खडा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढा पजर,
बैठी छाती की हड्डी जब,
झुकी पीठ कमठा सी टेढी"—इत्यादि

उसी का चित्र है । गाँवो के दारिद्र्य के परिपार्श्व मे मनुष्य की दयनीय दुर्दशा देखकर मेरे विचारो मे तीव्र उथल-पुथल का होना स्वाभाविक था । किशोर-कल्पना की आँखो से देखा हुआ सौदर्य का स्वप्न तो कभी का टूट चुका था किन्तु मानव-जीवन की दु खद समस्याओ के बाहरी समाधान के सबध मे भी मन धीरे-धीरे सशंकित हो उठा । बहिर्मुखी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अभ्युत्थान के साथ ही अपनी क्षुद्र अहता तथा अल्प एव सीमित जीवन-बोध के अधकार मे आकठ डूबे हुए बौने मानव के अतर मे सुप्त चेतना को जागृत कर जब तक उसका व्यापक मानवता, सभ्यता तथा सस्कृति के स्पर्शो से परिष्कार नही किया जायगा तब तक यह भिन्न भिन्न मतो, धर्मो, जाति-पाँतियो तथा रूढियो मे विभक्त स्वार्थान्ध मानव भला बाहरी दृष्टि से भी अपना तथा दूसरो का सामाजिक अथवा ऐहिक कल्याण कैसे कर सकेगा ? राग-द्वेष, ईर्ष्या, दर्प के विष से पीडित मानव-चेतना आत्म-कल्याण तथा लोककल्याण का मूल्य ही कैसे पहचानेगी ? इन्ही गभीर प्रश्नो एव समस्याओ से मथित होकर मेरी सवेदना ने अपने उत्तर काव्य मे मानव भविष्य के स्वप्न को अकित करने का प्रयत्न किया है और भूत तथा वर्तमान के अनेक अन्तर्विरोधो के बीच जिस नवीन प्रकाश की अनुभूति को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है वह केवल मेरे बौद्धिक आवेश एव कल्पना-प्रेम का ही प्रतीक नही है, प्रत्युत मेरी गभीर अत.स्पर्शी जीवन-अनुभूतियों के कारण ही सभव हो सका है । इन अनुभूतियो की आग मे तप कर मैंने बहुत सृजन-वेदना सही है । 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा' आदि अपने अनेक काव्य-सग्रहो में मैंने मानव चेतना के नवीन विकास-सचरण की रूपरेखा उपस्थित कर मानव-मन के अतल-स्पर्शी अतर्द्वन्द्व को मनोजीवियों के सम्मुख अभिव्यक्त करने का साहस किया है। नए मानव को संबोधित करके मैंने कहा है :

"ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
सपर्कज रे तेरा पावक,
चेतना-शिखा में उठा धधक,
इसको मन नही सकेगा ढँक,
मानव भू सुलग रही धकधक । इत्यादि ।

अपने काव्य के इस नए स्फुरण-काल मे मैं मनुष्य के अतर्जगत् का पथिक रहा हूँ और जो अनेक अनूभूतियाँ मुझे इस काल मे हुई है इस छोटी-सी वार्ता मे उनके बारे मे विस्तार से कहना संभव नही है। यह मेरे लिए चरम मानसिक तथा भावनात्मक संघर्ष का युग रहा है।

'ढह रहे अधविश्वास शृग,
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्,
फिर शिखर चिरतन रहे निखर,
यह विश्व सचरण रे नूतन ! —मानव के इस चेतना मूलक

जीवन संघर्ष की ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा हृदय आज नवीन आस्था के पावक से नवीन भावना रस तथा सौंदर्य का प्रकाश सचित कर—मुट्ठी भर भर कर अपने युग को बाँटना चाहता है—

मै मुट्ठी भर भर बाँट सकूँ जीवन के स्वर्णिम पावक कण
जन मन में मैं भर सकूँ अमर सगीत तुम्हारा सुर-मादन !

मैंने कविता लिखना कैसे प्रारम्भ किया

देश भक्ति के साथ मोहिनी मत्र मातृभाषा का पाकर
प्रकृति प्रेम मधु-रस में डूबा गूँज उठा प्राणो का मधुकर !
फूलों की ढेरी मे मुझको मिला ढँका अमरो का पावक
युग पिक बनना भाया मन को, जीवन चिन्तक, जन भू भावक !
नैसर्गिक सौन्दर्य, पुष्प सा, खिला दृष्टि मे निर्निमेष दल
प्रथम छद उर लगा गूँथने,—फूलहार मधु रँग ध्वनि कोमल !
प्राणो को था स्पर्श मिल चुका कविगुरु रस मानस का मादन
मेघदूत के छद हृदय मे प्रेम मद्र भरते गुरु गर्जन ।
नव युग के सौन्दर्य बोध से भारत माता को कर भूषित
कवि रवीन्द्र के स्वर्ण पख स्वर श्रवणो मे रहते मधु गुजित !

इन थोडे से शब्दो मे मैने 'आत्मिका' शीर्षक अपनी सस्मरण प्रधान कविता मे, सूत्र रूप मे, अपने कवि जीवन के श्रीगणेश के सबध मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है । अब भी जब मै सोचता हूँ कि इस घोर राजनीति और अर्थशास्त्र के युग मे मैने अपने लिए यह अतर्मुख और बहिर्मौन सात्विक कविजीवन क्यो चुना तो मेरे भीतर बराबर एक ही उत्तर उठता है और वह यह कि जिस अनिन्द्य नैसर्गिक सौन्दर्य की क्रोड़ मे मैने भाग्यवश जन्म लिया था उसने जैसे मेरे समस्त अस्तित्व को अपने सम्मोहन से वशीभूत कर जकड लिया । अपनी जन्मभूमि का चित्रण सक्षेप मे मैने 'आत्मिका' मे इस प्रकार किया है .

आरोही हिमगिरि चरणो पर रहा ग्राम वह—मरकत मणि कण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्मसमर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरो से द्वाभाएँ बरसाती वैभव
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज दिव्य रूप का करता अनुभव !
भेद नील को मौन हिम शिखर जाने क्या कहते अतर मे
निर्निमेष नयनो से पीता नत अनत के नीरव स्वर मे !
दृग शोभा तन्मय रहते नित देख क्षीर शृगो का सागर
उर असीम बन जाता, अतः स्पर्श शुभ्र सत्ता का पाकर !
शोभा चपल हुए किशोर पग, गरिमा विनत बना गभीर मन,
रग भूमि थी प्रकृति मनोरम, पृष्ठ भूमि हिमवत् की पावन !
अनजाने सुदर निसर्ग ने किया हृदय स्पर्शो से सस्कृत,
उस पवित्र प्रातर की आभा हुई निविष्ट हृदय मे अविदित !

ऋषियो की एकाग्र भूमि मे मै किशोर रह सका न चचल,
उच्च प्रेरणाओं मे अविरत आदोलित रहता अतस्तल !

तो, नैसर्गिक सौन्दर्य की प्रेरणा ही मेरी दृष्टि मे वह मूल शक्ति थी जिसने मेरे एकात प्रिय मन को काव्य सृजन की ओर उन्मुख किया । और आज भी मेरे शब्दों के कुजों से प्राकृतिक सौन्दर्य का मर्म मुखर मर्मर कलरव ही फूट पडता है । वैसे जब मैं अल्प वयस्क किशोर था तभी से भारतीय चेतना के जागरण का आह्वान मेरे कानो में पडने लगा था । 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' जैसे मंत्रो द्वारा मातृभाषा के प्रति प्रेम के बीज मेरे मन मे छुटपन ही मे डाल दिए गए थे । मेरे बडे भाई स्वयं संस्कृत काव्य के प्रेमी थे तथा हिन्दी एव पहाडी मे कविता भी करते थे । उनके संपर्क में आकर मेरा आकर्षण कविता की ओर और भी अधिक बढने लगा था । मेरे अनेक समवयस्क भी उन दिनो अल्मोडा मे कविता किया करते थे । उनके साथ मैत्री होने पर मेरी छद गूँथने की प्रवृत्ति को और भी आत्म-बल तथा प्रोत्साहन मिला । जैसे धान के खेत मे चलते हुए कोई यो ही मनोरजन के लिए सुनहली धान की बाली तोड़ कर अँगुलियों मे नचाने लगता है उसी प्रकार अल्मोड़े के अपने छात्र-जीवन के घने साहित्यिक वातावरण मे मैंने भी जैसे अनजाने ही किसी अतर प्रवृत्ति के कारण अपने लिए कविकर्म को चुन लिया और तब से वह मुझे अपनी अँगुलियो के सकेतो पर नचाता आ रहा है । आज भी मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मै अभी नए रूप से कविता लिखना सीख रहा हूँ । मुझे तब नही मालूम था कि कविता करना शब्दो की रचना करना नही, बल्कि नए युग तथा नई मानवता की रचना करना है और उसे पुस्तकों के पन्नो पर नहीं मानव-हृदयों पर अकित करना है । मैं मन ही मन खूब जानता हूँ कि अभी मुझे कविता करना नही आया है । अपने को मै महत् सृजन-कर्म के लिए कैसे तैयार करूँ, मुझे एक मात्र यही चिन्ता रहती है । आज के महानाश के भूकप में सिहरती हुई त्रस्त धरा पर मानव-जीवन कविता के भारहीन स्वप्न-कोमल चरण धरकर संभवत नवीन सभावनाओं के क्षितिजों की ओर अग्रसर हो सके—न जाने क्यों मन ऐसा सोचता है ?

———

कवि के स्वप्नों का महत्त्व

कवि के स्वप्नो का महत्त्व ! --विषय सभवत: थोड़ा गभीर है । स्वप्न और यथार्थ मानव-जीवन-सत्य के दो पहलू है : स्वप्न यथार्थ वनता जाता है और यथार्थ स्वप्न । 'एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन',—इस अणु सहार के युग मे इस सत्य को समझना कठिन नही है । वास्तव मे स्वप्न और वास्तविकता के चरणो पर चल कर ही जीवन-सत्य विकसित होकर आगे बढ़ता है । सामान्य दिवा स्वप्नो और कवि के स्वप्नों मे भेद होता है दिवा स्वप्न अतृप्त आकांक्षाओ की उपज होते है और कवि के स्वप्न युग की आवश्यकताओं की सभावित सृष्टि अथवा समय के माँगो की पूर्ति । उनकी पृष्ठभूमि मे ऐतिहासिक सचरण होता है और उनका आधार होता है हमारे जीवन की या भू-जीवन की प्रगति का सत्य ।

कौन नही जानता कि आज धरती पर घोर अंधकार चल रहा है—विश्वव्यापी सहार का निर्मम कुत्सित रगमच तैयार हो रहा है और सभ्यता के विनाश का अभिनय अथवा रिहर्सल आए दिन भीषण अस्त्र-शस्त्रों की परीक्षाओ के रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है । साथ ही दूसरी ओर कुछ प्रबुद्ध, युग चेतन मानसजाति-पाँति, वर्गश्रेणियो से मुक्त, दैन्य-अविद्या के अभावो से सदैव के लिए सरक्षित, नवीन मानवता के निर्माण के स्वप्नो को कलाशिल्प, शब्द अथवा नवीन सामाजिक चेतना एव जीवन-रचना के द्वारा मूर्त करने के प्रयास मे सलग्न हैं । सदियो की दासता से मुक्त अपना विशाल देश आज स्वय विराट् लोकनिर्माण की कृच्छ्र साधना मे तत्पर, ऐड़ी से चोटी तक पसीना बहा रहा है ।

सूरज-चाँद सितारो के साथ खेलने वाली यह सुनहली हरी-भरी धरती,—इसकी सुन्दरता का कही अन्त है ? आकाश की हँसमुख नीलिमा को देखते जी नही अघाता। तारों की भूलभुलैया मे आँखे खो जाती है । आग, मिट्टी, पानी, हवा और आकाश ये सब कितने प्यारे, कितने विचित्र है । रग रंग के गध भरे मौन फूल—उड़ती तितलियाँ और चहकती हुई चिडियाँ—सब कितनी सुदर, कितनी मधुर है ।—इस धरती पर चलने-फिरने वाले जीवन की एक अलिखित रहस्य भरी कथा है—और उस जीवन की प्रतिनिधि स्वरूप मानव-जाति का अपना एक बृहत् अकथित इतिहास है । सभ्यताओं का विकास, संस्कृतियों का निर्माण—भाषाओ की उत्पत्ति और साहित्यो की रचना—बनैले पशुओ से भरे घने जगलो के स्थान पर विशाल जन नगरों की स्थापना—देश काल की पलको पर झूलते हुए वास्तविकता के इन स्वप्नो की अपनी एक सार्थकता है । और यह है विश्व-जीवन का एक मोहक व्यापक चित्र ।—आइए थोडे और निकट से देखिए । औद्योगिक क्रान्ति !—और उसके बाद मानव-जीवन मे, उसके रहन-सहन मे होने वाली कायापलट ।—भूत

विज्ञान का अविराम विकास : नई शक्तियो की उपलब्धि जिनके बल पर मनुष्य आज आकाश के ज्योतिर्मय ग्रहो पर अपने उपनिवेश बनाने की बात सोच रहा है। पर क्या यही मनुष्य के स्वप्नो का अन्त हो गया ? जरा और पास से देखिए . इस भाप और कोयले के भद्दे युग को ! यह वैज्ञानिक युग का पहिला ही चरण है। क्या रेल की सीटी आपके कान के परदे नही फाड़े दे रही है ? उफ, इन लोहे की पटरियों पर दौडते हुए पहियो की खड़खडाहट—धूल और धुआँ। यह क्या मनुष्य की शरीर-रचना के अनुकूल है ?—और देखिए, इन वनियो, पूँजीपतियों की सभ्यता और सस्कृति को। इनको साम्राज्यवादी तृष्णा को—उपनिवेश स्थापित करने के स्वप्नों को—बड़े-बडे राष्ट्रो की परस्पर शक्ति और वाणिज्य सबधी स्पर्धा को। एक देश द्वारा दूसरे देशो के, एक मनुष्य द्वारा अन्य मनुष्यो के निर्दय अमानुषी शोषण को। सभ्य देश आज विश्व-विध्वसक अणु उद्जन बम बनाने मे व्यस्त है। नए ब्रह्मास्त्रों को जन्म देने के हेतु व्यग्र है। जिनसे पलक मारते ही भू-खण्डो का विध्वस हो सकता है। विज्ञान के उत्पातों के अतिरिक्त भी अभी तक धर्म सम्प्रदाय सबधी घोर मतभेद, जाति-वर्ण सबधी निर्मम पूर्वग्रह दूर नही हुए है। आप और कही नही जा सकते तो अपने देश के गॉवो ही का निरीक्षण कीजिए—यह सदियों से पुजीभूत अपरिमेय दारिद्र्य, अधविश्वास और अशिक्षा। हमारे गॉवो की मानवता का रहन-सहन, उनके रहने के मिट्टी के घरौदे—अर्थहीन रूढ़ि रीतियो मे जकड़ा जन-समुदाय का अस्थिपजर जर्जर-जीवन। क्या नरक की विभीषिका की वास्तविकता इस सबसे बडी हो सकती है ?

तो, ऐसी आज की धरती पर और युग-युग से घूमती हुई इस धरती पर मनुष्य की वीभत्स वासना, तृष्णा और लोभ के अंध उद्दाम भँवर स्वरूप इस ससार-चक्र से मर्दित, रक्त स्रवित कवि हृदय से आप क्या आशा रखते है ? वह स्वप्न देखना छोड कर, आकाश में उड़ना छोड़कर, आज की वास्तविकता के कल्मष मे स्वयं भी सन जाय ? वह मनुष्य के मन पर जमे हुए कठोर कुरूप अंधकार के वज्र कपाट पर अपने प्रकाशपुज शब्दों की अविराम मुट्ठियों का प्रहार करना छोड़ कर इस घृणित चक्की के पाटो के नीचे स्वय भी पिस जाय ? यह तो मानव के हृदय पर उसकी मोहाधता की विजय होगी—आज के युग पर उसकी सर्वसंहारकारिणी पैशाचिक प्रवृत्ति की विजय होगी—यदि आप कवि के स्वप्नों को उसका जीवन से पलायन कहते है, यदि आप कवि से चाहते हैं कि वह भी आज की तयाकथित महान शक्तियों की तरह A Tooth for a tooth के या शठं प्रति शाठ्य कुर्यात् के वास्तविकतावादी सिद्धान्त को अपनाए, तब तो यह मनुष्य की तर्कबुद्धि की घोर विडंबना होगी, मानव के विवेक की घोर पराजय होगी। क्रूर पशुबल अथवा अंध आसुरी शक्ति का सिद्धान्त तो इस अणु बल के युग में अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच कर स्वयं खोखला, अर्थहीन, वीभत्स, नारकीय तथा आत्म-पराजित प्रमाणित हो चुका है। तथाकथित वास्तविकता और यथार्थ—वे

अपने ही किमाकार बोझ से दब कर आज ध्वस्त हो रहे हैं। वास्तविकता और यथार्थ को आज अपनी सीमाओ से बाहर निकल कर—अपनी मान्यताओ के डिम्ब-कवचो को तोड़ कर नए जीवन के धरातल मे प्रवेश करना है।

तो, आइए, कवि के साथ मानव-चेतना के ऊँचे शिखरों पर विचरण कीजिए : इस कलुप कर्दम भरी धरती पर नवीन मनोबल के पैरों पर चलकर आगे बढ़ना सीखिए मानव-भविष्य के प्रति दृढ आशा और आत्म-विश्वास के पंखों पर उड़ान भर, धरती के धुएँ और कुहासे से ऊपर उठकर, मुक्त व्यापक विवेक के वातावरण मे विचरण कीजिए! कब तक इतिहास के जाति-वर्ग-वादो के वैमनस्य और विद्वेष भरे विभाजनो मे बँटे रहिएगा? कब तक धर्म सम्प्रदाय वर्गो की दीवारो से घिरे रह कर ससार को कारागार बनाए रखिएगा? विगत का इतिहास विकासशील मानव-मन और जीवन की छाया है। इस छाया मन के प्रेतो को अपने पूर्वग्रहो से वास्तविकता प्रदान कर उनके सम्मुख पराजित होना छोड़िए। छोड़िए इस मिथ्या अभिमान को, थोथ ज्ञान को, देश, जाति, कुलवश के अहकार—युगों के घोर अधकार को।—क्या मानव-प्रेम और मानव-समानता से बडा कोई और धर्म है? क्या मानव-एकता से बडा कोई और ऐश्वर्य है? धरती पर आज देह, मन, प्राण के वैभव से सपन्न शिक्षित सस्कृत सौन्दर्यप्रिय मानवता एक ही आनद तथा चैतन्य सिन्धु की अगणित तरगो की तरह मुखरित अपनी जीवन-लीला का विस्तार करे—यह आपको अच्छा लगता है या राष्ट्र वर्ग, धर्म, नीति सप्रदाय—तुच्छ मतो वादो, क्षुद्र गुटों और सकीर्ण गिरोहो में बँटी, बिखरी, परस्पर के घृणा-द्वेष, दर्प-क्रोध, झूठे पाडित्य, थोथे सिद्धान्तो और दानवीय सैन्य एव शस्त्र बल का प्रदर्शन करती हुई आत्मघातक, विश्व विनाशक आज की यह कीड़े-मकोडो की तरह दैन्य-दु ख-अशिक्षा के अभावों के कीचड़ मे रेंगने वाली यथार्थ और वास्तविकता की प्रतिकृति मनुष्यता आपको पसद है? तो, कवि के रक्त के आँसुओं से धुले स्वप्नो के महत्त्व के लिए वकालत करने की आवश्यकता नहीं है। कवि की वाणी मे नि.सदेह ईश्वरीय सगीत बहता है : उसके हृदय के अजिर मे दैवी प्रकाश आँख-मिचौनी खेलता है। उसके विषाद सिक्त हृदय के सौन्दर्य मधुर स्वप्नो से जीवन-मगल तथा लोक-कल्याण की सृष्टि होती है। आइए, तर्कों, वादों के घृणित दलदल से बाहर निकल कर कवि के अग्नि पख सुनहले स्वप्नो के बीजों को मानस-भूमि मे बोकर नव मानवता की, व्यापक मनुष्यत्व की हँसमुख जीवंत फसल उपजाइए और इस मानव-अज्ञान के अधकार मे सोई हुई जड़ धरती को मानव-आत्मा के जागरण के प्रकाश के जीते-जागते जीवन-सौन्दर्य के स्वर्ग मे परिणत कर मानव-हृदय के प्रतिनिधि कवि के स्वप्नो को श्रद्धांजलि दीजिए। एवमस्तु!

नयी काव्य-चेतना का संघर्ष

नयी कविता का आरभ मेरी समझ मे छद, भाव-बोध आदि सभी दृष्टियो से छाया-वाद युग से होता है। नयी काव्य-चेतना के सघर्ष के अतर्गत मै काव्य की उन बहुमुखी प्रवृत्तियो के बारे मे आपसे कहना चाहूँगा जो आज कविता मे पाई जाती है। इस युग मे हमारे बाह्य जीवन के क्षेत्र—राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति—आदि मे जिस प्रकार स्थूल सघर्ष देखने को मिलता है उसी प्रकार भावप्रवण कवि, कृतिकार अथवा कलाकार की चेतना मे भी सूक्ष्म सघर्ष चल रहा है। यह सघर्ष मुख्यत नवनिर्माण का सघर्ष है और गौण रूप से विगत जीवन मन के अभ्यासो तथा वर्तमान परिस्थितियो तथा परपरा-गत मानव-मूल्यो को बदलने का भी संघर्ष है।

काव्य मे भी यह सघर्ष बाहर-भीतर दोनो ओर चल रहा है बाहर छद, रूप-विधान, शैली आदि के सबध मे और भीतर भाव-बोध, मूल्य, रस आदि के सबध मे। पहिले मै रूपविधान तथा सज्जा के बारे मे कहूँगा। हिदी-कविता के बाह्य रूप मे छायावाद युग से विशेष परिवर्तन आने लगा। छायावाद ने हिन्दी छन्दो की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावाद ने छद मे मात्राओ से अधिक महत्त्व स्वर के प्रसार को दिया—इस बात की ओर लोगो का कम ध्यान गया है। छायावादी कवियो को पिंगल का अच्छा ज्ञान रहा है। उन्होने कई प्रचलित छंदों को अपनाते हुए भी उनके पिटेपिटाए यति-गति मे बँधे रूप को स्वीकार न कर उनमे प्रस्तार की दृष्टि से अनेक नए प्रयोग कर दिखाए। स्वर-सगीत के उनकी कविता में अद्भुत चमत्कार मिलते है। इन कारणो से छद उनके हाथो से बिलकुल नए होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम-अधिक मात्राओं को पक्तियो का उपयोग कर उन्होने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही—जिसको आज नए सिद्ध कवि भी महत्त्व देते है। पर इससे भी अधिक छंद सृष्टि को उनकी देन रही है प्रस्तार और स्वर सगीत सबधी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय छदों के अतिरिक्त छायावाद-युग मे आलापोचित, अक्षर मात्रिक मुक्त छंन्दों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। नवीनतम कविता मे मुक्तछंदों में प्राय: अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत् तथा विशृंखल लगते है। छदों के अतिरिक्त छायावाद युग में अलकरण सबधी रूढिगत दृष्टिकोण में भी बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा, रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीति-कालीन एकस्वरता तथा द्विवेदी युगीन समरसता मे नवीन सौदर्य के लक्षण प्रकट हुए। और शब्दालकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य द्योतक उपकरण मात्र न रह कर भावों

की अभिव्यक्ति मे घल-मिल कर उसका अनिवार्य अग बन गए तथा अधिक मार्मिक एव परिपूर्ण होकर नवीन सौन्दर्य के प्रतीक बन गए।

छायावादी युग मे भाषा अर्थात् खड़ी बोली पहिली बार काव्योचित रूप ग्रहण कर सकी, और सौन्दर्यबोध—जो कि रूप-विधान और भावबोध दोनो का प्रतिनिधित्व करता है—वह तो जैसे छायावादी युग की सर्वोपरि देन है, जिसने हमारे रूढि रीतियो के ढाँचे मे बँधे हुए इतिवृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख से विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी। यह सब यो ही नही हो गया। इसके लिए उस युग के कलाकारो को एक प्रकार से अश्रात सघर्ष करना पड़ा। उस युग के कृतिमानस का सघर्ष कितना उग्र रहा, इसका अनुभव उस युग के कृतिकारो के जीवन पर दृष्टि डालने से सरलता पूर्वक लगाया जा सकता है। छायावादी काव्य-चेतना का सघर्ष मुख्यत. मध्ययुगीन निर्मम निर्जीव परिपाटियो से था जो कुरूप घिनौनी काई की तरह युगमानस के दर्पण पर छाई हुई थी और क्षुद्र जटिल नैतिकताओ एव साम्प्रदायिकताओ के रूप मे आकाशलता की तरह लिपट कर मन मे आतक जमाए हुए थी। दूसरा सघर्ष छायावादी चेतना का था उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण के युग मे उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, विद्या, अविद्या, शाश्वत, अनत क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों और प्रतीको का अर्थ समझ कर उन्हे युग जीवन का उपयोगी अग बनाना और पश्चिम के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके ऊपरी विरोधो को यथोचित रूप से सुलझाकर उनमे सामंजस्य बिठाना—ये सब अत्यत गभीर तथा आवश्यक समस्याएँ थी जिनके भूलभुलैये से बाहर निकल कर, कृतिकार को मुक्त रूप से सृजन कर, सदियों से निष्क्रिय, विषण्ण तथा जीवन विमुख लोक मानस को नवीन आशा, सौन्दर्य, जीवन-प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव-काव्य देकर उसमे नया जीवन फूँकना था। बंगाल मे यह कार्य सर्वप्रथम नि सदेह, कवीन्द्र रवीन्द्र की प्रतिभा ने किया, जिसका प्रभाव कम-अधिक मात्रा मे भारत के इतर प्रादेशिक साहित्यो पर भी पडा। कवीन्द्र के युग से आज का युग बहुत बदल गया है और आगे भी बढ गया है। आज केवल व्यापक आदर्शो के ज्ञान से ही काम नही चल सकता, आज के कवि मानस को अधिक गहरे विश्लेषणों एव सूक्ष्म विवरणो की आवश्यकता है जिन्हे वह जीवन की वास्तविकता मे परिणत कर सके। कवीन्द्र का मानसजीवी युग अब अधिक यथार्थवादी हो गया है, जिस पर आगे प्रकाश डाल सकूँगा।

छायावाद-युग मे ऊपर कहे गए मूल्यगत सघर्ष के साथ ही स्वाधीनता-संग्राम का बाह्य सघर्ष भी अविराम रूप से चल रहा था। राष्ट्रभावना से प्रेरणा पाकर अनेक कवियों ने उस युग की काव्य-चेतना को देशप्रेम की वास्तविकता प्रदान की,—सौन्दर्य और भावप्रधान काव्य मे शक्ति का भी सचार होने लगा। वह जीवन के अधिक निकट प्रतीत होने लगा। छायावाद मुख्यत प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा।

वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा। उसने व्यक्तिगत मानव-भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व को, व्यापक मनुष्यत्व को वाणी देने का प्रयत्न किया। किन्तु मानव भावनाओं तथा विरह, मिलन, प्रेम, घृणा आदि की वास्तविकताओं को भी तब कुछ कवियों ने अपनी कविताओं का विषय बनाया। उनके वैयक्तिक संघर्ष ने युग की काव्य-चेतना को वैचित्र्य प्रदान किया है।

राष्ट्रभावना के काव्य को आगे बढ़ाकर उस युग में प्रगतिवाद के नाम से एक और काव्य-चेतना का हिन्दी में विकास हुआ जो मुख्यतः सर्वहारा वर्ग के जीवन से संबंध रखने वाली कविता थी, जिसमें मध्यवर्ग के भावुक, युग चेतन कवियों ने शोषक-शोषित वर्ग के जीवन को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। इस प्रवृत्ति ने छंद विधान में कोई विशेष नए प्रयोग नहीं किए। छायावादी मुक्तछंद को ही प्रायः अपना लिया। परिमाण जनित संचरण की दृष्टि से जहाँ प्रगतिवाद व्यक्ति के हृदय-कमंडुल से बाहर निकल कर सामाजिक धरातल पर प्रवाहित होने लगा और लोक-जीवन के सुख-दुःख को सम्मुख रखकर दलितवर्ग के प्रति ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न करने लगा वहाँ गुणात्मक दृष्टि से उसमें काव्य-चेतना के ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे। सौन्दर्यबोध, रस, माधुर्य, भाव-गाम्भीर्य, मर्मस्पर्शिता आदि सभी दृष्टियों से प्रगतिवादी काव्य धीरे-धीरे अधिकतर, दलगत राजनीतिक प्रचार की ओर अग्रसर होकर अपनी काव्यगत विशेषताओं की रक्षा नहीं कर सका। फिर भी इसमें यत्किंचित् मात्रा में अच्छी कविता भी मिलती है।

छायावादी काव्य की विशेषता एक प्रकार से अर्थ और शब्द, भावबोध और रूप-विधान के सौन्दर्य सामंजस्य में रही। विशिष्ट भावबोध के साथ उसने सुन्दर रूपयोजना भी दी। प्रगतिवादी काव्य ने रूप-सौन्दर्य की उपेक्षा कर मात्र भाव तथा विचार-पक्ष को महत्त्व देना ठीक समझा। उसका भाव-पक्ष रस या काव्य-सौन्दर्य का प्रेरक न रह कर मात्र जीवनोपयोगी विचार-उपकरण बन कर रह गया। प्रगतिवाद के विकास को कुंठित करने में मुख्यतः उसके आलोचकों का हाथ रहा। जिन्हें काव्य के सूक्ष्मतत्वों का ज्ञान स्वल्प और राजनीतिक प्रचार की महत्त्वाकांक्षा अधिक रही।

हिन्दी काव्य में आज जो प्रयोगवाद एवं नयी कविता का युग कहलाने लगा है वह कुछ तो प्रगतिवादी काव्य की रूक्षता या शुष्कता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप और कुछ नई काव्य धारा के रूप में भी 'कला के लिए कला' वाले सौन्दर्यवादी सिद्धान्त को, ज्ञात-अज्ञात रूप से अपनाने लगा है। इस समय उसका सर्वाधिक आग्रह रूपविधान तथा शैली के लिए प्रतीत होता है। भाव-पक्ष को वह वैयक्तिक निधि मानता है। उसकी सार्वजनिक, उपयोगिता, उदात्तता एवं गांभीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से नयी कविता अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अमूर्त है। वह अंधकार में कुछ टटोल भर रही है। पर इस टटोलने में उसका

उद्देश्य किसी प्रकार के सत्य की खोज नही। सत्य मे उसकी आस्था नही—प्रतिदिन के, क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही में है। वह टटोलने के ही भावुक तथा सुख दु.ख भरे प्रयत्न को अधिक महत्त्व देती है। उसी मे उसके मानस में रस-सचार होता है, यह उसकी किशोर प्रवृत्ति है। भाव या वस्तु सत्य, जिसका मानव-जीवन-कल्याण के लिए उपयोग हो सके, उसे नही रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओ के भीतर समा भी नही सकता—यह तो साधारणीकरण की ओर बढना होगा। उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीको, बिम्बों, विधाओं और शैलियो को जन्म दे रही है। वह अतिवैयक्तिक रुचियों को तथ्यमुक्त तथा आत्म-मुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय सस्कृति तथा विश्व-मानवता एव नव मानवता का प्रश्न है उसकी ओर उसका रुझान नही। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थों में अति वैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजी-करण के विद्रोह मे आत्मरक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सचेष्ट मानवता है।

छदों की दृष्टि से नयी कविता ने कोई महत्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नही किए। अधिकतर छदो का अचल छोड कर तथा शब्दलय को न सँभाल सकने के कारण अर्थलय अथवा भावलय को खोज मे—जो छायावादी कविता मे शब्दलय के अतिरिक्त अपनी स्वतत्र सत्ता रखती रही है—वह लयहीन, स्वरसगतिहीन और प्राय गद्यबद्ध पक्तियो को काव्य के लिबास में उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति करने मे असमर्थप्रतीत होती हैं। रूप और भाव-पक्ष को अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्सबधी दुर्बलता को छिपाने के कारण वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर कृतिकार कुछ अशो तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

नयी कविता या प्रयोगवादी काव्य का सचरण बहुमुखी, बहुरूपिया संचरण है शाब्दिक-भाविक सगति के अभाव मे काव्य-चेतना विभिन्न धाराओ में विकीर्ण हो गई है। इसका कारण सभवत. एक यह भी हो कि सप्रति राजनीतिक तथा सास्कृतिक दृष्टि मे विश्व-चेतना में 'धीरे चलो' का युग आ गया है, जो प्रचलित शब्दो में शीत युद्ध का युग कहा जाता है। विश्व-शक्तियो के विभाजन को जैसी स्थिति इस समय है उससे सह-अस्तित्व, पचशील आदि जैसे सात्विक सिद्धान्तो के भीतर से ही प्रगति संभव है। ऐसे सयम के युग में मानसिक सतुलन बनाए रखने के लिए या तो अनुभूति जन्य गाभीर्य को आवश्यकता होती है या धीरे धीरे बढने से जिस ऊब, खोझ, कुठा तथा अनास्था का अनुभव होता है वह भाव-प्रवण हृदयो मे अवश्य ही अभिव्यक्ति पाएगी। वैयक्तिक-सामहिक विचारधाराओ एव जीवन-परिस्थितियो को विषमताओं के कारण भी आज जो स्थिति उत्पन्न हो गई है उससे भी क्षणिकवाद, सशतिवाद, अस्तित्ववाद जैसी अनेक प्रकार की अनास्थापूर्ण भावनाओ तथा विचारधाराओ का प्रभाव नयी काव्य-चेतना में पडा है जो मुख्यत यूरोप के कुंठाग्रस्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो की देन है।

इसमे सदेह नही कि ऐसी स्थिति सदैव नही रहेगी और नयी काव्य-चेतना यथासमय अधिक परिपक्व तथा विकसित रूप ग्रहण कर सामने आएगी । आज की नयी कविता, अपनी वर्तमान स्थिति मे भी, मध्ययुगीन नैतिक पूर्वग्रहो से मुक्त तथा वर्तमान युग-सघर्ष के प्रति जागरूक है । वह भविष्य मे नव मानवतावाद की सशक्त, अत स्पर्शी काव्य-गुण-सम्पन्न माध्यम बन सकेगी इसमे मुझे सन्देह नही । आज भी अनेक तरुण प्रतिभा-शाली नए कवि हिन्दी काव्य-चेतना के समस्त विकास से अवगत, उसकी भावी गति-विधियो के प्रति जाग्रत्—अत्यन्त सफल कृतिकार है, जिनके स्वस्थ-सबल कधो पर भावी कविता की पालकी को आगे बढता देखकर मन मे प्रसन्नता होती है ।

जो न लिख सका

साहित्य-सृजन कृच्छकर्म है यह मुझे तब नही ज्ञात थाजब मैने किशोर उत्साह मे प्रेरित होकर पहिले पहल कलम उठाई थी। छद की झकार हृदय मे एक अज्ञात गुदगुदी पैदा करती थी और कवि बनने के लिए न जाने कहाँ मे एक बिलकुल ही अपरिचित और रहस्यमयी आकाक्षा ने मन मे घर कर जीवन को विवश बना दिया था। न जाने क्या लिखने के लिए, साय-प्रात कितने छद रच कर, कितने पन्ने रँग डाले और अब तो पोथियाँ भी निकल गयी है पर अब भी न जाने भीतर ही भीतर कैसी कुलबुलाहट मची रहती है और न जाने क्या लिखने को जी बेचैन रहता है। मन बिना दाम का गुलाम बन गया है।

कहते है भगवान् ने तप के बल पर सृष्टि की रचना की। अब आप तपोबल को चाहे सकल्प-शक्ति कहे, चाहे साधना या तपस्या का फल। पर केवल सकल्प या तपस्या के बल-मात्र से इस आश्चर्यजनक जगत्-प्रपच की रचना करना असभव नही तो अत्यन्त दुरूह कर्म तो है ही। और मुझ जैसे साधारण मनुष्य के लिए तो और भी दुरूह, कृच्छ तथा क्लिष्ट है। इसीलिए मै अब सोचता हूँ कि सृजन-कर्म अत्यन्त कठिन है और इस युग मे सभवत. वह और भी जटिल हो गया है।

मेरे चारो ओर शब्दो के ढेर लगे है। निरर्थक शब्दो के बडे-बडे अबार ओर पहाड, जिनकी चक्करदार भूलभूलैया मे पडकर मन खो जाता है। आप भूचाल की तरह, किसी अज्ञात प्रेरणा के आवेश मे, उनके भीतर घुस जाइए, उन्हे उलटिए, पलटिए टटोलिए,, परखिए, उन्हे सूँघिए, चखिए, शोधिए, सँवारिए, सुधारिए—किन्तु उनमे कुछ ऐसा मिलता रहे जो आपके मनोनुकूल हो, जो इस विराट् युग के योग्य हो, जो नवीन मूल्यो तथा नवीन सौन्दर्यबोध की दृष्टि से खरा उतरे, यह सदैव ही सभव नही। बस चेतना के बाहरी छिलको की तरह कोरे शब्दो के ढेर है, जिनकी सार्थकता खो गयी है—बालू के अनगिनत कण, जिनकी धारा सूख गई है।

मै केवल अभिधान या कोश मे सगृहीत शब्दो की बात नही कह रहा हूँ, मै उस रहन-सहन, आचार-विचार तथा क्रिया-कलाप की बात कर रहा हूँ जो आज चारो ओर मानव-समाज मे बरता जा रहा है। कितने चलन है, कितनी प्रथाएँ और रूढि रीतियाँ। कितने अंधविश्वास है, कितने नैतिक दृष्टिकोण, कितने मत मतान्तर—कितने तथ्य, कितने सत्य, कितने अनुभव, ओह, कितने यथार्थ और कितनी वास्तविकताएँ है जो आज चारो ओर कोहराम मचाए हुई है। उनका ध्यान कर, उनका अनुमान भर कर और उनका परिचय ही पाकर मन जैसे अवाक् रह जाता है, विस्मय विमूढ हो उठता है। अनेक खँडहर, विगत युगो के महान् प्रासादो के नष्ट-भ्रष्ट खँडहर, जैसे ढेर होकर, मन की आँखो के सामने

बिखरे पड़े हैं। मानव-मन के भीतर सुप्त, विकासशील जीवनीशक्ति के नवीन जागरण के भयानक आघात से विगत सभ्यताओं तथा संस्कृतियों की जीवन-प्रणालियाँ आज ध्वंस-भ्रंश, तथा चूर्ण चूर्ण हो कर, ईंटों के ढेरों के रूप में, शब्दों के अंगारों के रूप में, अर्थशून्य, किमाकार, चारों ओर त्रस्त व्यस्त अवस्था में फैली हुई पड़ी है। केवल पिछले युगों के जीवन-शून्य अभ्यास आज मानव-चेतना को संचालित कर रहे हैं। वह ऊँची-नीची चोटियों और खाइयों की ओर अपने डगमग पग बढ़ाती हुई उठती-गिरती, लड़ती-भिड़ती, कराहती, आगे बढ़ने के भ्रम में वहीं की वहीं अगति के वृत्त में चक्कर काट रही है।

दर्शन और विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र मानव-जीवन की प्रणालियों का वैयक्तिक अथवा सामाजिक दृष्टि से, जैसा भी विश्लेषण करते आए हों, पर साहित्य, और विशेषत: काव्य-साहित्य, तो इनके जीवत, अंतरतम तथा संश्लेषणात्मक रूप के ही दर्शन कराता रहा है। अपनी इसी भीतरी खोज में मैंने भी, रसबोध से प्रेरित हो, अपनी क्षमतानुसार मानव-जीवन की गहन अनुभूतियों के इस विशाल प्रासाद में विचरण कर तथा उनसे रुचि अनुरूप सामग्री चयन कर युग साहित्य के चित्रपट को सँवारने का प्रयत्न किया है। और इधर-उधर उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करने की भी चेष्टा की है। काव्य के रूप विधान में एक विशिष्ट सीमा तक संतुलन प्राप्त कर लेने के बाद मेरे सम्मुख सदैव में ही मानवीय मूल्यों का प्रश्न प्रमुख होकर आता रहा है। और जैसा कि मैंने 'गुंजन' में कहा है मुझे मानव-जीवन की अपूर्णताओं के प्रति असंतोष रहा है।

'लगता अपूर्ण मानव जीवन
मैं इच्छा में उन्मन उन्मन'

पर इसके साथ ही, 'क्या मेरी आत्मा का चिर धन?'—अर्थात् मानव-आत्मा के चिरधन की खोज मुझे सदैव व्याकुल करती रही है। 'गुंजन' में मैं केवल नैतिक समाधान उपस्थित कर सका हूँ। क्योंकि तब मेरे सम्मुख प्रश्न था अपनी यौवनोन्मुख प्रवृत्तियों को संयम के सौन्दर्य में बाँधने का, और उनके सामने एक आदर्श रखने का, जिससे वे जग-जीवन के निर्माण में सहायक होकर जीवन-मधु संचय कर सकें।

'वन वन उपवन,

छाया उन्मन उन्मन गुंजन,

नव वय के अलियों का गुंजन'—में गंध अंध नव वय के अलि मेरी यौवनोन्मुख मानस प्रवृत्तियों के ही प्रतीक हैं। गुंजन-काल में मैं मानव-जीवन के अंतर्विधान का यथेष्ट विश्लेषण नहीं कर सका था, मुझे एक अज्ञात आनंद भावना चलाती रही थी, जो फिर-फिर बाहरी प्रभावों में दब-दब जाती थी और अनेक प्रकार की सुख-दुःख मिश्रित

अनुभूतियो से मेरे मानस-पटल को घेर लेती थी। 'गुजन' मे मैंने जैसे गा-गाकर अपनी भावना को सुख-दु.ख की परिणतियो मे सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

इसके बाद ही ग्राम-जीवन के दु ख-दारिद्र्य का मेरे भावुक मन पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि मेरी सौन्दर्य-चेतना अथवा आनन्द-चेतना दीर्घ काल तक उससे आक्रान्त रही। अपने ग्राम-जीवन की अनुभूतियो का चित्र मैंने 'ग्राम्या' नामक काव्य-सकलन मे उपस्थित किया है तथा 'युगवाणी' मे उसके अनुरूप दर्शन का रेखा-चित्र खीचने का प्रयत्न किया है। मेरे भीतर यह प्रवृत्ति छुटपन से ही रही है कि केवल भावनाओ या हृदय के सस्कारो ही से मैंने अपने मन को नही चलने दिया है। अपनी बुद्धि का उपयोग करना भी मैंने सीखा है। अत. अपने ग्राम-प्रवास के काल मे मैंने जहाँ एक ओर गाधीवाद का अध्ययन किया है वहाँ मार्क्स दर्शन के ज्ञान से वचित रहना भी ठीक नही समझा है। और दोनो की मान्यताओ को मैंने अपनी भावना मे घुलने-मिलने दिया है और लोक-जीवन के दैन्य दुःख को दूर करने के लिए उनका उपयोग करने को कहा है। मैंने सदैव विचारों, दर्शनों, विज्ञानो तथा मान्यताओ के समन्वय करने की पुकार लगाई है। मानव जीवन इतना व्यापक, गहन, जटिल तथा वैचित्र्यपूर्ण है कि यदि हम उसे किसी कृत्रिम यात्रिक ढाँचे मे न ढालकर उसके बहुमुखी सौन्दर्य की रक्षा करते हुए उसके विकास मे सहायक होना चाहे तो हमे दर्शन-विशेष, विज्ञान-विशेष या पद्धति-विशेष का आग्रह और मोह छोड़ देना होगा, और सभी विचार-धाराओ से परिस्थितियों के अनुरूप उपयोगी तत्वो को ग्रहण कर उनका लोक-जीवन मे उपयोग करना होगा। यदि देश-विशेष के लिए कोई एक दर्शन या जीवन-प्रणाली अधिक उपयोगी प्रमाणित हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु मानव-जीवन का दर्शन फिर भी सदैव उससे अधिक विशाल तथा बहुमुखी ही रहेगा। इस प्रकार के अनेकान्तवाद को मैंने मानव-एकता की मौलिक आत्मा के अधीन रखकर समय-समय पर अनेक रूपो मे उसे अपनी रचनाओ मे अभिव्यक्ति दी है।

मेरे कतिपय आलोचक युग-विद्वेष की भावना से परास्त होकर मुझे जिस तिस दर्शन का पक्षपाती बतलाकर मेरी भर्त्सना करते रहे हैं। पर भविष्य मे वे अपनी उग्र विवेचनाओ को मेरी आने वाली कृतियो के प्रकाश मे दुहराकर भ्राति मुक्त हो सकेंगे। मेरी समस्त रचनाएँ केवल मेरे विकास की पद-चिह्न भर है उनमे मेरी कवि-दृष्टि का वैचित्र्य भले ही मिलता हो पर मेरे काव्य-व्यक्तित्व को समग्रता उनमे खोजना, उन रचनाओ के साथ ही, मेरे विकास प्रिय व्यक्तित्व के प्रति भी अन्याय करना है।

मै जो नही लिख सका उसके लिए अभी तैयारी भर कर रहा हूँ। तैयारी करने के मेरे अधिकार को तो कोई नही छीन सकता? मै अपनी दुर्बलता तथा त्रुटियो से परिचित हूँ, साथ ही परिचित हूँ अपने युग की कमियो, कुठाओ, क्लातियो तथा भ्रातियो से। आज के युग की इस दैन्य-दु ख तथा अभावो की क्राति को एक व्यापक आनद-मगल तथा

सौन्दर्य की भावात्मक क्राति मे पल्लवित-पुष्पित होना है। आज के बोध-शून्य कोलाहल को प्रबुद्ध शाति मे परिणत होना है। आज के युग की कुरूपता के कर्दम से अवश्य ही विश्व-जीवन के सौन्दर्य का पूर्ण सतुलित पद्म प्रस्फुटित होगा, अपने इस सबोध के, इस आशा और विश्वास के छुटपुट गीत मैंने अपने नवीन चेतना-काव्य मे गाए हैं और सभव हुआ तो अभी जो नही लिख सका आगे चलकर अपनी नवीन काव्यकृतियों मे उस चिर अपेक्षित लोक-जीवन एव मानव-जीवन का आख्यान भी गा सकूँगा जो इस महान् युग के भीषण गर्दोगुबार के भीतर निश्चित, नि सग तथा प्रशात भाव से जन्म ले रहा है।

'आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मै
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन सगीत अतद्रित,
मन के श्रवणो मे जो गूँजा करता अविरत!
इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग मे,
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतम अमर शक्तियाँ,
मानव के अन्तरतम मे ....
इसीलिए मै शाति क्राति सहार सृजन को,
आशा कुठा को, युग के सुन्दर कुरूप को,
बाँहो मे हूँ आज समेटे,
युग विवर्त्त के क्रदन किलकारो मे ध्यानावस्थित रहकर।

मेरी कविता का परिचय

मै प्रकृति की गोद मे पला हूँ । मेरी जन्मभूमि कौसानी कूर्माचल की पहाड़ियों का सौन्दर्यस्थल है, जिसकी तुलना महात्मा गाधी ने स्विर्जरलेड से की है, यह स्वाभाविक था कि मुझे कविता लिखने की प्रेरणा सबसे पहले प्रकृति से मिलती । मेरी प्रारम्भिक कविताएँ प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन से प्रभावित है, जिनमें मुख्यत. वीणा और पल्लव की रचनाएँ है । प्रकृति अनेक मनोरम रूपो मे मेरे किशोर काव्यपट मे प्रकट हुई है और उससे मुझे सदैव लिखने की प्रेरणा मिली है । मै छुटपन से ही अन्यत भाव प्रवग तथा गंभीर प्रकृति का रहा हूँ । मै अपने साथियो के साथ बहुत कम खेला हूँ, मैने अपना अधिकाश समय एकात मे अपने ही साथ बिताया है । पुस्तको का अध्ययन तथा उनपर मनन-चिन्तन करना मुझे सदैव ही प्रिय रहा है, जिसका प्रभाव मेरे लिखने पर भी यथेष्ट पडा है। परिणामत: 'पल्लव' के अतर्गत 'परिवर्तन' जैसी गभीर कविता भी मै चौबीस वर्ष की आयु मे ही लिख सका हूँ । इसमे सदेह नही कि प्रत्येक देश का कवि, चिन्तक या कलाकार अपने देश की बाहर-भीतर की परिस्थितियों से ज्ञात-अज्ञात रूप से प्रभावित होता है । हमारा देश सदियों से पराधीन रहा है जिसके कारण हमारे जीवन तथा मन में एक प्रकार का गहरा विषाद घिरा रहा है । इस गहरे विषाद को मेरे समकालीन सभी कवियो ने वाणी दी है । 'गुजन' की रचनाओ तक मेरे मन मे भी अपने देश की परिस्थितियों का दबाव रहा है । मेरें प्रणयन-काल मे राष्ट्रीय जागरण की भावना वृद्धि पाने लगी थी और गाधी जी के नेतृत्व मे स्वतत्रता का युद्ध भी बल पकडने लगा था । हमारा स्वतत्रता का युद्ध हमारे देश की सास्कृतिक परपरा के अनुरूप ही था, उसने अहिसात्मक रूप ग्रहण किया । इस प्रकार हमारे देश का राजनीतिक जागरण साथ ही साथ सास्कृतिक जागरण भी रहा है ।

अपने देश के राजनीतिक-सास्कृतिक जागरण से प्रभावित होकर मैने अनेक रचनाएँ की, जिनमे 'ज्योत्स्ना' नामक मेरा भाव रूपक मुख्य है । "ज्योत्स्ना" मे मैने नए सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन का चित्रण किया है और मानव-जीवन तथा विश्व-जीवन को छोटे-मोटे देश-जातिगत विरोधो से ऊपर एक व्यापक धरातल पर सँवारने का प्रयत्न किया है । ज्योत्स्ना सन् १९३१ की रचना है, उसके बाद अपने देश के स्वातत्र्य युद्ध के जागरण तथा मार्क्सवाद के अध्ययन के फलस्वरूप मैने 'युगात', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे सकलित अनेक कविताऍ लिखी जिनमे मैने एक ओर अपने देश की मध्ययुगीन परपराओं के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन किया । मध्य युगो से हमारे देश मे जीवन के प्रति जो एक निषेधात्मक

वैराग्य तथा नैराश्य की भावना फैल गई है उसका मैंने अपने इस युग की रचनाओ मे घोर खडन किया है। इस काल की रचनाओ मे मैंने जीवन के बाह्य यथार्थ को वाणी दी है, वह वाह्य यथार्थ जिसका सबध मुख्यत मनुष्य के भौतिक-सामाजिक जीवन से है। इस युग मे मेरी सामती यथार्थ की भावना अधिक विस्तृत तथा विकसित हुई है।

"ग्राम्या" सन् १९४० की रचना है। सन् ४० से ४७ तक द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियों के कारण मेरे मन का एक नया आयाम विकसित हुआ। मुझे प्रतीत होने लगा कि स्थायी विश्वशाति तथा लोक-मगल के लिए केवल बाह्य जीवन के यथार्थ की धारणा को बदलना ही पर्याप्त नही होगा उसके लिए मानवता को विस्तृत सामाजिक-आर्थिक धरातल के साथ ही एक व्यापक उच्च सास्कृतिक धरातल के विकास की भी आवश्यकता पडेगी। जिसके लिए हमे वाहरी मूल्यो को व्यापक बनाने के साथ ही भीतरी मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा, वे भीतरी मूल्य जिनके मूल मनुष्य के जाति, धर्म, राष्ट्र गत नैतिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य विषयक सस्कारो तथा रुचियो मे है। 'स्वर्ण किरण' के बाद की मेरी समस्त रचनाओ मे मानव-जीवन के प्रति इसी व्यापक तथा सर्वांगीण दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली है। और जैसा कि मैंने चिदबरा की भूमिका मे भी लिखा है मेरा उत्तर काव्य प्रथमत इस युग के महान् सघर्ष का काव्य है। 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युगमानव एव नव मानव के अतरतम सघर्ष का काव्य है। दूसरे शब्दो मे, मेरा काव्य भू-जीवन, लोक-मगल तथा मानव-मूल्यो का काव्य है, जिसमे मनुष्यत्व और जनगण दो भिन्न तत्व नही, एक-दूसरे के गुण-राशि-वाचक पर्याय है।

हमारा युग ऐतिहासिक दृष्टि से एक महान् सक्राति का युग है। इस युग में विज्ञान ने मानव के जीवन सबधी दर्शन तथा दृष्टिकोण मे घोर उथल-पुथल पैदा कर दी है। भौतिक विज्ञान ने जीवन की समदिक् (हॉरिजॉन्टल) भौतिक परिस्थितियो को अत्यत सक्रिय बना दिया है। इस बाह्य सक्रियता के अनुपात मे मनुष्य की भीतरी मानसिक-परिस्थितियाँ, उसके विश्वास, आस्थाएँ तथा सस्कार नवयुग के अनुरूप विकसित नही हो सके हैं। प्राचीन जीवन-प्रणाली के आभ्यासो से उसका मन मुक्त नही हो सका है। साथ ही विज्ञान उसके ऊर्ध्व (वर्टिकल) मान्यताओ संबधी दृष्टिकोण को, जो पहले धर्म तथा अध्यात्म का क्षेत्र रहा है—विकसित या उर्वर बनाने मे सहायक नही हो सका है। इसलिए आज विचारको एव मानव-जीवन के उन्नायको के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी हैं। विश्व की राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियो मे भी इस युग मे अभी सतुलन स्थापित नहीं हो सका, तत्सबधी विषमताएँ तथा विरोध ही दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसी शीतयुद्ध की परिस्थिति मे आज जो पचशील तथा सह-अस्तित्व के सिद्धांत तथा आदर्श हमारे सामने उदय हो रहे हैं वे भी इतने सशक्त तथा प्रेरणाप्रद नही प्रतीत होते कि युगजीवन को आज के सक्रान्तिकालीन संकट से उबार कर मनुष्यत्व की प्रगति को

आगे बढाना सपन्न हो सके । ऐसे घोर वैषम्य के युग मे मानव-जीवन के रथ को भू-पथ पर अक्षत रख सकने के लिए मैंने अपनी 'अतिमा' तथा 'वाणी' की रचनाओ मे कुछ समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया है जो मेरे कवि मन के अंत स्फुरण है । यदि वे लोक मगल तथा मानव-प्रेम की भावना की अभिवृद्धि करने मे सहायक हो सके तो मै अपने कवि कर्म को सफल समझूंगा । आज के कवि तथा कलाकार का मै यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह विश्व-मानवता के पथ को युगजीवन के वैषम्यो तथा विरोधो से मुक्त कर, इस पृथ्वी के देशो को एक-दूसरे के निकट लाकर, उन्हे चिरस्थायी मानव-प्रेम, जीवन-सौन्दर्य तथा लोक कल्याण की ओर अग्रसर कर सके । स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, अतिमा सौवर्ण तथा वाणी की रचनाओं के मैंने अपनी क्षमता के अनुरूप अपनी कविता के चरण इसी दिशा की ओर बढाने का प्रयत्न किया है ।

———

मेरी दृष्टि में नयी कविता

नयी कविता के सबध मे इधर कुछ वर्षो से पुस्तको, और विशेषकर मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे, जो लेख तथा निबध प्रकाशित हो रहे है उनसे इस नवीन साहित्य स्रोतस्विनी के मर्म-मधुर, मुखर सौदर्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। यह ठीक है कि ये निबध या तो मुख्यत. नयी कविता के व्याख्याताओं तथा पक्षपातियो की ओर से लिखे गए है जिनमे प्रायः ही नयी काव्य-प्रवृत्तियों के बारे मे अतिरजनाओ तथा अतिशयोक्तियो का बाहुल्य मिलता है या ये आलोचनात्मक लेख विपक्षियो की लेखनी से नि सृत हुए है, जिनमे नयी कविता के सबध मे पूर्वग्रहजनित आक्षेप ही अधिकतर पाए जाते है। इस प्रकार के दृष्टिकोण एकागी होने के कारण इस नवीन साहित्य-धारा को समझने के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नही हो सकते, क्योकि सत्साहित्य को न पूर्वग्रहपीडित आलोचनाएँ ही मार सकती है और न अतिरजनाएँ ही असत् साहित्य को दीर्घ जीवन प्रदान कर सकती है। किसी भी साहित्य धारा का उपयोगी अध्ययन तभी सभव हो सकता है जब हम उस पर निष्पक्ष सतुलित एव सहानुभूतिपूर्वक विचार करे।

जैसा कि मैने अन्यत्र भी लिखा है आज के युग जीवन और अतश्चेतना को वाणी देने के लिए छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, जो अब नयी कविता का रूप ग्रहण कर रहा है, तीनो ही एक-दूसरे के पूरक के रूप मे पाए जाते है। उनमे छायावाद आदर्श-मूलक है जो युग जीवन के आदर्श की दिशा की ओर इगित करता रहा है, प्रगतिवाद सामूहिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता आया है और हमारे सामाजिक सघर्ष की बहिर्मुखी वास्तविकता को वाणी देता रहा है और प्रयोगवाद एव नयी कविता हमारे व्यक्तिगत जीवन के अतर्यथार्थ की गहराइयो पर प्रकाश डालती आई है। काव्य की यह नयी धारा मानव अंतर के माधुर्य, सौन्दर्य, विषाद, करुणा, भय, सशय, अनास्था, विवेक, चिन्तना तथा कभी प्रज्ञा को भी काव्य के धूपछाँह पट मे गूंथने का प्रयत्न करती आ रही है। यह नयी धारा हिन्दी ही मे नहीं विदेशी भाषा साहित्यो मे भी अपना विशिष्ट गुण तथा व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुई है और इन सभी भाषाओ की कविताओ मे अनेक प्रकार की समान गुणधर्मा प्रवृत्तियो का आकलन प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है।

नयी कविता में अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती है। प्रथमत. यह सामयिक यथार्थ की भावना को अभिव्यक्त करती आई है। इस युग की अनेक छोटी-मोटी दैन-दिन की समस्याओ से नए कवि का भावप्रवण सवेदनशील मन उलझा रहता है, वह उनके सूक्ष्म आघातो की सवेदनाओ को, शीत ताप मापक यंत्र की तरह, भाव सौदर्य के विविध

धरातलो पर अकित करता रहता है । नया कवि जहाँ युग सक्रान्ति के वैषम्य तथा वैचित्र्य को चित्रित करने का प्रयत्न करता है, वहाँ उसके भीतर निहित मूल्यो को ओर भी दृष्टिपात करना नही भूलता । यद्यपि उसकी अनुभूति मे अभी अधिक गहराई के दर्शन नही होते, पर उसकी अभिव्यक्ति की नवीनता, उसका सँवार-सजाव तथा उसका चमत्कार बरबस पाठको का ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहता । अधिकाश कवि तो अभिव्यक्ति को माँजने और उसके लिए नये नये अलकार तथा बिम्ब खोजने ही मे खो जाते हैं उनके रूप-विधान की भूलभुलैया मे से जीवित भावना या आत्मा को ढूँढ निकालना कठिन हो जाता है या सभवत उनकी कविता केवल एक साज, एक बनाव अथवा एक कोरा अलकरण ही हो कर रह जाती है, उसके भीतर भावना या अनुभूति की उपलब्धि कुछ भी नही होती । ऐसे कवियो की सख्या नये कवियो मे, मेरी दृष्टि में, हिन्दी मे अधिक पाई जाती है । किन्तु ऐसे नये कवि भी नि संदेह, सौभाग्यवश, वर्तमान है जिनकी रचनाएँ हृदय को गभीरतापूर्वक स्पर्श करती है और जो वर्तमान युग के सघर्ष-सशय के वातावरण मे निर्माण की नयी दिशाओं का सबोध रखते हैं और अपने प्रति मुख्यत , और विश्व जीवन के प्रति गौणतः, आस्थावान भी है । यह ठोस आस्था कभी कभी उनमे अहम् का खोखला रूप भी धारण कर लेती है और यह अहम् भावना जहाँ बाहर के कलुष सशय और निराशा से लड़ते-लड़ते प्राय· अत्यन्त निर्मम-क्रूर तथा कठोर रूप मे अभिव्यक्त होती है, वहाँ कभी-कभी उसका बड़ा सुन्दर, संस्कृत, सुरुचिपूर्ण, मधुर स्वरूप भी देखने को मिलता है जो स्वय काव्य का एक उपादान बन कर मन को मुग्ध करने की क्षमता रखता है ।

प्रतिष्ठित मान्यताओ, प्रचलित काव्य-पद्धतियो, उपमा-अलंकरणों तथा शब्दो के प्रति उपेक्षा तथा विरक्ति और विद्रोह की भावना भी नयी कविता की एक विशेषता है । नया कवि अपने युग जीवन के यथार्थ तथा व्यक्तिगत परिस्थितियो से ऐसा चिपका हुआ है कि परम्परा तथा प्रतिष्ठित मूल्यो के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुए भी वह उनके जोड की नयी मान्यताओ को जन्म देने मे अभी समर्थ नहीं हो सका है । किन्तु इस विद्रोह से वह जिस नवीन विशेषीकरण को ओर अग्रसर हो रहा है, संभव है, वह आगे चलकर उसकी उपलब्धियो को नवीन महत्वपूर्ण ऊँचाइयों की ओर ले जा सके । वास्तव मे युग के विघटन का बोझ आज के कृतिकार की चेतना पर इतना अधिक है कि उससे ईमानदारी से सघर्ष करने और अपने अतर के विद्रोह को सफल सबल वाणी देने मे उसको सृजन प्रक्रिया अधिकतर परास्त हो जाती है । अपने अतर की आस्था विश्वास के बल पर वह, आज के आँधी-तूफान और गर्द-गुबार के भीतर से उभरते हुए, जिन नए शिखरो को देखने और ग्रहण करने का प्रयत्न करता है वे फिर फिर उसको मनोदृष्टि से ओझल हो जाते है और उनके स्थान पर वह घृणा, उपेक्षा और विषाद के भुजगो के सिर पर खडे आत्मविश्वास की ही दुहाई देकर रह जाता है । प्रचलित

प्रणालियों को छोड़ने के फलस्वरूप वह काव्य-जगत को नयी शैलियाँ, विधाएँ, बिम्ब तथा साज-सँवार के साधन प्रचुर मात्रा में प्रदान कर रहा है। इनमें चयन की आवश्यकता अवश्य ही पड़ेगी क्योंकि अधिकांश बिम्ब तथा उपमा-अलकरण खडित, अपूर्ण तथा अपर्याप्त ही रह जाते है।

नये कवि का सबसे बडा गुण यह है कि वह निरन्तर सजग है, और उसमे अथक प्रयत्न तथा अनुसधान करने की क्षमता है। वह विघटित होते हुए मानव-व्यक्तित्व का तटस्थ साक्षी बन सकता है। दु ख पर—आत्म-विघटन, जीवन-सघर्ष और नव-निर्माण की क्लान्ति के दु.ख पर—उसे अमिट आस्था है। प्रकाश को वह अधकार के छोर से, सुख को दु.ख के छोर से, अस्तित्व को अह के छोर से और आस्था को वह संशय के छोर से पकड़ता है। इस प्रकार अपने को न भावना के समुद्र ही मे डूबने देता है और न विवेक के शिखर पर चढ़ कर वहाँ ठहरा ही रह सकता है।

नयी कविता हिन्दी मे एक प्रकार से छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की उत्तराधिकारिणी बन कर आई है अत: उसमे उपर्युक्त सभी प्रकार की चेतनाओ और भावनाओं के सूत्र गुफित मिलते है। एक ओर उसमे रोमाटिक कवि नयी शैली मे अपनी रगीन भावनाओं की डोरियो को सौदर्य-शिल्प के चित्रात्मक विधान मे गुफित कर रहे है तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ तथा चेतना के उद्बोधक स्वर तथा सामाजिक वैषम्य से प्रेरित क्षुब्ध विद्रोह भरी सशक्त, गठी अभिव्यजनाएँ भी उसमे सृजन प्रक्रियाओं को गुरुत्व प्रदान करने मे सफल हुई है। साथ ही उसमे संशय, नैराश्य, कुठा, अनास्था की खोखली कटुता तथा विद्वेष, घृणा भरी, विघटित हो रही युगीन वास्तविकता का प्रयोगवादी चित्रण तथा निष्क्रिय, आत्मदंश भरे विषाक्त अहम् के भी अनेक रुद्ध दृप्त रूपों का गर्जन-तर्जन भावना के क्षितिज को धुँधला बनाता हुआ, विषाद की घटा की तरह उमड़ता दृष्टिगोचर होता है। किन्तु नयी कविता मे छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद का सर्वांगीण संयोजन न मिलने के कारण वह इनकी शारद परिणति या प्रतिनिधि नही कही जा सकती। नये कवि के स्वर मे बौद्धिकता तथा वैज्ञानिक यथार्थ के प्रति आकर्षण अथवा आस्था भी मिलती है। इनके माध्यम से वह वैयक्तिक स्वातंत्र्य को जीवन यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। किन्तु आज के यांत्रिक भौतिक जीवन के स्वादहीन अवसाद को चीर कर उसकी रचनात्मक बुद्धि किसी व्यापक मानवीय सामाजिक वास्तविकता तथा उच्च मानवीय वस्तुगत आदर्श की प्रतिष्ठा कर सकी है अथवा उस दिशा की ओर अग्रसर हो रही है ऐसा नही कहा जा सकता। उसके वैयक्तिक स्वातंत्र्य की पुकार बहुत हद तक केवल उसकी अहंता की पुकार अथवा युग के बिखरे व्यक्ति की पुकार बन कर रह गयी है। उसमें गतिशील रचनात्मक सामाजिक यथार्थ का कही लवलेश भी नहीं होने के कारण वह आत्म-रुचि तथा आत्मरति की द्योतक बन कर ही, लगता है, नि:शेष हो जाएगी। इस प्रकार आज की नयी कविता की चेतना नयी मानव-रचना या विश्व-निर्माण की सूचक

न होकर, केवल वैयक्तिक स्तर पर सृजनशील तथा संवेदनशील बन कर, भावना-भूमि से ऊपर—सच्ची बौद्धिक भूमि पर नही उठ सकी है—ऐसी बौद्धिक भूमि जिसमे भावी मानव-सभ्यता या सस्कृति का सत्य निहित हो अथवा मनुष्यत्व के मूल्य निखर कर सामने आए हो। वह भावना-भूमि से नीचे उतर कर उस जीवन-यथार्थ की भूमि पर भी अपने चरण नही स्थापित कर सकी है जिसमें सामाजिक सकल्प का घनत्व होने के कारण आगे बढ़ने की सुविधा हो। वह केवल इद्रधनुष जड़े हुए मनोद्वेग के वाष्पपिण्ड की तरह, अभिव्यक्ति की दृष्टि से, अधिक रंगीन, मोहक, सुन्दर, तथा स्वप्न सर्जक बन कर रह गयी है, जिसमे प्रगीत का सम्मोहन तो है, सौदर्य का बाहरी सत्य भी है—पर, शिव का सत्य, लोक-मगल तथा मानव-मगल का भीतरी सत्य कहीं खोजने पर भी दृष्टिगोचर नही होता और मेरी दृष्टि मे यही उसकी सबसे बड़ी कमी है। फिर भी नयी कविता की भविष्य मे अनेक सभावनाएँ हो सकती है और मैं इस शुद्ध साहित्यिक धारा का हृदय से स्वागत करता हूँ।

मेरी कविता का पिछला दशक

रचना प्रक्रिया तथा कृतित्व की दृष्टि से मेरा पिछला दशक—अर्थात् सन् उनचास से सन् उनसठ तक का समय एक प्रकार से उर्वर ही रहा है। इस दशक की सबसे बडी विशेषता मेरी दृष्टि मे, यह रही कि मेरे मन मे जो अनक प्रकार तथा अनेक स्तरो की विचारधाराएँ—जो अनेक अशो मे विभिन्न, परस्पर विरोधी तथा परस्पर पूरक भी रही है—वे मेरी इस काल की कृतियों के व्यापक सामजस्य तथा संतुलन ग्रहण कर मेरे मानसिक क्षितिज को विस्तृत, अधिक स्पष्ट, तथा भावग्राही बना सकी है। इस दशक की समाप्ति पर अब मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि जिस भावना-भूमि पर विचरण करने के लिए मेरा हृदय सदैव से, ज्ञात-अज्ञात रूप से, सघर्ष तथा प्रयत्न करता रहा है उस भाव-भूमि की उपलब्धि, विचारों की इन प्रणालियो से गुजरे बिना मेरे लिए सभव न हो सकती—जिनके संवेदन का बोध तथा अनुभव मै एक प्रकार से पल्लव युग की रचनाओं के बाद 'गुजन-ज्योत्स्ना' से प्रारम्भ कर क्रमश· 'वाणी' तक की रचनाओ मे व्यक्त करता आया हूँ। 'चिदंबरा' की भूमिका को समाप्त करते हुए मैने इस ओर संकेत किया है। इस मानसिक परिणति का उपयोग, सभवत. मेरे लिए भविष्य मे करना सुलभ हो सके।

सन् उनचास मे 'उत्तरा' प्रकाशित हुई थी। 'ग्राम्या' तथा 'उत्तरा' के बीच का समय—जिसमें यथेष्ट विचार तथा भाव-मथन के बाद 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' का प्रणयन हुआ—मेरे लिए बड़ा सकटापन्न रहा। व्यक्तिगत जीवनसबधी कठिनाइयो तथा संघर्ष के अतिरिक्त इस युग मे मेरे कवि के अस्तित्व तथा कृतित्व के प्रति प्रबल विरोध की बाढ आई। अनेक रूपो मे मेरे विचारों तथा भावो की अतिरजित तथा विकृत व्याख्याएँ की गयी। यहाँ तक कि युगवाणी ग्राम्या की पूर्व स्वीकृत एव प्रतिष्ठित जीवन-मान्यताओं का भी एक दल की ओर से उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया है। मेरी कवि-कल्पना को तब राजनीतिक मतवाद के अध कट्टर चट्टान से टकराना पडा। उत्तरा की भूमिका इसी क्लिष्ट पृष्ठभूमि को सामने रखकर लिखी गयी थी। उत्तरा की रचनाओ के सबध में मैने 'चिदंबरा' की भूमिका मे इन थोड़े से शब्दो मे लिखा है 'उत्तरा' को सौंदर्यबोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मै अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति समझता हूँ। उसके गीत, अपने काव्य तत्व तथा भाव चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव 'मानवता' के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षा से झंकृत है। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है। यथा—

'स्वप्न ज्वाल धरणी का अचल, अधकार उर रहा आज जल ।'

या—'स्वप्नो की शोभा बरस रही रिमझिम झिम अबर से गोपन'

या—'कैसी दी स्वर्ग विभा उडेल तुमने भू-मानस मे मोहन ।' इत्यादि ऐसे अनेक पद उत्तरा मे है जो युग मानव के भीतर नवीन जीवन-आकाक्षा के उदय को सूचना देते है । 'कहाँ बढाते भीरु जन चरण,बाहर का रण हुआ समापन'—क्रिया के ऐसे भूतकालिक प्रयोग मैंने उत्तरा मे भविष्यवाचक, अतश्चेतन अर्थ मे किए है । उत्तरा के बाद मैंने 'क्रमश ' नामक एक उपन्यास लिखने का श्रीगणेश किया था और उसके कई परिच्छेद लिख भी चुका था किन्तु उसे अपनी अतिम कृति के रूप मे प्रकाशित करवाने के विशेष अभिप्राय से मैंने उसे आगे लिखना स्थगित कर दिया । सन् पचास में रेडियो से सबद्ध होने से मेरी भावना तथा विचारधारा मुक्तक प्रगीतो मे अभिव्यक्त न होकर काव्य रूपकों के रूप मे प्रस्फुटित हुई । सन् ५० मे मैंने विद्युत् वसना, शुभ्र पुरुष तथा उत्तर शती नामक तीन काव्य रूपक लिखे जो आशिक रूप से भारत भारती कार्यक्रम के अतर्गत प्रसारित हुए । इन रूपको मे मैंने मुख्यत. युग की समस्याओ को ही काव्यात्मक वाणी देने का प्रयत्न किया है । प्रगीतो की तुलना मे इनमे मेरी विचार तथा भावना-धारा अधिक सबद्ध तथा व्यवस्थित रूप मे व्यक्त हो सकी है । विद्युत् वसना नामक रूपक स्वतत्रता दिवस के अवसर पर लिखा गया था । भारत की स्वतत्रता-प्राप्ति को विश्व-मानवता के विकास का एक अग मान कर मैंने इस रूपक मे राष्ट्रो की स्वातत्र्य भावना को विश्व एकता या मानव एकता के अधीन रखना भू जीवन के लिए उपयोगी बतलाया है । 'शुभ्र पुरुष' नामक रूपक महात्मा जी के जन्म दिवस के अवसर पर लिखा गया था जिसमे महात्मा जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को युग की श्रद्धाजलि अर्पित की है । 'उत्तरशती' सन् ५० के समापन पर लिखी गयी थी इसमे विशशती के पूर्वार्द्ध की समस्याओ तथा सघर्षों का आकलन कर उसके उत्तरार्द्ध की प्रगति की दिशा की ओर इगित करते हुए, विश्व शाति की छाया मे नवीन लोक-जीवन-रचना की आकाक्षा प्रकट की गई है । सन् ५१ के प्रति कहा है —

स्वागत, नूतन वर्ष, शिखर तुम विंश शती के
लाओ नूतन हर्ष, नवागतुक जगती के !
कब से अपलक नयन प्रतीक्षा करते भू जन,
विश्व शाति मे लोक क्राति हो परिणत नूतन ।'

सन् ५१ मे मैंने 'फूलो का देश', 'रजत शिखर' तथा 'शरद चेतना' नामक तीन रूपक लिखे । 'फूलों का देश' सास्कृतिक चेतना का रूपक है । इसमे विज्ञान और अध्यात्म वस्तु और आदर्श के समन्वय का महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है और विज्ञान और अध्यात्म को एक दूसरे के पूरक के रूप मे मानव-जीवन के अभ्युदय के लिए उपयोगी बतलाया है । इसी

प्रकार 'रजतशिखर' में मैंने मनोविश्लेषकों के उपचेतन-निश्चेतन मानसिक स्तरों के सघर्ष को उपस्थित कर आज के जैव विज्ञान का उपयोग मानव जीवन के संस्कार के लिए प्रस्तुत किया है। 'शरद चेतना' प्रकृति सौंदर्य का गवाक्ष है।

सन् ५२ के काव्य रूपकों मे मैंने अधिक गभीर समस्याओं को उपस्थित किया है। 'शिल्पी' में कलाकार के कला सबधी युग बोध का सघर्ष अकित है। जनजागरण के रूप में सक्रिय, धरती के विरोधी तत्वों से जडीभूत उपचेतन को किस प्रकार मानव-एकता के रूप मे ढाला-सँवारा जाय, यही 'शिल्पी' की व्यापक समस्या है। शिल्पी अपने कला-कक्ष में एक अनगढ़ पाषाण फलक के साथ छेनी से लडता हुआ अत मे उसमें नवीन मानव-चेतना की सजीव मूर्ति अकित कर पाता है। और सुख की साँस लेकर कहता है—'ईश्वर, अब जाकर पाषाण सजीव हो सका'। 'ध्वस शेष' की समस्या और भी गभीर तथा जटिल है। उसमे अणु-ध्वस का भयावह चित्र उपस्थित करने के साथ ही, इस सर्वग्रासी विनाश के कारणो का विश्लेषण तथा नवीन भूजीवन के निर्माण की दिशा का आभास दिया गया है। मानव-चेतना के नवीन आरोहण का बोध प्राप्त कर लोकतत्र का प्रतिनिधि कहता है—

'लोकतत्र का यह अनुभव अब,—सामूहिकता
निगल नही सकती अत स्थित मनुज सत्य को।'

'अप्सरा' सौंदर्य चेतना का रूपक है। आज के युग सघर्ष के सदेह, अनास्था, कुठा आदि के घने कुहासे के भीतर से किस प्रकार नवीन सौंदर्य चेतना अपने सुनहले आँचल में नवीन मूल्यो तथा आस्थाओं को लेकर जन्म ले रही है 'अप्सरा' मे एक भावुक कलाकार के मानसिक द्वन्द्व के रूप मे इसी सत्य का उद्घाटन हुआ है। मेरे काव्य रूपको मे सबसे महत्वपूर्ण 'सौवर्ण' है जो सन् ५४ मे लिखा गया था। इसमे मैंने हिमालय की पृष्ठभूमि में—जो मानव-जाति के सास्कृतिक सचय का प्रतीक है—नव युग की जीवन मान्यताओं के संघर्ष के भीतर से 'सौवर्ण' के व्यक्तित्व मे नवीन मानव की अवतारणा करने की चेष्टा की है। इसका क्रात द्रष्टा विगत युगों के निष्क्रिय आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर ध्यान आकर्षित हुए कहता है.—

देख रहा मै, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
बरफ बन गया, पथरा कर, जम कर, युग युग का
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत—सब बरफ बन गया।
चट्टानों पर चट्टाने सोई शतियों की
जमे फलक पर फलक शवों-से श्वेत रक्त के,
अट्टहास भरते जो नीरव खीस काढ़ कर
महाकाय ककालों के अवशेष पुरातन! —इत्यादि

'अतिमा' मेरी सन् ५३–५४ की कविताओ का सग्रह है जिसमे 'जन्म दिवस' 'शाति और क्रान्ति' 'यह धरती कितना देती है', तथा 'सदेश' आदि रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अतिमा' तथा 'वाणी' मे—जो सन् ५७ की रचना है—मेरी विचार तथा भावना धारा अधिक प्रस्फुटित तथा प्रौढ होकर अधिक सरल तथा सशक्त शैली मे व्यजित हो सकी है। वाणी की 'आत्मिका' नामक रचना मेरे जीवन-सस्मरण तथा जीवन-दर्शन की द्योतक है। उसमे मैने अपने मानसिक द्वन्द्व तथा देश के स्वतत्रता-युद्ध का भी वर्णन किया हैं। मेरी सन् ५६ की रचनाओ का सग्रह 'कला और बूढा चाँद' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमे ६० कविताएँ है। उसे मैने रश्मिपदी—सहज बोध प्रधान काव्य कहा है। 'कला और बूढा चाँद' की रचनाएँ मेरी इधर की रचनाओ से भिन्न प्रकार की है।

यदि मै सक्षेप मे कहूँ तो पिछले दशक की मेरी समस्त रचनाओ मे परिस्थितियों के सत्य के ऊपर मानव-चेतना के सत्य को प्रतिष्ठित करने का आग्रह है। जीवन-चेतना प्रणतरीढ पशुओ के धरातल पर परिस्थितियो के अनुरूप बदली है किन्तु मनुष्य के उर्ध्व रीढ स्तर पर उसने परिस्थितियों को बदल कर उनका अपनी आवश्यकता के अनुरूप निर्माण किया है और उन पर मानव चैतन्य की छाप लगाई है। गाधीवाद तथा विज्ञान, दोनो दृष्टियो से, मैंने अपने युग को पुरुषार्थ का युग माना है जिसमें हमे बाह्य परिस्थितियो को नवीन मानव मूल्यो के अनुरूप ढालना है न कि अपने चतुर्दिक की बाहरी-भीतरी सीमाओं से सत्रस्त तथा पीडित हो कर, अपनी महत् सकल्प-शक्ति को लघु मानव की कुठा, घुटन, तथा आत्म दया की क्षुद्र-अहता मे विकीर्ण कर बलिदानी बनने का खोखला निष्क्रिय गौरव वहन करना है। निःसदेह, मनुष्य रचनाशील प्राणी है, वह आवश्यकता पडने पर मरुभूमि को शस्य श्यामल बनाएगा, पर्वत की चोटी पर हल चलाएगा और समुद्र को चुल्लू मे भर कर पी जाएगा। अपराजेय प्रकृति का अपराजित स्वामी, वह पिछले युगो के अभावो के बोझ को अपनी रीढ़ नही तोड़ने देगा, बल्कि अपने आत्मबल के लोहे की टापो से नए युग का निर्माण करेगा। 'वाणी' मे मैंने भारतमाता शीर्षक कविता मे कहा है—

> उसे चाहिए लौह सग न,
> सुन्दर तन, श्रद्धादीपित मन,
> भू जीवन प्रति अथक समर्पण,
> लोक कला मयि
> रस विलासिनी!—

यही मेरी रचना का पिछला दशक है।

साहित्यकार के स्वर

मेरा कवि-जीवन कब, कैसे और किस वातावरण मे प्रारभ हुआ इसके बारे मे मै अपनी पिछली कुछ वार्ताओ मे कह चुका हूँ। यद्यपि मैने आरभ मे उपन्यास लिखकर अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश किया लेकिन रुचि की दृष्टि से मै शुरू से ही कविता-प्रेमी रहा हूँ। मेरे उपन्यास का नाम "हार" था, जिसकी पाडुलिपि अब भी मेरे एक मित्र के पास सुरक्षित है। उपन्यास क्या, उसे मै अब खेलवाड ही कहूँगा, जिसे संभवत मैने १५-१६ वर्ष की अवस्था मे लिखा था, जब मै आठवी कक्षा मे पढता था। उपन्यास का कथानक वियोगात है, जिसका प्रेमी नायक अपने युवकोचित औदार्य तथा सौहार्द्र के कारण अपनी प्रेम सबधी पराजय अथवा हार को ही विजय-हार अर्थात् विजय की माला के रूप मे ग्रहण कर मानव-हृदय तथा किशोर प्रेम की दुर्बलताओ से ऊपर उठने के लिए उन पर विजय पाने की साधना करता है। इस प्रकार हार शब्द श्लिष्ट है। उन दिनो तिलक की गीता का बडा प्रचार था और मै भी अपनी किशोर बुद्धि के अनुरूप लोकमान्य तिलक की कर्मयोग की टीका से खूब प्रभावित हुआ था। हार का नायक भी फलत मेरी किशोर बुद्धि का काल्पनिक कर्मयोगी ही था, ऐसा कुछ मुझे स्मरण है। किन्तु श्री तिलक की गीता के प्रभाव से कुछ दिनो के लिए कर्मयोगी बना हुआ मेरा मन फिर कालक्रम मे स्वभावानुसार भावयोगी बनकर कविता लिखने लगा।

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारभ मे, कवि या साहित्यकार कहाँ से कैसे, प्रेरणा ग्रहण कर 'मद कवि यश प्रार्थी' का कार्य आरभ करता है, यह बतलाना बड़ा कठिन है। संभवत तब प्रेरणा के स्रोत भीतर न रह कर बाहर ही अधिकतर होते है और अपने समय के प्रसिद्ध कवियो की रचनाओ से ही किसी न किसी रूप मे प्रभावित होकर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेना आरभ करता है। जब मैने कविता लिखना प्रारभ किया था तब मुझे यह कुछ भी ज्ञात नही था कि काव्य को मानव-जीवन के लिए क्या महत्ता या उपयोगिता है। न मै यही जानता था कि उस समय काव्य-जगत् मे कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थी। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है उसी प्रकार द्विवेदी युग के कवियो की कृतियो ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य स्पर्श से छुआ और उसमे एक प्रेरणा शिखा को जगा दिया। उसके प्रकाश मे मै भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानो को पहचानकर उनका चयन तथा सग्रह करने लगा। यह ठीक है कि दीप शिखा जैसे तद्वत् दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है उस प्रकार पिछली पीढ़ी की काव्य चेतना ज्यो की त्यो मेरे भीतर नही उतर आई। मेरे मन ने उसका अपनी रुचि के अनरूप सस्कार कर उसमे अपनेपन की छाप लगा दी।

वास्तव मे भारतेन्दु युग से हिन्दी कविता मे एक प्रकार के जागरण या देश प्रेम की चेतना, बादलों के अधकार मे बिजली की तरह कौधने लगी थी और द्विवेदी युग में श्री गुप्त जी आदि की रचनाओ मे खडी बोली के मच से यह अधिक प्रभावोत्पादक होकर हृदय को स्पर्श करने लगी। गुप्त जी की भारत भारती मे यह शखध्वनि की तरह उद्बोधन गीत बन कर हिन्दी जगत मे गूँज उठी थी। राष्ट्रीय चेतना के अतिरिक्त द्विवेदीयुग के काव्य मे एक प्रकार मे काव्य के अन्य उपकरणो का अभाव ही सा रहा है। न उसमे किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्यबोध या कला-शिल्प रहा है, न रस या भावोद्रेक ही। अधिकाश रचनाएँ केवल छदो के अस्थि पजर या ढाँचे भर रही है, जिनमें खडी बोली के शब्दो को गति यति के नियमानुसार कवायद भर कराई गई है। किन्तु उस युग के शब्दो के अबार से भी, रेती मे बहती हुई कलकल करती जलधारा की तरह, सच्ची कविता चुनी जा सकती है। द्विवेदी युग की कविता मे जो शील मिलता है अन्यत्र उसके दर्शन नही होते।

द्विवेदी युग का काव्यगत रेखाचित्र देने से मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि जब मैने कविता लिखना आरभ किया था तब वास्तव मे हिंदी मे कविता देवी के अभिवादन के लिए उपयुक्त वातावरण नही प्रस्तुत था। हमारे युग को —जो पीछे छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ—मुख्यत: प्रेरणा बगला मे कवीन्द्र रवीद्र से तथा उन्नीसवी सदी के अग्रेजी कवियो से मिली। किन्तु अग्रेजी कवियो से प्रेरणा ग्रहण करना तब सभव न होता और न बगाल मे रवीन्द्रनाथ के चोटी के व्यक्तित्व का ही विकास तब सभव हो पाता यदि श्रीरामकृष्ण परमहस तथा स्वामी विवेकानद के समान प्रकाश पुज नक्षत्रो का अवतरण तब भारत मे न हो गया होता। इसमे सदेह नही कि भारतीय चेतना के सर्वांगीण पुनर्जागरण और मुख्यत दर्शन, विचार, काव्य, चित्र, शिल्प, कला आदि के जागरण के बाह्य कारणो मे पश्चिमी सभ्यता-सस्कृति तथा अग्रेजी भाषा का जो भी हाथ रहा हो, उसका मुख्य कारण तथा मौलिक प्रेरणा स्रोत प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में, अवश्य ही परमहसदेव के तप शक्ति पुज आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे रहा है। श्रीरामकृष्ण देव के महत् जन्म मे ही जैसे प्रतीक रूप मे नए भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियों से जो भारतीय जीवन तथा मानस मे एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा क्लैव्य छाया हुआ था वह जैसे रामकृष्ण देव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने से नीचे का निर्मल जल दिखाई देने लगता है उसी प्रकार मध्ययुगीन जाड्य की सीमाओ तथा कुहासे से मुक्त होकर भारतीय चैतन्य का व्यक्तित्व मनश्चक्षुओं के सामने निखर कर प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तित्वों एवं संकीर्ण धार्मिक नैतिक मान्यताओं की भूलभुलैया में खोया हुआ परंपरागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतत्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदो की उन्मेष

पूर्ण स्वयप्रभ मत्र दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर नए आलोक क्षितिजो मे विचरण करने लगा। इस भाव मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति नए युग के भारतीय साहित्य मे हमे रवीन्द्रनाथ की कविता मे मिलती है। मानव-जीवन सबधी सत्य के पिटेपिटाए शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौन्दर्यबोध तथा आनद की खोज मे नवीन कल्पना के सोपानो पर आरोहण करने लगी। ज्ञान, भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि सबधी पथराई हुई एकरस भावनाओ मे नवीन प्राणो तथा चेतना का सचार होने लगा। और नए युग की कला, और विशेषत कविता, नवीन भाव ऐश्वर्य का नि:सीम आनद स्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नई चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह से हिन्दी कविता की भाषा को भी नवीन रूप माधुर्य प्रदान किया। और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाव वैभव के साथ ही नवीन जीवन सघर्ष भी लाई जिसने एक ओर भारतीय मानस मे विचार क्राति पैदा की और दूसरी ओर राजनीतिक क्राति, जिसके कारण सदियो से पराधीन इस भारतभूमि मे स्वतत्रता के शस्त्रहीन सग्राम ने जन्म लिया और मात्र अपने सगठित मन सकल्प से अत मे देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भाव ऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी काव्य चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एव सामाजिक आदर्शो को प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यो का आकलन तथा सृजन किया।

यह हमारे लिए बडे सौभाग्य की बात है कि हमने इस विराट् युग मे जन्म लेकर, साहित्य के क्षेत्र मे इन नव नवोन्मेषिणी भाव शक्तियो को धारण तथा वहन करने का गौरव प्राप्त किया है। स्वर्ग से नरक तक के स्तर आज के युग मे आदोलित हो उठे है। मानवजाति की सर्वोच्च मान्यताओ के शिखर तथा निश्चेतन मन के अधकार भरे गह्वर आज नवीन आलोक की रेखाओं तथा नवीन प्राणो के स्पर्श से उन्मीलित हो रहे है। आज हम देश, जाति, वर्ग, श्रेणी, राष्ट्र अतर्राष्ट्र, व्यक्ति तथा समाज की धारणाओ के पार इन सबकी एक सम्मिलित सश्लिष्ट इकाई को विश्वजीवन मे नवीन मानवता के रूप मे प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नो मे सलग्न है। मेरे युग की जो काव्य चेतना राष्ट्रीय जागरण के बाह्य प्रभावो से जागृत होकर, पश्चिमी सभ्यता तथा सस्कृति के स्पर्शो से सौन्दर्य ग्रहण कर, भारतीय चैतन्य के अभिनव आलोक से अनुप्राणित होकर, क्रमश , प्रस्फुटित एव विकसित हुई थी, आज वह अनेक भावनाओ तथा विचारो के धरातलो को पार कर मानव-मन की गहनतम तलहटियो तथा उच्चतम शिखरो के छाया प्रकाश का समावेश करती हुई, अधिक प्रौढ एव अनुभवपक्व होकर, मानव-जीवन के मंगलमय उन्नयन एव मानव-जाति के परस्पर सम्मिलन के स्वर्ग के निर्माण मे अविरत साधना-सलग्न है। आज की काव्य-चेतना अनेक युगो को पार कर नवीन युग मे प्रवेश कर रही है। यह उसके लिए अत्यत सकट तथा सघर्ष का युग है। आज स्वप्न और वास्तविकता, सत्य और

यथार्थ, एक दूसरे के विरोध मे खड़े, एक अधिक व्यापक एव समुन्नत जीवन सत्य की चरितार्थता मे विलीन होने की प्रतीक्षा कर रहे है। आज मानव क्षमता तथा मानव दुर्बलता एक दूसरे को चुनौती दे रही हैं। आज धरा सृजन और विश्व सहार आमने-सामने खडे ताल ठोक रहे हैं। ऐसी महान सभावनाओ और घोर दु सभावनाओ के युग में कवि एवं कलाकार को अपने अतर्विश्वास के शिखर पर अविचल खड़ा रहकर, मानव अतश्चैतन्य से प्रकाश ग्रहण कर, स्वप्न और कल्पना के ही उपादानो से सही, महत्तम मानव भविष्य का निर्माण करना है, और धरती के मानस का पिछली मान्यताओ एव परिस्थितियो का कल्मष-कर्दम धोकर, उसे नवीन जीवन चैतन्य के सौन्दर्य से मडित कर मानवीय एव स्वर्गोपम बनाना है। मानव अहता के तुषानल के ताप से बिना झुलसे उसे अपने फूलो के हँसते हुए चरण आगे बढाने है और स्वप्नो की अमूर्त अँगुलियो के कोमलतम स्पर्शो से छू कर भू मानव के मन की निर्मम जडता को द्रवीभूत करना है। साहित्यकार के स्वर की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग मे जितना अधिक बढ़ गया है उतना शायद इधर मानव इतिहास के किसी युग मे नही बढा था। आज उसे धरती के विशृंखल जीवन को नए छंद में बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओं को अतिक्रमकर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग परिस्थितियो के घोर अंधकार से प्रकाश खीचकर उसे दु स्वप्नो से आतकित मानव के मानस क्षितिज मे नया अरुणोदय लाना है।

आज के महासक्राति के युग मे मुझे प्रतीत होता है कि मेरे भीतर मेरे उदयकाल मे जिस किशोर कवि ने वीणा के गीत गुनगुनाए थे आज वह अपना सर्वस्व गँवाकर केवल आज के विश्वजीवन का तथा भविष्य के अतरिक्ष मे मुसकुराती हुई नवीन मानवता का विनम्र प्रतिनिधि-स्वर तथा सौम्य सदेहवाहक एव दूत भर रह गया है—उसकी क्षीण कंठ ध्वनि आज के तुमुल कोलाहल मे लोगो को सुनाई देगी कि नही—मैं नहीं जानता।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ

यदि मान्यताओ की दृष्टि से देखा जाय तो मेरा काव्य मुख्यत. मान्यताओं ही का काव्य रहा है। पल्लव काल तक मेरी लेखनी कला पक्ष की साधना करती रही है। पल्लव की भूमिका मे मेरे कला संबधी विचार व्यक्त हुए हैं, किन्तु उसके बाद की मेरी रचनाओ मे इस युग के मान्यताओ सबंधी सघर्ष को ही वाणी मिली है। साहित्यिक मान्यताएँ जीवन की मान्यताओ से पृथक् नही हो सकती, अतएव साहित्यिक मान्यताओ के मूलो को खोजने के लिए लोक जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना स्वाभाविक हो जाता है। युग की संक्रमणशील परिस्थितियो के कारण मेरा मन अनजाने ही इस युग की महान् विचार एव भावक्राति के भँवर मे पड गया और उससे बाहर निकलने के लिए युगमानस का मथन करना तथा जीवन मूल्यो के सोपान पर आरोहण करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग कविदर्शन को तर्क की कसौटी मे कसकर उसमे एक बाहरी संगति खोजते हैं और अपनी व्यावसायिक दृष्टि की परख मे उसमे तरह-तरह के खोट निकालते हैं। ऐसे लोग निश्चय ही कविता का दुरुपयोग कर उससे अनुचित काम लेना चाहते हैं। कविदर्शन तर्क सम्मत नही, भावना तथा प्रेरणा-सम्मत होता है। तर्क बुद्धि के खडे किए बौने अवरोधो को वह हँसते-हँसते लाँघ जाता है। यदि आप उसे अपनी भावना से ग्रहण करने तथा कल्पना का अग बनाने मे असमर्थ हैं तो वह आपकी पकड़ मे नही आ सकता। बहुत लोग कल्पना के धन-सचरण को समझने मे अक्षम होने के कारण उसके ऋण पक्ष पलायन ही को महत्व देते हैं। ऐसे लोगो के पास काव्य से सस्कार ग्रहण करने के लिए उपयुक्त मानसिकता नही होती। इन कठिनाइयों का ज्ञान होते हुए भी मुझे यह कहने मे हिचक नही मालूम देती कि जीवन मूल्यो मे दार्शनिक से भी गहरी अतर्दृष्टि कवि के पास होती है।

मेरे साहित्यिक मूल्यो की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति 'ज्योत्स्ना' नामक मेरे भावना रूपक में मिलती है जिसमे इस युग की खर्व वास्तविकता को अतिक्रम कर मेरी जीवन दृष्टि एक अधिक व्यापक तथा पूर्ण क्षितिज मे मानवता के नवीन जीवन की अवतारणा करने का प्रयत्न करती है।

मानव-समाज के रूपांतर की भावना का उदय मेरे मन मे ज्योत्स्ना काल ही में हो गया था। 'ज्योत्स्ना' में मन स्वर्ग से अनेक नवीन सृजन शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। दूसरे शब्दो मे ज्योत्स्ना, जो उस नाटिका की नायिका भी है—अनेक उच्चतम भावनाओ तथा आदर्शो को मानवीय परिधान पहना कर उन्हे लोक मानस मे

मूर्तित करती है । भौतिक आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपातरित भू-जीवन के मूल्यों की नीव—जिन्हें मेरी आगे की रचनाओ मे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन मे इसी काल मे पड गई थी । 'युगात' तक मेरी भावना मे नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था जिसे मैंने 'द्रुतझरो जगत के जीर्णपत्र हे स्रस्त ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण' अथवा 'गा, कोकिल, बरसा पावक कण, रच मानव के हित नूतन मन' आदि रचनाओ में वाणी दी है । इस नवीन भावबोध के सम्मुख मेरा पल्लव युग का कलात्मक रूप-मोह पीछे हटने लगा था । मेरा मन युग के आदोलनो, विचारो, भावो तथा मूल्यो के नवीन प्रकाश से ऐसा आदोलित रहा कि पल्लव-गुजन काल की सूक्ष्म कला-रुचि को मै अपनी रचनाओं मे बहुत बाद को परिवर्तित एव परिणत रूप मे, सभवत , अतिमा—वाणी के छदों मे पुन: प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमे उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमे कला-वैभव के साथ भाव-वैभव भी उसी अनुपात के अनुस्यूत हो सका है, जो पल्लव-गुजन काल की रचना में सभव न था ।

युगवाणी और ग्राम्या काल मे अनेक नवीन सामाजिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन मे उदय हुए है । इनमे मेरी कल्पना ने अनेक अनुद्घाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजो में प्रवेश किया है । वह केवल मेरे भावप्रवण हृदय का आवेग ज्वार था जो विगत युगो की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओ से ऊब खोझकर, अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह मे, अंधरूढ़ियो के बधनो तथा निषेध वर्जनो के अवरोधों को लाँघता हुआ, पार्थिव अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलो तथा शिखरो की ओर बढ़ता एव आरोहण करता गया । वास्तव मे वह आरोहण मेरे लिए स्वय एक कलात्मक अनुभव तथा सास्कृतिक अनुष्ठान रहा है । इन अनेक अनुभूतियो के क्षितिजो को पारकर 'स्वर्ण किरण' में मेरा मन एक व्यापक सामजस्य की भूमि मे पदार्पण कर सका है । उसके बाद की रचनाओ में वह भाव चैतन्य कभी भी मेरी आँखो के सामने ओझल नही हुआ है । सौन्दर्यबोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से उत्तरा को मैं अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में मानता हूँ । उत्तरा के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकाक्षा से झंकृत हैं । चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओ मे नही मिलती । उत्तरा के गीतो से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है । जो युग मानव के भीतर नवीन जीवन आकाक्षा के उदय की सूचना देते है । अपनी रचनाओ से मैंने अपने युग के बहिरंतर के जीवन तथा चैतन्य को नवीन मानवता की कल्पना से मंडित कर वाणी देने का प्रयत्न किया है । आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं । मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय कमल मे स्थापित किया है । आध्यात्मिकता के निष्क्रिय निषेधात्मक ऋण पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन के विकास तथा जन मगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है । मैंने भौतिक-आध्यात्मिक दोनो दर्शनो से जीवनोपयोगी तत्वो को लेकर, जड़ चेतन सबधी एकागी दृष्टिकोण

का परित्याग कर, व्यापक सक्रिय सामजस्य के धरातल पर नवीन लोक जीवन के रूप में सर्वांगपूर्ण मनुष्यत्व अथवा मानवता का भाव-दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार मान्यताओ की दृष्टि से मैंने अपनी रचनाओ मे जीवन-सत्य और जीवन-सौन्दर्य का उपयोग लोकजीवन मांगल्य के लिए ही करना काव्योचित समझा है। वाणी की 'आत्मिका' शीर्षक रचना मे मैं अपने मान्यताओ संवधी दृष्टिकोण को अधिक परिपूर्ण अभिव्यक्ति दे सका हूँ।

———

शृंगार और अध्यात्म

भारतीय साहित्य परम्परा मे शृंगार और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी न समझे जाकर परस्पर पूरक ही माने गए है और उनका पोषण, भाई-बहनों की तरह, एक ही साथ, एक ही रस तत्व द्वारा होता आया है। लोक-दृष्टि से ये दोनो मूल्य भले ही विभक्त कर दिए गए हों—पर रहस्य, और कुछ अशो में, भक्ति साहित्य में भी जहाँ कही रस चेतना या भावना को अलौकिक का स्पर्श मिला है, वहाँ शृंगार और अध्यात्म के उपादानों एवं प्रतीको ने एक दूसरे के प्रस्फुटन तथा विकास मे सहायता ही दी है। कालिदास ने कुमार-संभव में शिव-पार्वती जैसे उच्चतम चेतना मूल्यों को शृंगार भूमि पर अवतरित करा कर तथा उनकी अंतः रस क्रीड़ा को मानवीय परिधान पहना कर अपनी काव्य कल्पना का चरमोत्कर्ष दिखलाया है। शाकुंतल में भी अध्यात्म की भूमि पर शृंगार ही का परिपाक हुआ है। शृंगार और अध्यात्म भारतीय चैतन्य मे श्री राधाकृष्ण के प्रतीकों के रूप में एक दूसरे के अत्यंत निकट आकर परस्पर तन्मय हो गए हैं—उनका एकत्व वहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शृंगार और अध्यात्म की ऐसी सर्वांगीण अभिव्यक्ति तथा परिपूर्ण एकता श्री राधाकृष्ण के औद्भौम विराट् व्यक्तित्वो के चतुर्दिक् निर्मित साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखने को नही मिलती। उनके उच्च रस परिप्रोत चरित्र जैसे शृंगार और अध्यात्म के रहस्य मिलन के शाश्वत अभिसार स्थल हैं।

वास्तव में शृंगार का संतुलन तथा उन्नयन ही अध्यात्म है। शृंगारहीन अध्यात्म गीत स्वर लय विहीन रिक्त-हृदय बाँसुरी-सा है। जहाँ अध्यात्म शृंगार को व्यापक धरातलों पर न उठा कर उसके मासल भार एव रगीन परिधान से दब या छिप जाता है वहाँ श्री जयदेव के गीत गोविंद की तरह वह निःसंदेह विकासोन्मुखी न रह कर ह्रासोन्मुखी बन जाता है। हिन्दी रीति काव्य के अंतर्गत राधाकृष्ण की लीला का अधिकांश निदर्शन साहित्य में, तथा वाममार्ग की अनेक क्रियाओं एव पूजन-विधियो का निरूपण धर्म में, उपर्युक्त ह्रासयुगीन मनोवृत्ति का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण है। कृष्ण-साहित्य में तत्वतः जहाँ श्री राधा परम चेतना तथा स्वरूपा एवं ह्लादिनी शक्ति की प्रतीक हैं वहाँ वह शृंगार सिन्धु लहरी भी है—शृंगार की सर्वोच्च शिखर लहरी पर खड़ी परम चेतना की यह वैष्णव कल्पना शृंगार और अध्यात्म के अन्योन्याश्रित संबंध तथा अंतरैक्य के सत्य को जैसे अपनी समग्रता में मूर्तिमान कर, उसे सहृदय जन-साधारण के लिए सहज सुलभ कर देती है।

कबीर की 'करले श्रृंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा' अथवा 'घूँघट के पट खोल री' जसी उक्तियों में हम देखते हैं कि श्रृंगार अध्यात्म के गले में बाँहें डाल कर स्वय तो ऊपर उठ ही जाता है वह अध्यात्म को भी भावबोध अथवा रस-बोध के निकट ले आता है। सुन्दरता के छवि गृह मे ऊर्ध्व दीप शिखा की तरह स्थित अध्यात्म की ज्योति, रस से स्नेह-सिक्त होकर, जीवन-सौंदर्य को परिपूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण भारतीय साहित्य से उपस्थित किए जा सकते है जहाँ श्रृगार अध्यात्म की अवतारणा करने के लिए सबसे सबल, स्वच्छ तथा स्पष्ट माध्यम सिद्ध होता है। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास जैसे क्रान्तद्रष्टा एव कलाप्रवण कवि-ऋषियो तथा सौन्दर्य स्रष्टाओं की यह गभीर साहित्य परम्परा ही रही है कि उन्होंने देह तथा आत्मा को, अथवा प्राण तथा मन को, मानव-सत्य के अविभाज्य अग मान कर, उनके बहिरंतर के वैभव को एक साथ काव्य सूत्र में गुफित कर, आलोक को सौन्दर्य के करतल पर स्थापित किया है।

मध्ययुगो से भारतीय मानस मे जीवन चेतना तथा सांसारिकता के प्रति जो एक निषेध तथा वर्जना की धारणा प्रवेश कर गई है उससे श्रृंगार तथा अध्यात्म दो विभिन्न विरोधी इकाइयो में सीमित होकर स्वर्ग और नरक के अतिमूल्यो की तरह विभक्त हो गए हैं। हमारी सामती सस्कृति आध्यात्मिक-बौद्धिक-प्राणिक तथा भौतिक दृष्टि से श्रीकृष्ण चैतन्य के रूप मे परिपूर्ण अभिव्यक्ति पाकर कालांतर में विघटित होने लगती है। इस विघटन के फलस्वरूप हमारी श्रृगार भावना भी अधोमुखी रूप ग्रहण कर लेती है। और अनेक सकीर्ण नैतिक दृष्टिकोण तथा ह्रासयुगीन सामाजिक विकृतियाँ हमारी जीवन दृष्टि को कुठित कर देती हैं। रस के मूल आध्यात्मिक स्रोत से विच्छिन्न हो जाने के कारण जातीय मन मे अनेक प्रकार के खोखले जीवन-विमुख आदर्श घर कर लेते है। सामाजिक यथार्थ को धारणा वैयक्तिक सुखवाद की भावना से ग्रस्त हो जाती है और राग भावना को सामूहिक सतुलन देने के बदले हम उसे नैतिक विरक्ति तथा क्षणभगुर इद्रिय तम का रूप देकर उपेक्षणीय तथा हेय मानने लगते है।

जिस प्रकार चेतना ही पदार्थ बन कर अपनी अभिव्यक्ति के लिए भौतिक आधार या माध्यम प्रस्तुत करती है उसी प्रकार अध्यात्म ही श्रृंगार बन कर नित्य नवीन सौन्दर्य-बोध के क्षितिजो को उद्घाटित करता है। मानव सभ्यता के इतिहास की सामंती सीमाओ के कारण—दूसरे शब्दो मे भौतिक शक्तियों पर मानव का अधिकार न होने के कारण—पुरानी दुनिया की मानवता का संस्कृतीकरण एक सीमित क्षेत्र के भीतर सीमित रूप ही मे सभव हो सका है। सस्कृतीकरण और अध्यात्मीकरण के बीच एक बहुत गहरी और व्यापक खाई रह गयी है जिसे जगत के प्रति वैराग्य, जीवन के प्रति निषेध तथा अनेक प्रकार की नैतिक वर्जनाओं आदि से पाट कर व्यक्ति चेतना का मात्र

भावना के स्तर पर ही अध्यात्मीकरण अथवा रागोन्नयन सभव हो सका है । इस प्रकार शृंगार और अध्यात्म दो परस्पर घातक, एक दूसरे से मेल न खाने वाली, सीमित ऋण इकाइयों मे बँट गए और उनका आपस का संबध दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण शृंगार इद्रियों के पंक में रेंगने वाली अधोमुखी वृत्ति बन गया और अध्यात्म श्मशानवासी या शुष्क वैराग्य के मरुस्थल मे विचरने वाला, आकाश कुसुमवत्; जिसके मूल प्राणों के उर्वर धरातल से कट जाने के कारण वह लौकिक सामाजिक जीवन के लिए धीरे-धीरे अनुपयोगी तथा दुर्लभ हो गया । भारतीय दर्शन की खोज या शोध तो ठीक रही पर उसका उपयोग अलीक तथा भ्रामक रहा । दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवादी होने पर भी भौतिक परिस्थितियो की सीमाओं के कारण, हम संस्कृति की दृष्टि से, सदैव द्वैतवादी ही रहे और सहज व्यापक अध्यात्मीकरण का संचरण कुछ क्लिष्ट नैतिक सिद्धान्तो का रूप धारण कर कठोर रूढि-रीति-गत परम्पराओं में जड़ीभूत हो गया, जिसके कारण जातीय जीवन का सतत प्रवहमान तत्व, शृंगार तथा अध्यात्म की मूल्याकन संबंधी विषमताओं के कारण, सत्य, शिव तथा सुन्दर की अभिव्यक्ति से वंचित रह गया और अपने प्राणिक दारिद्र्य के कारण हम मानसिक, कायिक तथा भौतिक दारिद्र्य से भी ग्रस्त हो गए ।

तत्वतः शृंगार और अध्यात्म दोनों ही राग भावना या रागचेतना के दो अविभाज्य छोर हैं और एक के संबंध में ही दूसरे का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है । शृगार की सक्रिय प्राणवत्ता से विरहित अध्यात्म मात्र वैयक्तिक आत्म रति अथवा शुष्क सामाजिक वैराग्य बन कर रह जाता है । और अध्यात्म से वचित शृंगार बहिर्जीवन के क्षणिक भोग-विलास में सन कर मलीन हो उठता है । जिस प्रकार देह के आधार के बिना मन तथा चेतना का विकास संभव नहीं—वे एक निष्क्रिय अतीन्द्रिय स्थिति भर रह जाते हैं, उसी प्रकार शृगार तत्वों से वियुक्त अध्यात्म भी निर्जीव, नीरस, शून्य-ब्रह्म की उपलब्धि-मात्र रह जाता है। शृंगार चेतना या भावना के सामाजिक समन्वय के अभाव मे मात्र अध्यात्म का दंभ भरने वाला समाज, हमारे मध्ययुगीन ढाँचे की तरह, निष्क्रिय, निष्प्राण, सौंदर्य तथा लोक मंगल की दृष्टि से, निःशक्त एवं अनुर्वर हो जाता है । शृंगार-संतुलित सामाजिक जीवन का सौंदर्य ही आध्यात्मिक चेतना का शरीर है, जिसके बिना उसका अस्तित्व पूर्ण सक्रिय नहीं हो सकता ।

आज नारी तन के स्तर पर शृंगार भावना का मूल्य आँकना अनुचित होगा, उसे धरा जीवन के स्तर पर देखना स्वाभाविक होगा । गृहस्थ जीवन के मूल्यों के रूप में शृंगार भावना का आंशिक ही विकास संभव हो सका है । आज विश्व जीवन को हमें एक अधिक उच्च तथा व्यापक चेतना के प्रकाश में देखना है और राग चेतना के चिरंतन सौन्दर्यपूर्ण गंभीरतम स्तर, जो अभी प्रच्छन्न एवं अविकसित ही रह गए हैं, उन्हें मानव-जीवन का सक्रिय अंग बनाकर नवीन रागानुभूति में प्रस्फुटित तथा परिणत करना है ।

इद्रिय द्वारो मे कुसुमित इस सार्वभौम रागचेतना को नये आध्यात्मिक प्रकाश में नवीन मूल्यों के रूप मे ग्रहण कर आज स्त्री पुरुष के युग्म जीवन को नवीन अनुराग, सौन्दर्य तथा आनन्द से मडित करना है। और उसे प्राचीन मध्ययुगीन अनेक प्रकार के नैतिक निषेधो, वर्जनाओ तथा कुठाओ से उबार कर उसमे नवीन सामाजिक सामञ्जस्य, वैयक्तिक सगति तथा मानवीय निखार भरना है। अपनी अनेक रचनाओ में मैंने राग भावना के उन्नयन के साथ ही नवीन प्राणिक जीवन की स्वीकृति पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और शृगार और अध्यात्म के बीच पड़ी प्राचीन खाई को तथा मध्ययुगीन नैतिक अवरोधो को अतिक्रम कर नवीन विश्व-जीवन की सौन्दर्य चेतना के अस्फुट स्वप्न सचरण के शील-सौम्य, सौन्दर्य-मुखर, गतिमय संगीत को अपने छदों मे बाँधने की चेष्टा की है। 'आत्मिका' मे मैंने एक स्थान पर कहा है :

भू पर सस्कृत इद्रिय जीवन, मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नही विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत।
आत्मा को प्राणो से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति—इत्यादि—

अन्यत्र इसी कविता में मैंने कहा है—

स्वर्ग नरक इह परलोकों मे व्यर्थ भटकते धर्ममूढ जन
ईश्वर से इद्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन।

शृगार तथा अध्यात्म को सयोजित करते हुए, मैंने प्राणों एव इन्द्रियों के जीवन की महत्ता दिखाते हुए वाणी मे कहा है—

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों से उठ कर
आशा आकाक्षा के मोहित फेनिल सागर,
चद्र कला को बिठा स्वप्न की ज्वालतरी मे
तुम बखेरते रत्न-छटा आनद-तीर पर !
मै उपकृत इद्रियो,—रूप रस गध स्पर्श स्वर
लीला द्वार खुले अनत के बाहर भीतर,
अप्सरियों से दीपित सुर-धनुओ के अंबर
निज असीम शोभाओ में तुम पर न्योछावर।

यह कहने की आवश्यकता नही कि रूप की ज्वालतरी में बैठी चंद्रकला आध्यात्मिक चेतना ही है। मेरे विचार में शृंगार और अध्यात्म का परिणय, निःसदेह, नवीन जीवन सौदर्य को जन्म देगा, जिसका अवतरण एवं प्रस्फुटन मानवता के लिए नवीन आशा उल्लास तथा लोक मंगल का सूचक होगा।

मानसी

'मानसी' मैने सन् १९४६ मे लिखी थी। मै तब दक्षिण भारत मे था। मानसी मनुष्य की राग भावना अथवा राग चेतना का प्रतीक रूपक है। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आज के सक्रान्ति युग मे जब कि हम अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताओ में नवीन सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे है, मनुष्य की पिछड़ी हुई आदिम राग भावना को भी निरखने-परखने की आवश्यकता है तथा उसमे मानव की सास्कृतिक-आध्यात्मिक आवश्यकताओ के अनुरूप ही नवीन सतुलन एव रूपान्तर लाने की अपेक्षा है। इस वैज्ञानिक युग मे एक विकसित भौतिक तथा बौद्धिक सामाजिकता के लिए हमारी नर-नारी सबधी सामत युगीन मान्यताएँ अपर्याप्त तथा असतोषकर लगती है। विकसित राग चेतना ही मानव सस्कृति की आधारशिला बन सकती है। पुरुष और नारी इस राग चेतना के अभिन्न तथा अनिवार्य अग है।

प्रारम्भ का अंश, जो इस संगीत रूपक के लिए आवश्यक है, मानव राग भावना के उद्दीपन की भूमिका स्वरूप है। उसमे प्रकृति की एकान्त रमणीय क्रोड में एक नवयुवक, जो पुरुष की आत्मा का प्रतीक है, अनुभव करता है यह कि विश्व प्रकृति एक अनंत यौवना महिमामयी नारी के समान है, जिसकी शोभा ही उसके भीतर युवती की सुषमा मे लिपटी हुई कामना का रूप धर कर, नवीन उषा की तरह उदित हो रही है। उसे निर्जन मे कोयल का मधुर गीत सुनाई पड़ता है, जैसे उसके हृदय मे सोई हुई कोई गोपन भावना जाग उठी हो और उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हो। दूर से आता हुआ पपीहे का आकुल स्वर उसे आमत्रित तथा आन्दोलित करता है। उसमे एक आवेश है, प्रेम के लिए त्याग की वेदना है। उसकी सुप्त राग चेतना पिक तथा पपीहे के कठों से प्रेरणा ग्रहण कर, प्रेम सबधी विरह मिलन की व्यक्तिगत सीमाओं को अतिक्रम कर, व्यापक सामाजिक धरातल मे प्रवेश करती है। इस रूपक में पिक मिलन और भोग का तथा पपीहा विरह और त्याग का प्रतीक है।

इसके बाद युवक राग भावना का आवाहन करता है, और ऐतिहासिक तथा सामाजिक धरातल पर, उसकी दृष्टि के सम्मुख, मानव राग भावना का विकास तथा परिणति, विभिन्न सास्कृतिक युगों मे विभिन्न रूप धर कर जैसे अनावृत अथवा अनवगुठित हो उठती है। मध्ययुगीन राग भावना की प्रतिनिधि स्वरूप राम, कृष्ण, बुद्ध युग की अबलाएँ तथा आधुनिक युग की नारियाँ युवक के स्मृति पट मे मूर्त होकर जैसे मानव राग चेतना के विकासक्रम की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत करती है। इसमे यह ध्यान मे रखने की बात है कि ये विविध झाँकियाँ अपने-अपने युगों के ह्रास की स्थिति का चित्रण करती है।

इस प्रकार विगत युगों की राग भावना का अपने मन में मूल्याकन करता हुआ आज के नये युग का मानव राग भावना के अधिक विकसित तथा सतुलित स्वरूप का आवाहन करता है, जिससे पृथ्वी के जीवन मे नर-नारियों के सबधों की नवीन परिणति अपनी पिछली रागद्वेष, द्रोह-मोह की सीमाओ से मुक्त होकर, इस विराट् भू-जीवन का सक्रिय रचनात्मक अंग बन सके। नव युग के नर-नारी उसके कल्पना क्षितिज में अवतरित होकर देह बोध से ऊपर अपनी सृजनप्राण प्रेमभावना को जीवन मगल तथा लोक कर्म के रूप मे चरितार्थ करते हैं। गृहों की देहलियो की सीमाएँ लाँघ कर राग चेतना विशाल सामाजिक प्रागण में अपनी सार्थकता खोजती है। नवयुवतियाँ नवीन सस्कृति की सदेशवाहिका बन कर नवीन भावना के पुष्पों के रूप में नवीन सांस्कृतिक मूल्यों का वितरण करती हैं। भीतर से युक्त और बाहर से मुक्त नर-नारीगण नव जीवन की उल्लसित, नृत्य मुखर पदचापों से धरती के आँगन को शोभा सपन्न तथा आनद गुजरित करते है। दो शब्दो मे यदि मैं कहूँ तो 'मानसी' गीतिनाट्य में इसी मानव राग भावना का चिरतन स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इस कार्यक्रम में मानसी के सार्थक अश चुन लिए गए हैं। इसका प्रारभ वन मे पपीहे की प्यासी पुकार से होता है जिसे सुनकर युवक की राग-भावना जग उठती है।

प्रेरणा

जैसा मै प्रारम्भ मे कह चुका हूँ मानसी का रूपक मैंने दक्षिण-भारत मे लिखा था। मद्रास मे जिस मकान के निचले हिस्से मे मै रहता था, वहाँ मकान-मालकिन की विदुषी लड़की का विवाहोत्सव देखने का अवसर मुझे मिला था। दक्षिण मे स्त्रियों के चटकीले रेशमी वस्त्र अपनी विशेषता रखते हैं। अनेक रगों की साड़ियों में उपस्थित अनेक संभ्रान्त महिलाओं को, उस गीत-नृत्य मत्रोच्चार से गुंजरित, फूलों से सज्जित विवाह-मण्डप मे देखकर यकायक मेरा ध्यान मानव राग भावना की क्रियाशीलता की ओर आकृष्ट हुआ। विवाह की संस्था को केन्द्र बनाकर मेरे मन मे जो भावनाएँ उठीं, उनको मैंने पीछे मानसी नामक इस रूपक में सँजोने की चेष्टा की।

मानसी नाम

मानसी नाम इस रूपक का मैंने इसलिए रखा कि मुझे प्रतीत हुआ कि राग भावना का सबसे सुन्दर तथा विकसित छोर अभी जैसे मानव मन के ही भीतर अव्यक्त है। उसे जैसे बाहर समुचित परिस्थितियाँ पाकर अभी नवीन नरनारी के संबंधों के रूप में प्रस्फुटित होना है। उसी अव्यक्त राग-चेतना को मैंने मानसी नाम दिया है और अतिम दृश्यों में उसे अवतरित कराने की चेष्टा भी की है।

गीत नाट्य रूपक

इस रूपक को मैंने गीतों में लिखना इसलिए उचित समझा कि प्रथमतः संगीत राग-

भावना को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त तथा हृदयस्पर्शी माध्यम है। गीत की लय वास्तव में मनोराग ही की लय है। नाट्य रूपक का रूप मैंने इसलिए देना उचित समझा कि जिससे अनेक नर-नारी अनेक प्रकार से रगीन वस्त्रो मे उपस्थित होकर अपने हाव-भाव तथा अभिनय के द्वारा राग भावना की आद्यता तथा वैचित्र्य को दर्शकों के सामने मूर्तिमान कर सके। मानसी, भावना की दृष्टि से, सूक्ष्म होने के कारण इसे जीवंत स्थूल माध्यम द्वारा प्रकट करना आवश्यक था जिससे मेरे विचार अधिक सप्रेषणीय बन सके। इस रूपक मे राम, कृष्ण और बुद्ध-युग की नारियो की रूप-सज्जा, हाव-भाव तथा आधुनिकाओं की वेश-भूषा और नवीतम नर-नारियों की आकृति-प्रकृति स्वयं ही राग भावना के विकास क्रम को आँखो के सामने साकार करने मे सहायता देती है। मेरा विचार है कि उपयुक्त संगीत तथा मच सज्जा के साथ यह रूपक काफी प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

———

काव्य में सत्य

यदि हम काव्य अथवा कला की सक्षिप्त परिभाषा बनाना चाहें तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि काव्य सत्य शिव सुंदरम् की अभिव्यक्ति है। काव्य का सत्य सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दो में कविता की आत्मा सौन्दर्य के पंखों मे उड़कर ही सत्य के असीम छोर छूती है। सौन्दर्य-विहीन सत्य शुद्ध दर्शन हो सकता है तथा आनन्दहीन शिवं नैतिक साधना अथवा आचार-मात्र हो सकता है, पर काव्य नही। सत्य के अस्थिपंजर में हृदय का स्पंदन भरने के लिए, उसमे प्राणो की मधुर ऊष्णता तथा जीवन के रूपरंग सँजाने के लिए, आनन्द का स्पर्श तथा सौन्दर्य का परिधान अनिवार्य है।

काव्य मे सत्य के दर्शन कराने के लिए हमे बौद्धिक व्यायाम करने की आवश्यकता नही। संश्लेषण विश्लेषण के सोपानो पर चढ़ उतर कर अथवा तर्क बुद्धि की भूलभुलैयाँ में भटक कर हम काव्य की आत्मा तक नही पहुँच सकते। काव्य का सत्य सवेदनशील हृदय का सत्य है, सूक्ष्मतम भावानुभूति का सत्य है। यह स्पर्शमणि की तरह तत्काल मानव मन को छू कर उसका रूपातर करने की क्षमता रखता है। उसके लिए कहा गया है—अनबूढे बूढ़े, तरे जे बूढ़े सब अग! दर्शन का सत्य अपने ज्योतिर्मय पख रिक्त शून्य मे फड़-फड़ा कर, थक कर हार जाता है, किन्तु काव्य का सत्य रस की एक बूंद में समस्त समुद्र को भर कर, आपको मानव के अतल-अवाक् अतस्तल मे निमग्न कर देता है। वह गागर मे सागर है।

कवि अथवा कलाकार अपनी सृजन प्रेरणा के पखों मे उड़कर अमूर्त को पकड़ लाता है और उसे अपनी जीवन विधायिनी कल्पना के रूप रगो में सँजोकर, उसे अपने प्राणो के स्पर्शो से सजीव कर, उसमे अपनी भावानुभूति का स्पंदन भर कर, उसे सौन्दर्यमूर्त बनाकर दूसरो के लिए सहज सुलभ बना देता है। कविता अथवा कला का सत्य मानवीय सत्य है; कवि अपने कल्पना-पखो मे उड़कर देश-काल के परे ऊँचे से ऊँचे रुपहले-सुनहले आकाशो में विचरण करता है, किन्तु धरती का आकर्षण, जिसकी गोद मे वह खेला कूदा है, जहाँ वह अपने समस्त भाई बहनो के साथ जीवन का उपभोग करना चाहता है—उसे फिर अपनी ओर नीचे खीच लाता है। वह स्वर्ग की आभा मे अवगाहन की हुई अपनी आत्मा का वैभव मुक्त हस्त होकर जनसाधारण को वितरण करने मे परम सुख का अनुभव करता है। वह धरती के अधकार की वेणी में स्वर्गिक स्वप्नों का इद्रधनुष बाँधकर मुग्ध दृष्टि से उसके मासल अगो के सौन्दर्य का उपभोग करता है। इस प्रकार काव्य का सत्य मानव चेतना का वह प्रकाश है जो अपने ही सतरग सौन्दर्य मे साकार होकर रूप गध स्पर्श रस शब्द की तन्मात्राओ मे झकृत हो उठता है।

काव्य का सत्य सृजनात्मक जीवन दर्शन है। कवि अथवा कलाकार के निकट एक तो उसी का भाव जगत रहता है, जो मानव-मन के सवेगों का क्रीड़ास्थल है—दूसरा उसके सामने बाह्य-जगत का सामाजिक वातावरण रहता है, जो उसके जीवन को प्रभावित करता है। अधिक प्रबुद्ध तथा सवेदनशील होने के कारण उसके मन मे इन दोनो के बीच निरतर सघर्ष चलता रहता है। वह अपने को भी नही भूल सकता, अपने चतुर्दिक् व्याप्त समाज को भी नही भुला सकता। यदि वह अपने ही भाव जगत मे डूब जाय तो विश्व के लिए उसकी सार्थकता नही रहती। यदि वह सामाजिक समस्याओ ही मे उलझा रहे तो वह मानव रस-व्यक्ति के लिए न्याय नही कर पाता। अतएव उसके भीतर सदैव हृदय मथन तथा विद्रोह चलता रहता है। वह तथाकथित आदर्श तथा यथार्थ से निरतर जूझता रहता है। वह धीरे-धीरे अपनी सहज बुद्धि, अपने जीवन सघर्ष तथा व्यापक गभीर अनुभूति से अपने युग की सीमाओ को अतिक्रम करता हुआ, लोकोपयोगी एव जीवनो-पयोगी मानव-मूल्यो की विकास-सरणि का अनुगमन करता है, और अतीत तथा वर्तमान से पाथेय सचय करता हुआ सर्व कल्याणकारी मानव भविष्य के निर्माण मे अपना हाथ बँटाता है। इसीलिए काव्य के सत्य में सार्वभौम तत्व पाए जाते है और वह लोको-त्तरानद प्रदान करता है।

काव्य के सत्य के आधार जीवन की वास्तविकता मे होते है। वह, प्रतिक्षण बदलती हुई वाह्य अस्थायी वास्तविकता का चित्रण नहीं करता, वह उस वास्तविकता को आत्मा तक पहुँचता है। वह मानव-जीवन के समग्र तथा सपूर्ण सत्य का दर्शन कराता है जिसमे देशकाल नाम-रूप के बदलते हुए विकासशील खड-सत्य सतुलन तथा सामजस्य प्राप्त करते है। काव्य मे मानव-जीवन का सत्य उसकी बाहरी रूप-रेखाओ के रूप में ही नही उसकी गहनतम आतरिक अनुभूतियो के रूप मे प्रतिबिम्बत होता है। बाहरी रूपरग तो केवल उसके परिधान एव अलकरण मात्र हैं—उन सब में व्याप्त जो मानव आत्मा का सत्य अथवा उसके मनुष्यत्व का स्वरूप है वही वास्तव में काव्य का प्रतिपाद्य विषय है, जो अपनी व्यापकता एव सार्वभौमता के कारण अनंत है, अपनी गहनता एव अखंडता के कारण शाश्वत है।

आज के युग का काव्य यदि लोक-जीवन से व्यापक सहानुभुति नहीं रखता, वह अधिक से अधिक लोक श्रेय के उपादान प्रस्तुत नहीं कर सकता, वह ह्रासोन्मुखी सामती तथा मध्यवर्गीय सस्कृति की सीमाओं को अतिक्रम कर तथा मनुष्य के प्रति अन्याय और उत्पीड़न की, विद्रोह भरे स्वरो में, भर्त्सना कर, भावी मानवता की ओर अग्रसर नही होता तो उसके पैरों की लँगड़ाहट अभी दूर नही हुई है।

———

आधुनिक काव्य

सैकड़ों वर्ष पहले सूर, तुलसी, कबीर, मीरा के ज्ञान भक्ति द्रवित पदों ने, हिन्दी कविता के प्रासाद को, अपनी भावमुग्ध चापो से मुखरित किया था, उनकी प्रतिध्वनियाँ आज भी हमारे कानो मे गूँजती रहती है। हिन्दी काव्यचेतना इतिहास की ऊँची-नीची सीढ़ियो पर चढ़ती-उतरती हुई द्विवेदी-युग मे खड़ीबोली के प्रागण को जागरण के स्वरो से गुज-रित करती हुई, और अभी-अभी छायावाद की स्वप्नवीथी को मर्म मधुर चरणो से पार करती हुई आज जिस नवीन जीवन की भूमिका मे प्रवेश कर रही है उसका आभास आपको तरुण हृदयो के उद्गारो एव उनके तरुण कंठों की पुकारो में मिलेगा। आज ये हिन्दी की प्राचीन काव्य-परपरा को ही आगे बढ़ाकर उसे नवीन रूप से नही सँजो रहे है, विश्व-साहित्य से नवीन प्रेरणाएँ ग्रहण कर देश विदेशों के काव्य-वैभव को भी अपने उन्मुक्त स्वरो की तीव्र मद्र झकारो मे प्रवाहित कर रहे है। इन नवीन कवियों की वाग्देवी युग मानव के लिए नवीन भाव भूमि तथा नवीन संगमतीर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रही है।

हमारे तरुण कलाकारो के हृदयो मे नए युग का सृजन संघर्ष चल रहा है। वे युग मानव के विचारो मे नए क्षितिजो का प्रकाश, उसकी भावना में नए स्वप्नो का सौन्दर्य, उसके हृदय की धडकन मे नई भू चेतना का संगीत गूँथना चाहते है। वे युग के राग विराग के उद्वेलन को अपनी वाणी के अनेक छोटे-बड़े इगित आवर्तों में नचा कर उसमे नवीन मानवीय संतुलन भरना चाहते हैं। आज के युग के कलाकार ने जीवन की चुनौती को स्वीकार कर लिया है। वह उसका सामना करने को अधिक ग्रहणशील, अधिक आत्मचेतन तथा अधिक समृद्ध प्रतीत होता है। सदेह की जिज्ञासा से भरी उसकी प्रत्येक पल बदलती हुई मुखाकृति पर उसके भावप्रवण हृदय का सघर्ष घने रुपहले कुहासे की तरह मँडराता रहता है। उसकी सवेदनशील तथा उत्तेजनशील नाड़ियों का जीवन उसके हाव-भावो से फूटकर मन को स्पर्श करता रहता है। उसका उद्वेलित भाव जगत विद्रोह और आत्मविश्वास के गर्जन से भरे गहरे आर्द्ररग के बादल की तरह घुमड़ घुमड उठता है जिसमे यत्र तत्र आशा उल्लास के, प्रेम और सौन्दर्य के इद्रधनुषी धब्बे जगमगा उठते है। जीवन की वास्तविकता का धूप-छाँह, उसका नैराश्य अवसाद, उसको करुणा-ममता, सुख-दु ख, मिलन-विछोह तथा उसकी गोपन आकाक्षाओ से आँखमिचौनी खेलते हुए उसकी वीणा के तार मर्म मुखर आवेशो मे काँपते रहते है। पौ फटने का-सा एक नीरव दीप्त मार्दव उसके अतर जगत मे देखने को मिलता है, जिसके नई सभावनाओ के क्षितिजों मे नई जीवन चेतना का प्रकाश जन्म ले रहा है।

यह आधुनिक काव्य का तरल अतरंग है,—उसके बहिरंग में भी आपको अद्भुत मौलिकता तथा विचित्रता मिलेगी। उसके रूप विधान, अभिव्यक्ति, प्रतीक प्रतिमानों मे सर्वत्र आपको नवीनता के दर्शन होंगे। प्राचीन काव्य मे सुख, सौन्दर्य, प्रेम तथा पूर्णता का प्रतीक स्वर्ग माना जाता था। नवीन काव्य मे वह धरती बन गया है। आज का कलाकार धरती को ही स्वर्ग में बदलना चाहता है। वह जीवन के यथार्थ से विमुख होकर, उसमे जो तुच्छ, घृणित, कुरूप है उससे पलायन कर, दु.ख-सघर्ष से आँख चुराकर मनुष्य को आस्था के लिए किसी काल्पनिक स्वर्ग की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह मानव के सुख-सौन्दर्य-कामी हृदय को अतर्मुख भावना की लँगडाहट से मुक्त कर, उसे कठोर वास्तविकता की भूमि पर आगे बढ़ने को प्रेरित करता है। वह देवों के बधिर श्रवणो के लिए प्रार्थनाएँ न लिखकर मनुष्य को ही अपने मनुष्यत्व मे भरा-पुरा बनने को ललकारता है। उसके लिए अब परिपूर्णता का प्रतीक देवत्व के स्थान पर मनुष्यत्व बन गया है। वह पदार्थ के भीतर से चेतना के गुणो की अभिव्यक्ति करना चाहता है। अदृश्य, सूक्ष्म आत्मा के बदले दृश्यमान आयामों की मिट्टी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर, एव आँधी तूफान मे कँपकर बुझ जाने वाली द्वीप-शिखा के बदले स्नेह की हथेली के समान मृण्मय दीपक को ही प्रतिमान मान कर जीवन के बहुमुखी सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। वह युग-युग के निषेधों तथा वर्जनाओं से भयभीत न हो कर, अपने आत्म-विश्वास से उन्हे अतिक्रम कर एव ऊर्ध्व रीढ, उन्नत मस्तक होकर, धरती के ऊबड-खाबड़ पदार्थ को अपने दृढ़ पैरों के तले रौंदता हुआ, उसे प्रशस्त, सर्वसुलभ, समतल वास्तविकता मे बदल देना चाहता है।

इस प्रकार उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति जीवन के अंचल में बँध गई है। उसकी भाषा बोलचाल के अधिक निकट आकर मर्मस्पर्शी बन गई है। भाव और अभिव्यक्ति के बीच अलकरण का व्यवधान मिट गया है, या सरल सुबोध बन गया है। छायावादी भाषा मे आदर्शवादिता का सस्कार तथा बौद्धिकता के प्रकाश का निखार था, आधुनिक कविता की भाषा में भावना के आवेश की ऊष्णता, तथा हृदय की जीती-जागती धड़कन मिलती है। पिछले कवियो की शैली मे सँवार-शृगार रहता था, नवीन कवियों की शैली से उनका स्वभाव झलक उठता है। कही-कही उनकी भाषा में जनपदीय बोलियों की सहज स्वाभाविकता, मिठास, तथा अनगढ़ लालित्य आ गया है। सूक्ष्म कुहासे मे झलमलाते हुए इंद्रधनुष के रंग, फूलों की स्पर्श-कोमल पखड़ियो में बँधकर अधिक मूर्त हो उठे है। उनकी आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, हास-अश्रु, सदेह-विश्वास तथा क्षोभ-विद्रोह—सबका अपना विशेष मूल्य एवं महत्त्व है, क्योंकि वे युगजीवन की बदलती हुई निर्मम वास्तविकता को सच्चे रूप में प्रतिफलित तथा उद्घोषित करते हैं।

प्रयोगशील काव्य

अज्ञेय जी ने "तार सप्तक" का सपादन कर हिन्दी पाठकों के लिए प्रयोगशील कविता का सर्वप्रथम सग्रह प्रस्तुत किया, किन्तु हिन्दी मे प्रयोगशील कविता छायावाद के युग से ही लिखी जाने लगी थी। प्रसाद जी ने 'प्रलय की छाया', 'वरुणा की कछार' आदि लिखकर वस्तु तथा छंद सबंधी नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। निराला जी ने मुक्त छद के अनेक रूप तथा शैलियाँ प्रस्तुत कर उसे निखारा और परवर्ती प्रयोगशील कवियो ने उसमे युद्धोत्तरकालीन जन भावना, विद्रोह, वैचित्र्य, नवीन वस्तु दृष्टि, व्यापक सौन्दर्य बोध, तीव्र उद्गार तथा अतृप्त रागात्मकता का समावेश कर उसे सब प्रकार से सँवारने तथा आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया।

क्लेसिकल अथवा प्राचीन काव्य मे हमे शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गभीर आकर्षण, चिरंतन मान्यताओ के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असंदिग्ध आग्रह मिलता है। उसमें एक ओर चरित्र की उदात्तता और दूसरी ओर वस्तु जगत का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है। छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया। वस्तु जगत का स्थान भाव जगत और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वाह्य वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का सौन्दर्य-पट बुना। प्राचीन काव्य मे भाव और वस्तु जगत में एक सतुलन तथा तादात्म्य मिलता है। छायावाद ने वस्तु जगत को अपनी भावना की तूली से रँग दिया।

प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप विधान में अति वैयक्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटाकर एक दूसरे प्रकार के कुहासे से मडित हो गया है और सूक्ष्म भाव जगत से हटकर फिर से स्थूल भावना की भूमि पर उतरना चाहता है। पर उस भूमि मे भूकप है, उसकी वास्तविकता बदल रही है, जिसका परिवेश नवीन काव्य को घेरे हुए है। उसके भाव और वस्तु जगत मे एक विरोध आ गया है। वह परिस्थितियो के भार से दबा जा रहा है, वह उन्हें सँभाल नही पाता, उनकी कारा को तोड कर वह आगे बढ़ना चाहता है। वह बाहर, सुदूर बाहर की ओर देख रहा है और अपने निकटतम से उलझ रहा है। इन्हीं के संबध मे अपने को समझना चाहता है। यह नवीन काव्य प्रभाववादी भी है, वह नित्य नवीन प्रभावो की छाया वीथियो मे चलता हुआ दिखाई देता है।

प्रयोगशील काव्य से हमारा क्या अभिप्राय है, क्या उसका कोई लक्ष्य है या वह केवल प्रयोग के लिये प्रयोग कर रहा है? क्या उसके लिए छंदहीन सृष्टि करना अनिवार्य

है ? क्या अतर्मुखी अंतश्चेतन छायावाद ही बहिर्मुखी अवचेतन प्रयोगवादी काव्य बन गया है ? प्रगतिशील काव्य की प्रेरणा का मुख्य स्रोत जिस प्रकार मार्क्सवाद रहा है क्या उसी प्रकार प्रयोगशील काव्य ने फ्रायड से प्रेरणा ग्रहण की है ? क्या वह युग की रागात्मिका प्रवृत्ति मे किसी प्रकार का नवीन सतुलन स्थापित कर सका है अथवा उसने हिन्दी कविता को वस्तु विषय तथा शैली की दृष्टि से कोई नवीन दिशा प्रदान की है । क्या मुक्त छंद केवल आलापोचित हैं, ऐसे अनेक प्रश्नो पर प्रयोगवादी काव्य के आलोचकों को प्रकाश डालने की आवश्यकता है ।

यदि अनुभूति ज्ञान की जननी है तो प्रयोग विज्ञान का जनक काव्य क्षेत्र में भी हमारे नवीन कवियो के प्रयोग युग की अस्तव्यस्त वास्तविकता को नवीन सतुलन की रूप रेखा देने मे एव आज की आक्रान्त भावना को नवीन मोड़ो तथा पगडडियो से आगे बढ़ाने मे सहायक होगे, इसमे मुझे सदेह नही, भले ही इस सबध मे हिन्दी आलोचकों मे अभी मतभेद हो । किन्तु इसमे भी मुझे संदेह नही कि प्रयोगशील काव्य अभी अपरिपक्व, अनुभव शून्य है तथा रीति काव्य की तरह वह भी मात्र एक अलकृत परिपाटी बनता जा रहा है ।

जीवन की सार्थकता

जीवन मेरी दृष्टि में एक अविजेय एव अपरिमेय सत्य तथा शक्ति है—देह, मन और प्राण जिसके अग एवं उपादान है, आत्मा जिसकी आधारशिला अथवा आधारभूत तत्व है और ज्ञान-विज्ञान जिसकी अतर्मुखी बहिर्मुखी नियामक गतियाँ है । प्रस्तुत वार्ता या निबध मे हम जीवन तथा विज्ञान के पारस्परिक सबंध पर बातें कर रहे है । विज्ञान जीवन ही की एक ज्योति अथवा शक्ति है अतएव जीवन ही का एक अग एव अश होने से, वह जीवन का आमूल अथवा तत्वत. परिवर्तन नही कर सकता, हाँ, उसके विकास में अवश्य सहायक हो सकता है । आज के युग मे हम विज्ञान को जिस प्रकार सर्वज्ञ अथवा सर्वशक्ति सम्पन्न मानने लगे है, यह धारणा निश्चय ही भ्रांत तथा भ्रामक है । विज्ञान पर इस अति-आस्था के दुष्परिणाम हमें प्रति दिन देखने को मिल रहे है । वास्तव मे हम यहाँ जब जीवन पर विचार कर रहे है तो हम मानव-जीवन पर विचार कर रहे है और उसी के सबंध मे विज्ञान की चर्चा करना संगत होगा । वैसे मानव जीवन से नीचे तथा ऊपर भी जीवन के अनेक स्थूल सूक्ष्म धरातल तथा स्तर है जहाँ भी ज्ञान विज्ञान की अनेक प्रच्छन्न सूक्ष्म रक्तवाहिनी सुनहली शिराएँ फैली हुई है ।

वास्तव मे मानव जीवन की सार्थकता इसमे है कि वह ज्ञान और विज्ञान में सतुलन स्थापित कर उन्हे जीवन के विकास मे यथोचित रूप से सयोजित कर सके । यदि हम मानव-जीवन के इतिहास पर दृष्टि डाले तो हम देखेगे कि विज्ञान के—जिसका तात्पर्य यहाँ मुख्यतः भौतिक विज्ञान से है—उदय होने से पहिले मानव-सभ्यता सामतयुगीन सीमाओं के अन्तर्गत एक संतुलन स्थापित कर चुकी थी और वह सतुलन, व्यापक दृष्टि से अपर्याप्त एव अपूर्ण होने पर भी, अपने सीमित अर्थ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा वैभव सम्पन्न रहा है । उस सतुलन ने अपने मस्तक पर मुकुट धारण कर बड़े-बड़े राज्यो की स्थापना की थी—उसने एक मूल्यवान जीवन-दर्शन को जन्म दिया था तथा अनेक नैतिक, चारित्रिक, व्यावहारिक सिद्धान्तों की रचना करके एक सामाजिकता तथा सस्कृति को जन्म दिया था, जिसे हम, उनके अनेक रूपों के वैचित्र्य को स्वीकार करते हुए, अब पुरानी दुनिया की व्यवस्था, पुरानी दुनिया की सभ्यता अथवा सस्कृति कह सकते हैं—जिस दुनिया का चरम विकास उसकी विशद धर्मप्राण मनुष्यता एव ईश्वर पर आस्था में हुआ था । इस पुरानी दुनिया में ऐसे ऋषि, महर्षि अथवा विचारक तथा तत्वद्रष्टा हुए जिन्होंने मानव-जीवन तथा मन के सागरों का मंथन कर अनेक अमूल्य, शाश्वत प्रकाश तथा उपयोग के मूल्यों तथा रत्नों का अनुसधान किया और मानव-देह तथा मन की जड़ता एवं सीमा को अतिक्रम कर जीवन को स्वर्गचुंबी व्यापक धरातल पर

प्रतिष्ठित किया और मनुष्यत्व को अतश्चैतन्य के अमर आलोक से मंडित कर उसे सार्वभौम व्यक्तित्व प्रदान किया। किन्तु यह सब होते हुए भी परानी दुनिया की अपनी अनेक दुर्निवार सीमाएँ रही है और मानवता के रथ को सार्वलौकिक प्रगति एवं कल्याण पथ की ओर अग्रसर कराने के लिए प्रबुद्ध मनुष्यो के मन मे निरन्तर ऊहापोह तथा सघर्ष चलता रहा है।

प्राचीन काल मे मानव अपने आदर्शो के स्वर्ग को केवल प्रबुद्धमन तथा विकसित भावना के ही धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे समर्थ हो सका। यदि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत अहता से मुक्त होकर अपनी भावना को सर्वभूतेषु चात्मानम् के व्यापक मनोमय क्षितिज तक व्याप्त अथवा प्रसारित कर सका तो वह उस युग के लिए मानव-जीवन की अतिम चरितार्थता अथवा सार्थकता या पराकाष्ठा समझी जाती थी। पर केवल मन या भाव के स्तर पर मानव एकता या जीव समता का अनुभव करना अंतश्चेतना से अनुप्राणित प्राणी या मनुष्य के लिए पर्याप्त नही था। वह उस मानवीय तादात्म्य को सामाजिकता के ठोस धरातल पर भी मूर्तिमान करना चाहता था। और उसके भीतर के इसी अविराम द्वन्द्व तथा संघर्ष ने उसके द्वारा भौतिक विज्ञान को जन्म दिया। मनुष्य ने अपनी भौतिक सीमाओ की जड़ता पर विजय पाने के लिए जड़जगत् के विन्यास का निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण करना प्रारम्भ किया और जड़ अणुओं के विधान तथा सघटन से वाष्प, विद्युत्, रश्मि तथा मूलभूत आणविक शक्ति का अन्वेषण कर उसे अपने नवीन जीवन-निर्माण के लिए उपयोग मे लाने के प्रयोग किए। प्रकृति की शक्तियो पर आधिपत्य प्राप्त करने के उसके प्रयत्न तब से अविराम रूप से चल रहे हैं। आज जो मानव-जीवन की परिस्थितियाँ पुन. सक्रिय हो उठी हैं और दिन पर दिन विकसित होती जा रही है यह विज्ञान ही के कारण सभव हो सका है। मानव-सभ्यता की एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटना इस युग मे औद्योगिक क्रान्ति रही, जिससे मनुष्य अपने जीवनोपाय एवं उत्पादन यत्रों की आशातीत उन्नति तथा अभिवृद्धि कर अपने रहन-सहन की जीवन प्रणाली मे मनोनुकूल रूपान्तर घटित कर सका है। देश और काल की दुर्लंघ्य सीमाओ पर अपने क्षिप्र गतिशील यानों द्वारा विजय पा लेने के कारण इस युग में पृथ्वी के अनेक देशांतरों के लोग दिन-रात एक दूसरे के घनिष्ट सपर्क मे आने लगे है। विभिन्न सस्कृतियों, जीवन-दर्शनो तथा जीवन-प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन तथा परस्पर के आदान-प्रदान के कारण मानवता के पिछले युगो के धार्मिक-नैतिक परपराओं के व्यवधान अब टूटने लगे है और ऐसा सभव दीखता है कि समस्त मानव-जाति देश-राष्ट्रगत विभाजनों से मुक्त होकर निकट भविष्य मे 'वसुधैव कुटुबकम्' की पर्यायवाची एक विराट् मानव-सस्कृति तथा विश्व-सभ्यता पृथ्वी पर स्थापित कर सकेगी और जिस मानव एकता तथा समानता का स्वप्न मनुष्य प्राचीनकाल से देखता आया है उसे अब सामाजिक जीवन तत्र के रूप मे धरती पर मूर्त करना सभव हो सकेगा। यह निश्चय ही संसार के प्रबुद्ध

मानसो का मानव भविष्य संबंधी स्वर्णिम स्वप्न है, किन्तु ससार की वर्तमान स्थिति इस संभावना के पथ में सबसे बड़ी बाधक बनी हुई है । इसका कारण यह है वैज्ञानिक युग के नवोत्थान के समय विज्ञान की शक्ति सर्वप्रथम जिन राष्ट्रो के हाथ आई है वे उससे शक्तिमत हो गए है और विज्ञान को रचनात्मक बनाने के बदले उसे लोक सहारक बनाने मे तुले हुए है । वास्तव मे बाहिरी परिस्थितियो के विकास के साथ ही भीतरी मानव अथवा मानस के उसी अनुपात मे प्रबुद्ध एवं विकसित न हो सकने के कारण आज विज्ञान द्वारा अर्जित सपत्ति को धरती के ओरछोर तक वितरित करने के बदले मनुष्य अपने व्यक्तिगत उपभोग तथा स्वार्थसिद्धि के लिए सचित करने लगा है और उसके भीतर का सामतयुगीन बौना मनुष्य उस शक्ति के बल पर मानव-जाति की प्रगति के पथ पर दुर्लंघ्य पर्वताकार दानव की तरह खड़ा होकर उसे रोकने की चेष्टा कर रहा है । इस प्रकार आज विज्ञान का अमृत मानव-जाति के लिए मद तथा विष बन गया है । और बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्र आज आपस का स्पर्धा के कारण लोकनियति का निर्माण करने के बदले भयानक विश्वसहारक अणुअस्त्रो का निर्माण करने मे सलग्न है। यह संकट आज ससार मे विज्ञान की एकागी उपासना के कारण ही उपस्थित हुआ है । किन्तु जैसा मै प्रारभ मे कह चुका हूँ जीवनशक्ति अमेय तथा अजेय है—वह अघटित घटना पटीयसी तथा अलौकिक चैतन्यमयी है । मनुष्य को ज्ञान और विज्ञान को सयोजित कर अपने मन क्षितिज को व्यापक बनाना ही होगा और इस प्रकार लोकोदय तथा सर्वोदय के लिए विज्ञान की जिस सजीवनी अमृतधारा का उपयोग करना चाहिए उसे वह अपने अधस्वार्थ के लिए अपनी मुट्ठी मे बद नही रख सकेगा, क्योकि तब वह आत्मघातक हलाहल में परिणत हो जायगी । इसमे सदेह नही कि जीवनी-शक्ति के पास अलौकिक चैतन्य के आलोक से परिपूर्ण महत् हृदय भी है जो उसका पथनिर्देश करता है और उसे भौतिक विज्ञान अथवा अतर्विज्ञान की सिद्धियो के पाश से मुक्त कर निरन्तर महत्तर क्षितिजों की ओर विकसित करता रहेगा, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है ।

———

लेखक और राजाश्रय

लेखक और राजाश्रय सबंधी समस्या पर विचार करने पर अनेक प्रश्न मन मे उठते है, पर इस सक्षिप्त वक्तव्य मे मै मूलभूत दृष्टिकोण के प्रति ही अपना मत प्रकट करना चाहता हूँ। जैसा है या होता आ रहा है उसे मै अधिक महत्त्व नही देता, जैसा होना चाहिए या हो सकता है उसी को मान्यता देता हूँ। इस दृष्टि से विचार करने पर मुझे लगता है कि वर्तमान काल मे लेखकों तथा राज्यसत्ता दोनो के बारे मे अनेक प्रकार की अतिरजित धारणाएँ फैली हुई है और उन दोनो मे एक मौलिक विरोध मान लिया गया है। लेखको की वैयक्तिक स्वतत्रता की धारणा वस्तुतः एक काल्पनिक धारणा है। जिस निरपेक्ष स्वतत्रता की कल्पना सामान्यत. लेखक के लिए की जाती है उसका अस्तित्व सम्भव नही, और जिस नियत्रण निर्देश आदि की आशका राज्यसत्ता के साथ जुड़ जाती है उसे अनिवार्य मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता।

वास्तव में हमारे देश मे लेखक और राजसत्ता दोनों ही एक लबे ह्रास और पराधीनता के बाद अब धीरे-धीरे अपने को पहिचानना सीख रहे है तथा लोक-कल्याण अथवा मानव-कल्याण के एक सुनिश्चित ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे है। यदि राजसत्ता जनता के प्रति अपने कर्तव्य का यथोचित रूप से निर्वाह करने मे सफल नहीं हुई है तो हमारा लेखक-वर्ग भी उससे अभी कोसो दूर है। इसमे मुझे कोई सदेह नही कि जिस प्रकार के साहित्य का आज सृजन हो रहा है उससे हम किसी प्रकार भी जनता का हित नहीं कर सकते। क्योकि उसमें जनता के जीवन, उनकी आशा-आकाक्षाएँ, उनके जीवन-संघर्ष का कही भी प्रतिफलन देखने को नही मिलता। हमारे बुद्धिजीवी साहित्यिक अपनी ही मध्यवर्गीय स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों, वैयक्तिक रुचियों एवं रागात्मक संवेदनाओं को अपने अतिवैयक्तिक भाव-सौन्दर्य तथा नि.सत्व कला बोध मे लपेटकर उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति दे रहे है। उसमे सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य, उसके उत्थान-पतन, ह्रास-विकास तथा वास्तविक समस्याओ का चित्रण नहीं के बराबर मिलता है। हम एक सफल साहित्यिक की तरह साहित्य-निर्माण के साथ लोक-मानव का निर्माण नही कर रहे है। जिस साहित्यिक धरातल से प्रेरणा ग्रहण कर आज हम साहित्य-सर्जन मे संलग्न है उसका हमारे जन-जीवन की वास्तविकता से दूर का भी नाता नही है।

ऐसी दशा मे मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है कि हमारे बुद्धिजीवी लेखकों एवं साहित्यिकों को राजसत्ता के संपर्क में अधिकाधिक आना चाहिए और परस्पर के सहयोग

से अपने राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक व्यापक, स्वस्थ तथा लोक कल्याणकारी दिशा की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सच है कि इस प्रकार के सबध से प्रारभ मे हमारे सौन्दर्यजनित सृजन स्वप्नो को धक्का लगेगा, वे स्वच्छदतापूर्वक पख पैलाकर नही उड सकेगे, किन्तु यदि हमारे साहित्यकारो मे क्षमता तथा सबल सृजन चेतना है तो वे धीरे-धीरे इस गतिरोध से उबर कर मानव तथा जनजीवन की ठोस अनुभूतियो से सपन्न होकर यथार्थ की ओर अग्रसर हो सकेगे। इससे उनमे शक्ति, स्फूर्ति तथा प्राणो का ही सचार नही होगा, वे लोक-जीवन को भी अपने महत्वपूर्ण विचारो तथा अनुभवो से प्रभावित कर सकेगे और जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट आ सकेगे। इसमे सदेह नही कि आधुनिकतम साहित्य जीवन की यथार्थ तथा आदर्श दोनो ही प्रकार की वास्तविकताओ से कटकर अत्यत भावस्थ, व्यक्तिगत तथा कूप गभीर हो गया है। राष्ट्र-जीवन, देश-जीवन तथा मानव-जीवन को प्रभावित तथा प्रेरित करने वाली व्यापकता तथा क्षमता का उसमे नितात अभाव मिलता है। ऐसी आकाश कुसुम कल्पनाएँ तथा भावनाएँ हिन्दी साहित्य में पहिले कही नही पाई जाती।

मेरा दृढ विश्वास है कि हमारे साहित्य को अगर अधिक उपयोगी तथा मानव निधि सपन्न होना है तो उसे शीघ्र ही व्यापक लोकजीवन तथा देश जीवन से घनिष्ट सपर्क स्थापित कर लेना चाहिए, जिसकी गतिविधियो की वर्तमान राजसत्ता ही नियामक है। छायावाद युग ने मानव-कल्याण तथा जीवन-सौन्दर्य की सभावनाओं की जो मोटी-मोटी रेखाएँ खीची हैं नए साहित्यकार को उनमे अधिक गहराई, विस्तार तथा विवरण भरना है जिससे उनमें अधिक व्यापकता तथा वास्तविकता आ सके।

मै साहित्यकार का कल्याण स्वतत्र रहने मे नही परस्पर निर्भर रहने तथा सयुक्त रहने मे देखता हूँ। लोक-जीवन का एक उद्बुद्ध छोर यदि साहित्यकार अथवा कलाकार है तो उसका दूसरा समर्थ छोर राजसत्ता है; दोनो ही परिणतियाँ लोकजीवन के विकास तथा कल्याण के लिए आवश्यक हैं। छायावाद समष्टि दृष्टि से जिसे विश्व जीवन कहता था आज के साहित्यकार के लिए वही विस्तार, विवरण तथा व्यष्टि समष्टिगत पूर्णता का प्रतीक लोकजीवन है। अत. नए युग-जीवन के ढाँचे मे इन दोनो का परस्पर का निकट सपर्क तथा सहयोग एक अनिवार्य मान्यता-सी बन गई है। भौतिक विज्ञान का इस युग मे जैसा विकास हुआ है और उसने मानव के बाहरी-भीतरी जीवन को जिस प्रकार प्रभावित कर उसके लिए एक नवीन चैतन्य पूर्ण धरा-जीवन सुलभ करने की सभावना का द्वार खोल दिया है उससे जन-समाज और जनतत्र दोनो ही का जीवन एक ही सत्य के पर्याय बन गए है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बुद्धिजीवी हो या श्रमजीवी इस युग मे राजसत्ता का ही अग है—और वह उसके अच्छे-बुरे प्रभावो से पलायन कर बच नही सकता। इसलिए इस युग के साहित्यकार के लिए यह और भी अनिवार्य

हो गया है कि वह राजसत्ता के सपर्क से बचने का प्रयत्न न कर उससे अपनी प्रबुद्ध बुद्धि तथा विकसित क्षमता के साथ जूझे—उसे भी झकझोरे और स्वयं भी जीवन मथन कर अपने को बदले—यही मुझे उसकी अवश्यभावी नियति प्रतीत होती है। मुझे राज्य सत्ता को मात्र शक्तिमद का प्रतीक मानना भावप्रवण, सवेदनशील साहित्यिक की हीन भावना तथा रिक्त भय का ही द्योतक मालूम देता है। अतः उसे अपनी शक्ति को पहचान कर उसे जाग्रत कर उसका सदुपयोग राजसत्ता की निरकुशता के नियंत्रण तथा लोक-सत्ता की सफलता के लिए करना चाहिए। क्योकि राजसत्ता को ही भरी पूरी बनाकर लोकसत्ता बनाना है।

हमारी रागात्मकता मे अभी मध्ययुगीन प्रभाव इतने गहरे है और सामत मानव इतने धीरे-धीरे मर रहा है कि आज सहज ही अनेक प्रच्छन्न पूर्वग्रहों के कारण हमारे चेतन मन मे अनेक प्रकार के वैषम्य, विरोध तथा आशकाएँ उठकर हमारे मानस को मरोड़ती ऐंठती रहती है और जीवन के सहज प्रवाह को ठौरठौर पर कुठित कर रोकती रहती हैं। पर यह तो कुछ ही दशको की व्याधि है, वर्तमान जीवन प्रवाह का अध्ययन यही प्रमाणित करता है कि भविष्य मे व्यापक सपन्न लोकजीवन और परस्पर निर्भर विश्वजीवन एक विराट् राजसत्ता या प्रजासत्ता के ही रूप मे चरितार्थ होगा और इस मानस मथन के परिणाम स्वरूप बुद्धिजीवी साहित्यकार तथा कलाकार के लिए उस विराट् जीवन के यथार्थ की अनुभूति को आत्मसात् करना सहज तथा सुखप्रद हो जायगा। वह उसी महान अस्तित्व का एक अधिक प्रबुद्ध तथा सवेदनशील अश या जीव होगा जिसके समस्त भीतरी, अतिवैयक्तिक, एकागी विरोध तथा विषमताएँ घुल-मिल कर महान विश्व-जीवन के बहिरतर-सतुलन के सौदर्य को वहन करने मे समर्थ हो सकेंगी।

ऐसी विश्व-संपन्न लोक-जीवन की स्थिति मे भी एक अधिक पूर्ण महत्तम चैतन्य के वाहक या गायक कलाकार के लिए अपनी ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण सदैव ही सुरक्षित स्थान बना रहेगा, जो उस दिग्-व्यवस्थित विशाल लोक-जीवन की धारा को और भी सुदरतर, सत्यतर तथा शिवतर सभावना की ओर बढने के लिए प्रेरित करता रहेगा। ऐसे महत् साहित्यकार के स्वातत्र्य की रक्षा राजसत्ता भी स्वयं अपने ही कल्याण के लिए करने मे अपने को धन्य मानेगी।

यह सच है कि हमारे देश की वर्तमान स्थिति मे साहित्यकार और राजसत्ता के पारस्परिक सपर्क तथा सहयोग को बनाने तथा बढाने में दोनो को ही अत्यन्त कठिनाइयो का सामना करना पड़ेगा, पर इस सकट स्थिति से तो परित्राण नही है, क्योंकि यह हमारे राष्ट्रीय तथा मानवीय-जीवन के विकास की एक अवश्यभावी निर्मम अवस्था या स्थिति है जिससे होकर ही हम आगे बढ़ सकते है। पीछे हटना तो पलायन, आत्म-विनाश तथा लोक-अमंगल का ही द्योतक है।

साहित्यकार की आस्था

आध्यात्मिक दृष्टि से आस्था अपने मे एक निरपेक्ष मूल्य है । वही गति और वही गंतव्य है । अर्थात् वह ऐसी शुद्ध आन्तरिक गति है जो स्वत· गतव्य तक ले जाती है या गतव्य बन जाती है । इसी अर्थ मे कहा गया है 'भवानी शकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास-रूपिणौ, याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्थमीश्वरम् ।'

पर साहित्यकार की आस्था साधारणतया अपने ही मे मूल्य नहीं कही जा सकती । बौद्धिक चेतना से उसका सबध होने के कारण उसमे बाह्य जीवन के भी अनेक मानसिक, भौतिक स्तर जुडे होते है । इस दृष्टि से वह निरपेक्ष मूल्य न होकर हृदय की गहराई या भावना की तीव्रता भर होती है, और यदि वह सन्मूल्ययुक्त होती है तो सदास्था अन्यथा असदास्था होती है । इस प्रकार साहित्यकार की आस्था एक सापेक्ष धारणा या प्रत्यय भर होती है । वह सौन्दर्य-प्रधान, आनन्द या रस-प्रधान, आत्मकल्याण या लोककल्याण-प्रधान आदि अनेक प्रकार की हो सकती है और अपनी व्यापकता तथा सत्यानुभूति के अनुरूप ही उसका मूल्य आँका जा सकता है । उदाहरणत· साहित्यकार की आस्था लोककल्याण-प्रधान होने पर भी उसका मूल्य कलाकार के समाज-ज्ञान, लोक-हितानुभूति आदि संबधी उसके गहन-व्यापक एवं उपयोगी दृष्टिकोण पर ही निर्भर करेगा । सौन्दर्य बोध, रस बोध, आत्मज्ञान, समाजज्ञान, देशकाल युग का ज्ञान आदि साहित्यकार की आस्था के तत्व कहलायेगे जिन्हें वह अपनी गहरी-उथली रसानुभूति, छोटी-बडी सृजन प्रतिभा, उच्च-मध्य स्तर की प्रेरणा के अनुरूप साहित्य सृष्टि में ढालेगा, जिसमे उसकी सूक्ष्म-स्थूल शिल्प दृष्टि का भी अवश्य प्रभाव रहेगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि आस्था अन्त.प्रेरणा तक ही सीमित नही है; वह अपने सृजन व्यापार में अनेक जटिल प्रणालियों से होकर मूर्त होती है । अपने आदर्श रूप मे आस्था को अत्यन्त सशक्त अन्त प्रेरणा होना चाहिये जो साहित्यिक सृष्टि के बाह्य उपादानो को कलाकार के आन्तरिक सत्य के अनुरूप संयोजित करने में सफल हो सके ।

वर्तमान युग मे, साहित्य मे आस्था मुख्यत: दो अर्थों में प्रयुक्त हो रही है, जिसके विवेचन में सभवत: आप अधिक दिलचस्पी रखते है । एक अर्थ में वह अन्ततः वैयक्तिक आस्था के रूप मे व्यवहृत हो रही है और दूसरे अर्थ में सामाजिक आस्था के रूप मे । इस दृष्टि से विचार करने पर 'ज्योत्स्ना' के बाद का मेरा समस्त साहित्य ही आस्था के इन रूपों पर प्रकाश डालता आ रहा है । और मैने वैयक्तिक तथा सामाजिक आस्थाओं को मानवीय आस्था से समन्वित एवं संयोजित करना साहित्यकार की दृष्टि से अपना कर्तव्य समझा है, क्योंकि व्यक्ति और समाज मानव सत्य के केवल दो छोर है जिनके मध्य

में वह निरंतर प्रवाहित एवं विकसित होता है। यह आज के युग की परिस्थितियों की विवशता है कि विचारक वर्ग अपनी-अपनी स्थिति एव सुविधा के अनुसार आज मानव सत्य के वैयक्तिक अथवा सामाजिक स्वरूप को अधिक महत्त्व दे रहे हैं।

एक ओर आज समाजवादी आस्था से अनुप्राणित साहित्य है जिसने अपने मूल्यों को मार्क्सवाद से ग्रहण किया है, जिस पर साम्यवादी देशों मे केवल मन के ही नही, जीवन के स्तर पर भी प्रयोग हो रहे है और जो धीरे-धीरे अपनी कट्टरपथी सीमाओ से बाहर छटपटाकर अब अधिक व्यापक तथा उदार रूप धारण कर रहा है। भविष्य मे उसे और भी अधिक मानवीय तथा मगलमय बनना है। समाजवादी प्रवृत्ति अभी भी अध प्रवृत्ति है, उसे अपना पथ प्रकाशित करना है,—उसके साथ लोक भावना तथा मानव भविष्य की आशा है।

दूसरी ओर आज वैयक्तिक आस्था का साहित्य मिलता है। यह वैयक्तिक आस्था प्राचीन आदर्श व्यक्तिवादी आस्था नही, जिसे विकसित व्यक्तिवाद की आस्था कहते हैं। यह वैयक्तिक आस्था आज हमारे साहित्य मे जनतांत्रिक (साम्यवादी) देशों से विभीत यूरोप के उन परम्परावादी तथाकथित बुद्धिजीवियो से ज्यो की त्यो उधार ली हुई आस्था है जो आज अपनी नाक के सिवा और कुछ नही देख पाते और जिस अनास्थारूपी आस्था का ये मानवतावाद के नये अधिनायक आज अस्तित्ववाद से लेकर साम्प्रदायिक धार्मिक पुनर्जागरण सबधी अनेकानेक, भीतर से खोखले पर बाहर से आकर्षक, सिद्धान्तों, दर्शनो एव साहित्यिक मान्यताओ के रूप मे प्रचार कर रहे है,—वह सत्यतः प्रतिगामी प्रयोग है।

सत्य की ऐसी बहुमुखी और बहिर्मुखी मान्यताओं एव आस्थाओं के युग मे, मुझे, मानवता के निर्माण एवं कल्याण के लिए, मानव-जीवन के भीतरी-बाहरी (अन्तर्व्यक्ति और बहि. समाजरूपी) दोनो संचरणो की प्रेरणा शक्तियों तथा मान्यताओं मे सामंजस्य स्थापित कर आगे बढ़ना ही विवेक-सम्मत प्रतीत होता है। सामजस्य का सत्य अपने में प्रेरणाप्रद तथा सक्रिय न होते हुए भी मानव-विकास की एक अनिवार्य स्थिति है जिसे सक्रान्ति काल मे आगे बढने के लिए सेतु या सोपान बनाना आवश्यक हो जाता है।

साहित्यकार की आस्था, निस्सन्देह, मनुष्यत्व के वैयक्तिक और सामाजिक आयामों से कही महत् एवं अमेय है, जो अपनी अन्तर्दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व, मानव-समाज तथा मानव-जगत् को अतिक्रम कर उन्हे सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मगलतर तथा पूर्ण से पूर्णतर की ओर ले जाकर उनका पुनर्मूल्याकन एवं पुननिर्माण कर सकती है।

मेरी सर्वप्रिय पुस्तक

कहते हैं इस युग मे मनुष्य का जितना ज्ञान वर्द्धन हुआ है, सभ्यता के इतिहास में उतना ज्ञान मनुष्य ने और कभी अर्जित नही किया। ऐसे युग मे मनुष्य लाख प्रकृति का प्रेमी हो और उसे पाषाण-शिलाओ, नदियो तथा प्रकृति के अन्य उपकरणों मे चाहे कितने ही प्रवचन लिखे हुए मिले, पर वह मानव ज्ञानवर्धन के आधुनिक साधनो, पुस्तको की उपेक्षा ही कर सकता, और शिक्षा तथा विद्वत्ता की होड के इस युग मे मैंने भी पुस्तकें अनेक पढ़ी है, कुछ का अध्ययन किया है, कुछ सरसरी दृष्टि से देखी है, और कुछ केवल उलट-पलट कर रख दी है। पर विचार और चिन्तनप्रिय होते हुए भी जिस पुस्तक ने मेरे हृदय को सब से अधिक मोहा है वह है कालिदास का 'मेघदूत'। वैसे कालिदास ने रघुवश, कुमार सभव और शकुतला जैसी प्रसिद्ध पुस्तके लिखी है जो कई दृष्टियो से मेघदूत से अधिक प्रौढ, सशक्त तथा काव्य-शिल्प की दृष्टि से सुथरी है। किन्तु जो मोहिनी मुझे मेघदूत की पक्ति-पक्ति मे मिली वह अन्यत्र नही सुलभ हो सकी। इसके अनेक कारण हो सकते है। मेघदूत भाव-काव्य तथा रस-काव्य होने के साथ ही चित्र-काव्य है। शुरू से ही प्रकृति के अद्वितीय चितेरे कवि ने उसमे एक के बाद एक जो प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण किया है उसने मेरे प्रकृति प्रेमी मन पर अपना सब से गहरा प्रभाव डाला है। मेघदूत को पढना मानो नैसर्गिक सौन्दर्य की विशाल रग-स्थली मे भ्रमण करना है, ऐसी रंगस्थली जहाँ आपके आँखो के सामने मानव-हृदय-स्पर्शी सुख-दु.खांत प्रेम का नाटक अत्यन्त स्वाभाविक रूप से घटित हो रहा है। एक से एक रमणीक तथा मनोमोहक दृश्य आपको आँखो के सम्मुख खुलने लगते है और आप अनजाने ही विस्मयाभिभूत तथा रस-विभोर हो उठते है।

मेघ को दूत बनाने की कल्पना ही कुछ बेजोड है। मेघ क्या है मानो मानव-प्रेम की संयोग-वियोग भरी करुण कोमल भावनाओं का मूर्त रूप है। ऐसा उन्मत्त, रग-विरगा, भावप्रवण, उदार, मनोमोहक, इद्रधनुष तथा विद्युत्, पावक से निर्मित, मयूरो के शुक्लापांगों से अभिनदित, राजहंसों के सौन्दर्य-पखो मे उडनेवाला बादल सभवत. और किसी भाषा के साहित्याकाश मे देखने को नही मिलेगा। ऐसे बादल के लिए 'धूम ज्योतिः सलिल मरुता सनिपात.' कहकर उसको सदेशवाहक दूत बनाने के लिए औचित्य खोजने की कहीं भी आवश्यकता नही प्रतीत होती, वह तो स्वयं ही जैसे जीता-जागता सदेश है। इस मेघ को प्रेम का दूत बनाने मे मुझे कवि की सबसे बड़ी मौलिकता का परिचय मिलता है। और सीधे उसे अपना श्रोत्र-पेय सदेश न सुनाकर 'मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूप' कहकर तो कवि जैसे आशातीत रूप से हृदय को विस्मय विमुग्ध कर देता है। और

फिर मार्ग-निरूपण मे अपने भौगोलिक ज्ञान का परिचय देते हुए, वह क्रमशः, एक के बाद एक, जिस प्रकार इस देश के सौन्दर्य-स्थलों का उद्घाटन करता है, उनका तो इस छोटी-सी वार्ता मे वर्णन करना ही सभव नही है । फिर भी 'रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्' जैसे शब्द चित्र तो जैसे मूर्तिमान होकर दृष्टि के सामने चिपक से जाते है । रास्ते मे मेघ को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस प्रकार के उपदेशों मे मुझे बड़ी ही आत्मीयता का परिचय मिलता रहा है । बादल जैसी एक वायवी वस्तु को ऐसा जीवत व्यक्तित्व कालिदास ही दे सकता है । साँझ होने से पहिले ही मेघ को महाकाल के मदिर मे जाने का आग्रह करना और उसका आरती के समय गरज कर नगाड़ा बजाना भी मेरे मन को लुभाता रहा है । 'नृत्तारभे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छा शातोद्वेगास्तिमित-नयन दष्ट भक्तिर्भवान्या' जैसी उक्तियाँ तो बादल का रूप ही जैसे बदल देती है । पूर्व मेघ मे ऐसे अनेक स्थल है जिनसे इस देश की उच्च मर्यादाओ एव सुरुचि से सपन्न वैभव-शाली सस्कृति का परिचय मिलता है । शिव की अत स्पर्शी कल्पना कालिदास को विशेष रूप से प्रिय है, उसका वर्णन कुमारसभव के अतिरिक्त मेघदूत मे भी अत्यत भाव-तन्मयता के साथ किया गया मिलता है। मेघदूत का अलका वर्णन भी साहित्य मे अद्वितीय है । प्रारभ मे ही इद्रधनुष तथा विद्युत् गर्जन भरे मेघ से अलका की तुलना कर कवि आपकी कल्पना को मोह लेता है । इस सघर्षभरे युग की थकान मिटाने को कौन मेघदूत की अलका मे कुछ देर विचरण करना नही पसद करेगा ? वहाँ शिशिर मथिता पद्मिनी के समान जो तन्वी श्यामा शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी यक्ष पत्नी है वह 'या तत्रस्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातु ' ही नही है कवि को भी युवतिविषये ऐसी मनोहर दूसरी सृष्टि सभवत अपने काव्य मे अन्यत्र नही मिलेगी जो एक साथ ही सौन्दर्य ममता करुणा हास और अश्रु की सजीव प्रतिमा है । नि सदेह मेघदूत कवि की अमृतवाणी है, जिसका प्रेम सदेश केवल वियोगी पति-पत्नियो को ही नही, मानवहृदय को भी सदैव सात्वना तथा शाति प्रदान करता रहेगा ।

———

छंद नाट्य

इन दिनों हम रेडियो नाटकों एव रूपकों के संबध में परामर्श करते रहे है। रेडियो नाटक के विकास, उसके प्रकार, उसकी आवश्यकताओं आदि अनेक उपयोगी विषयो पर हम चर्चा कर चुके है। मै आपसे, सक्षेप में, छद-नाटच या पद्य नाटच के बारे में कुछ कहना चाहूँगा, जिससे हम आगे इस विषय पर विचार-विनिमय कर सकें।

इसमे सदेह नही कि रेडियो द्वारा छद-नाट्य को विशेष प्रेरणा मिली है, अंग्रेजी में भी वह दिन पर दिन लोकप्रिय होता जा रहा है। साधारणत:, सामान्य रेडियो नाटको तथा रूपकों की जो विशेषता होती है और उनके लिए जिन उपकरणो की आवश्यकता है, वही सब विशेषताएँ तथा उपकरण छद नाटच की रचना तथा उसके प्रस्तुतीकरण के लिए भी चाहिए। किन्तु छद तथा गीति नाटच मे, मेरी दृष्टि मे, रेडियो नाटक और भी परिपूर्ण होकर निखर उठता है, या उसे निखर उठना चाहिए, जिसका कि कारण है। रेडियो नाटक दृश्य नही श्रव्य है, और शब्द के श्रव्य रूप को छदनाटच मे लय अथवा गीति-गति के पख मिल जाते हैं। उसमे शब्द ध्वनि अधिक मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक बन जाती है और यदि श्रोतावर्ग शिक्षित हो तो छद नाटच को वसती सामीर की तरह उसे भावोच्छ्वसित करने में समर्थ होना चाहिए। और यदि नाटक का विषय लोकप्रिय और भाषा सरल हो तो साधारण श्रोता वर्ग पर भी उसका जादू उतनी ही खूबी से चलना चाहिए। वर्तमान स्थिति मे उसकी अनेक सीमाएँ होते हुए भी भविष्य में उसके लिये अनेक नवीन संभावनाओ के द्वार खुले हुए है।

छंद नाट्य की सफलता के लिए मुख्य उपकरण विषय और उसका चुनाव है। विषय ऐसा होना चाहिए जिसमे अधिक मार्मिकता, गहराई, ऊँचाई या व्यापकता हो, जिसमें भावना की शक्ति और उड़ान के लिए स्थान हो, जो काव्य की भूमि पर अवतरित किए जाने योग्य हो। वैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, बौद्धिक, काल्पनिक, घटनात्मक आदि सभी विषयों पर छद नाट्य सफलतापूर्वक लिखे जा सकते है और लिखे गए है पर उन सभी नाटकों मे ऊपर कहे हुए गुणो का रहना उनकी शक्ति, प्रेषणीयता तथा सफलता की वृद्धि करता है। और लयात्मक ध्वनि के साथ गीत्यात्मक विषय का होना तो सोने मे सुगध का काम करता है। छद नाटच मे मार्मिक सघर्ष—चाहे वह भाव-मूलक हो या समस्यामूलक—होना नितात आवश्यक है, जिससे मानव-भावना और विचारो का मंथन, उनका आरोह-अवरोह श्रोता के हृदय को स्पर्श कर सके। बौद्धिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्याएँ भी छंद नाटचों के लिए उपयुक्त विषय बन सकती है और श्रोताओं के मन में स्वस्थ मानव मान्यताओं के बीज बो

सकती है। किन्तु समस्यामूलक अथवा मान्यता प्रधान नाटकों को लिखने में अनेक प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम यह कि नाटक में उठाई हुई समस्या कोई वास्तविक अथवा यथार्थ समस्या हो जिसका सबध व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व या समाज के जीवन से हो। वह अति काल्पनिक, अति बौद्धिक या अति वैयक्तिक न हो। दूसरा जिन विरोधी चरित्रों तथा विचारधाराओं द्वारा उस समस्या को प्रस्तुत किया या सुलझाया गया हो, वे व्यक्तित्व सजीव तथा मानवीय हों और वे विचारधाराएँ स्पष्ट और सतुलित हो, गूढ़ तथा तर्क ग्रथित न हो। छद नाट्य के सलाप छोटे और चुभते हुए हों, भावो और विचारों की प्रेषणीयता के साथ ही यदि उनमे उक्ति वैचित्र्य, स्वाभाविकता तथा सरलता हो तो वे मर्म को स्पर्श करते हैं। भाषा की सरलता तो उनका अनिवार्य गुण है। जितना ही कठिन विषय या गूढ समस्या हो उतनी ही सरल सीधी भाषा द्वारा उसे प्रस्तुत करना आवश्यक है,——जो अत्यन्त कठिन कार्य है। इसीलिए बहुत से छंद नाट्य छन्दों के चुनाव और भाषा की दुरूहता के कारण प्रसारण के लिए असफल होते है। छद नाट्य के लिए छंदो का सम्यक् चुनाव अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे छंद होने चाहिए जिनकी गति मे प्रवाह और वेग हो, जो बहुत मथर न हो, जो छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त किए जा सके और जिनके अंत में गुरु लघु मात्राएँ यथासभव न हों,——जिससे कथोपकथन का क्रम भंग न हो। इस प्रकार आप देखेगे कि छद नाट्य की सफलता के लिए विषय निर्वाचन के साथ ही सरल भाषा, उपयुक्त छंद, तथा नपे तुले सवादों का प्रयोग अपनी विशेष महत्ता रखता है, जो छद नाट्य को अर्थ ग्राह्य तथा लोकप्रिय बनाने के लिए अति आवश्यक है। लबे-लबे सलाप जिनमे जटिल तर्क या भाषण हों श्रोताओ के मन को विरक्त कर देते है। सलापों में छोटे-छोटे वाक्य तथा सरल सुबोध शब्द होने चाहिए जिससे उन्हे कहने मे वक्ता की साँस न टूटे और शब्द सुविधापूर्वक मुँह से निकल आएँ। धारावाहिकता के लिए अतुकात छंद अधिक उपयुक्त हैं और मुक्तछद का प्रयोग भी विशेष सफलता के साथ किया जा सकता है।

भाषा छद और सलापो के अतिरिक्त हमे अन्य आवश्यक बातों पर भी ध्यान रखना पड़ता है। छंद नाट्य का कथानक छोटा किन्तु प्रभावोत्पादक होना चाहिए। कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना, व्यक्तित्व, सामाजिक सास्कृतिक समस्या, रागात्मक अथवा मान्यताओं सबधी भावभूमि, जिसका व्यापक गभीर धरातल हो और जिसमे कथातत्व का निर्वाह किया जा सके, छद नाट्य के लिए उचित वस्तु तत्व प्रदान करते है। कथा मे उद्वेलन, प्रगति और विकास अवश्य हो, नही तो कोरी भावुकता अथवा उपदेशों की निष्क्रिय नीरसता से नाटक की रोचकता नष्ट हो जाती है। यदि कथानक मे चित्रात्मकता हो तब तो वह श्रोता के मन मे अनायास ही अपना रगमच बना लेता है। कथा मे देश-काल संबंधी एकता, स्वाभाविकता और सगति का होना भी नाटकीय गुणो को उभारता है; अधिक आलकारिक, काल्पनिक तथा प्रतीकात्मक कथानक उतना प्रभावपूर्ण

नही होता । छद नाटच की अवधि अधिक लंबी नहीं होनी चाहिए । अधिक से अधिक एक घटे तक का नाटक अपने श्रोताओ को आकर्षित करने में सफल रहता है । और चूँकि छद नाटच मे अधिक माधुर्य, भावोद्वेग तथा रस-सचार होता है और उसे श्रोताओ को अधिक सजग होकर मनोयोगपूर्वक सुनने की आवश्यकता पड़ती है, ऐसी दशा मे अधिक लबी अवधि का नाटक मन मे ऊब तथा क्लाति पैदा कर सकता है । पात्रो की सख्या भी छदनाटच मे कम ही रहनी चाहिए । मुख्य पात्र का व्यक्तित्व आकर्षक होना चाहिए और विभिन्न पात्रो मे वैचित्र्य या विरोध भी काफी उभरा, निखरा तथा स्पष्ट होना चाहिए । उनके संलापों तथा स्वरों में भी व्यक्तित्व के अनुरूप विशेषता तथा विभिन्नता रहने से श्रोताओ को समझने में सुविधा होती है ।

इसके अतिरिक्त छद नाटच के भी अन्य रेडियो नाटको की तरह कुछ विशेष महत्व-पूर्ण आलंकारिक उपकरण होते हैं जिनके अभाव में उसकी रोचकता मे कमी आ जाती है । उन उपकरणों मे प्रथम हम सगीत की चर्चा करेंगे । संगीत में छद नाटच के प्राण है । सगीत का प्रयोग छदनाटच के प्रभाववर्द्धन, उसकी रोचकता तथा अर्थ प्रस्फुटन के लिए अत्यावश्यक है । इसका प्रयोग कई रूपों मे किया जाता है । प्रारम्भ में नाटक के समग्र भाव तथा उसके आतरिक तत्व को तदनुरूप संगीत द्वारा व्यक्त करना आवश्यक होता है, जिससे श्रोताओ का मन उनके बिना जाने ही नाटक के भाव या मूड (mood) को ग्रहण करने के लिए तैयार हो सके । अत का संगीत सदैव नाटक के प्रभाव को परि-पूर्णता प्रदान करने मे सहायक होता है । इसके अतिरिक्त नाटक के मध्य मे भी दृश्यान्तर उपस्थित करने के लिए समय-गति की सूचना देने के लिए, तथा प्रतीकात्मक भावों एव अर्थ गाभीर्य का प्रस्फुटन करने के लिए सगीत की सहायता ली जाती है । कभी-कभी विराम से भी दृश्यान्तर आदि का भाव, जोकि रगमच मे पट-परिवर्तन से होता है, श्रोताओ के मन मे पैदा किया जाता है । छंदनाटच मे कभी पृष्ठभूमि का सगीत भी भावबोध वर्धन के लिए बड़ा सहायक होता है । करुणा, व्यथा, भय, हर्ष, आश्चर्य, भावावेश आदि को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक रूपों में अनेक प्रयोजनो से उसका प्रयोग तथा उपयोग किया जाता है ।

सगीत के बाद अलकृत उपकरणो मे ध्वनि प्रभाव का स्थान है, जिसके बिना रेडियो नाटच और छद नाटच कभी-कभी निष्प्राण एव प्रभावशून्य हो जाते है । ध्वनिप्रभाव अपने अदृश्य सकेतो द्वारा वास्तव मे रगमच की कमी की पूर्ति करता है और कभी रगमच के दृश्य श्रोता की आँखो के सामने ज्यो के त्यों उपस्थित कर देता है । जैसे गौतमबुद्ध जब रथ पर जाता हुआ नदी तट पर पहुँचता है तो रथ चक्रों के साथ घोड़ों के टापों की ध्वनि तथा नदी के प्रवाह की ध्वनि का प्रभाव देकर उस दृश्य को श्रोताओं के सम्मुख मूर्त कर देते हैं । इसी प्रकार आँधी, तूफान, मेघ गर्जन आदि से लेकर पावों की चाप तथा किवाड़ो

पर खटखटाहट आदि, और इससे भी सूक्ष्म सिसकने, साँस लेने, साडी के खिसकने आदि का ध्वनि प्रभाव देकर ध्वनि नाटको मे अनेक घटनाएँ, क्रियाएँ तथा भावों का उतार-चढ़ाव, मच की दृश्य सज्जा तथा अभिनय का अभाव मिटाने के लिए, सजीव एव मूर्तिमान कर दिये जाते है । इसमें सदेह नही कि संगीत और ध्वनिप्रभाव रेडियो नाटक और विशेषत. छदनाटच के एक अनिवार्य अग है जिनकी सहायता के बिना कभी-कभी ध्वनि नाटक का प्रस्तुतीकरण असभव भी हो जाता है, किन्तु यह होते हुए भी, संगीत और ध्वनि प्रभावो का प्रयोग जितना कम हो उतना ही रेडियो नाटच की अत शक्ति, शुद्धि और सिद्धि के लिए अच्छा है । सगीत और ध्वनि प्रभावो का आधिक्य अनाकर्षक, अरोचक तथा प्रभावहीन हो जाता है । एक सफल ध्वनि और छद नाट्य के भीतरी उपादान स्वयं इतने सशक्त तथा प्रभावोत्पादक होने चाहिए कि उसके प्रस्तुतीकरण मे दृश्यान्तर, कालसूचक आदि कुछ आवश्यक स्थलो के अतिरिक्त सगीत और ध्वनि प्रभावो की कम से कम आवश्यकता अनुभव होनी चाहिए । ध्वनिप्रभाव की ही तरह वाचक या नेरेटर का उपयोग भी रेडियो नाटक मे नितात आवश्यक स्थलों के अतिरिक्त नही के बराबर होना चाहिए, वैसे रेडियो रूपको या गीति नाट्यों के लिए वाचक-वाचिका का बहिष्कार संभव न हो सके ।

रेडियो छद नाटच की रचना-कला तथा प्रस्तुतीकरण के सबध मे सक्षेप मे थोड़ी सी आवश्यक चर्चा कर लेने के बाद अब मै आपसे कुछ बाते छद नाट्य के श्रोताओ के बारे मे तथा प्रसार कक्ष और यंत्रों के सबध मे भो कह दूं ।

छद नाट्य के श्रोता वैसे साधारणत कम ही होते है । क्योकि छद की अभिजात प्रकृति में गाभीर्य, सस्कार, सौन्दर्य, भाव तथा विचार सबधी सूक्ष्मता स्वभावत ही अधिक होती है जिसे ग्रहण करने के लिए मन को किसी प्रकार की साहित्यिक या बौद्धिक पृष्ठभूमि और एक प्रकार की कला-दीक्षा किसी न किसी मात्रा में आवश्यक हो जाती है । फिर उसे सुनने के लिए मनोयोग, रुचि, अभ्यास आदि भी आवश्यक होते हैं । छद नाट्य के गहन विषयों के प्रति अधिकतर लोगो का रुझान, या पहुँच नही के बराबर होती है । जनसाधारण की धारणा नाटकों के प्रति प्राय. मनोरजन तक ही सीमित रहती है । इसके अतिरिक्त बड़ी राजधानियों और औद्योगिक केन्द्रो के श्रोतागण छद की झकार से परिचित होने पर भी बाह्य जगत जीवन के प्रभावो से मनसा इतने आक्रांत रहते है कि उन्हें छंद के लिये अतःकेन्द्रित होने मे प्रयास करना पडता है । वैसे प्रयाग, काशी जैसे सास्कृतिक नगरों की परंपरा में सुन्दर छद नाटच का लोग विशेष रूप से स्वागत करते हैं । उनकी सास्कृतिक सौन्दर्यग्राही नाड़ियाँ छंद के शक्तिपात की अभ्यस्त होती हैं । फिर भी मेरा विचार है कि ऐसे सरस सुबोध छंद नाटच प्रस्तुत किए जा सकते है जो अधिक लोक-प्रिय बन सके ।

ध्वनि नाटक के लेखक के लिए प्रसार कक्ष के वातावरण, प्रस्तुतीकरण की पद्धति तथा उसके उपादान-यत्रो का परिचय प्राप्त करना भी कुछ अंशो तक आवश्यक है जिससे वह ध्वनि नाटक की रचना-कला के लिए अपनी कल्पना के अनुसार आवश्यक रूप-विधान प्रस्तुत कर सके। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि नाटककार किसी प्रकार के यान्त्रिक भार से आक्रान्त होकर नाटको की रचना करे। छद-नाटककार के लिए तो यह और भी कठिन हो जाता है। फिर भी रेडियो नाटक एक प्रकार से साहित्य को विज्ञान अथवा यत्र की देन है। सस्कृति के प्रसार के लिए हम रेडियो मे साहित्य और विज्ञान दोनों साधनों का उपयोग करते है। रेडियो द्वारा लिखित शब्द फिर से श्रव्य शब्द बन कर लोगों के कानों मे पहुँचने लगा है, यह नाटक की सफलता के लिए रगमच प्रस्तुत करने से कम उपयोगी नही है। श्रव्य शब्द द्वारा एक प्रकार से शब्द शक्ति रगमच की अनेक सीमाओं को पार कर श्रोताओ के मानस मे अमूर्त रगमच रचती हुई हमारे हृदयो को अत्यधिक सशक्त तथा अद्भुत रूप से प्रभावित करने लगती है, और यही रेडियो नाटक की सफलता है जिसके अतर्गत मै आपसे अभी छद नाट्य के बारे मे अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ।

यह सही है कि रेडियो नाटक अभी हमारे लिए एक नया कला साधन है, उसकी सिद्धि के लिए अधिक रचना-अनुभव तथा उपकरणो का ज्ञान अपेक्षित है। फिर भी अन्य भारतीय भाषाओ की तरह हिन्दी मे भी इधर जो रेडियो नाटक, रूपक तथा छंद-गीति-नाट्य लिखे गए है उन्हें पढकर, सुनकर यह नि.सदेह कहा जा सकता है कि भविष्य मे ध्वनि नाटक साहित्य और संस्कृति के विकास तथा प्रसार के लिए, रगमंच के नाटक से कई दृष्टियो मे अधिक सफल तथा सबल साधन बन सकेगा, क्योंकि यह रगमच और रगभूमि की सीमाओ को पार करता हुआ अपनी नई सीमाओं के भीतर से भी सीधा देश के कोने-कोने मे हमारे कानों के भीतर पैठकर हमारे हृदयो को अभिभूत कर सकता है। हम अपनी ही कल्पना से अपनी रुचि के अनुकूल अमूर्त रगमंच बना कर और अनेक पात्र-पात्रियो मे अपनी चेतना को विभाजित कर इस श्रव्य नाट्य के सजीव सूत्रधार, पात्र और अग बन जाते है। इससे अधिक विजय की कल्पना कला के लिए और क्या की जा सकती है? ध्वनि नाटक के लिए निश्चय ही अधिक परिष्कृत रुचि की आवश्यकता है।

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर विचार करते समय इतिहास कल्पना की आँखों के सामने आगे बढने लगता है। वर्तमान के गर्द-गुबार से भरे अपने सघर्षशील कदम मिलाती हुई देश की चेतना सामूहिक विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है। पीछे की ओर देखने पर, सदियो की पराधीनता एव मध्य युगीन ह्रास के विषाद से मुक्त होकर, नवीन राष्ट्र का जीवन, कुहासों से निखरते हुए प्रभात की तरह, चुपचाप दृष्टि को आकर्षित कर लेता है, और, आज की जटिल परिस्थितियो एव भयानक वास्तविकताओं का जगत भविष्य की अनेक सुनहली सभावनाओं मे खुलकर सहसा मन के सम्मुख उद्भासित हो उठता है।

राष्ट्रभाषा के निर्माण के लिए आज हमारे चारो ओर जहाँ प्रचुर प्रशस्त सामग्री बिखरी पड़ी है वहाँ उसके पथ मे अनेक विघ्न-बाधाएँ भी खड़ी है। पहिले मै उन अभावो अथवा बाधाओं की चर्चा करूँगा जिनसे आज हिन्दी को सघर्ष कर शक्ति संचय करना है। वे बाधाएँ एक प्रकार से बाधाएँ नही, किन्तु अपने देश की विगत ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक एव मानसिक स्थिति के कारण वे हमे, आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उतावली मे, सकट की स्थितियो-सी प्रतीत होती है। किन्तु गभीरतापूर्वक विचार करने पर वे समस्त सकट एव अभाव राष्ट्रभाषा को दैन्य मुक्त करने के लिए खाद अथवा पोषक तत्वो की तरह काम मे लाए जा सकते है।

सब से मुख्य, अत जानने योग्य, बात जिसे बाधा भी कहा जा सकता है—हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के सबध मे यह है कि उनमे ससार के पिछले दो-ढाई सौ वर्षों के जीवन के विराट् क्रिया-कलापों एव विचारधाराओं को नही के बराबर वाणी मिली है। और ये दो-ढाई सौ वर्ष विश्व-सभ्यता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए है, जिनमे मानव-सभ्यता एव सस्कृति का इतिहास बहुत आगे ही नही बढ गया है, उसमे मौलिक परिवर्तन तथा, जीवन-मान्यताओ की दृष्टि से, छोटी-बड़ी क्रातियाँ भी घटित हो चुकी है। यह लंबा युग वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग के नाम से पुकारा जाता है, जिसका रगमच विशेषत पश्चिम अथवा योरोप मे रहा है। समस्त एशिया तो तब हारे-थके साँड़ की तरह रोमथ अथवा पिष्ठपेषण कर ही रहा था, हमारा देश भी तब दासता के बंधनों में जकडा हुआ अपने महान सास्कृतिक ह्रास के अंधकार मे भटक रहा था। और यहाँ जो जागरण की प्रेरणा आई वह एक विदेशी सभ्यता के संपर्क तथा विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा आई है। इस प्रकार दो-ढाई सदियों का विश्व-जीवन एवं मानस-संचय हमारी भाषाओं मे यदि थोड़ी-बहुत मात्राओं मे अभिव्यक्त हुआ भी

है तो वह बासी-तिबासी छाया के रूप मे छनकर। जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को अत्यन्त निर्धन, परिक्षीण तथा श्रीहीन पाते है। अपने इन सब सालों की सजधज को लेकर भी वे आज पश्चिमी भाषाओं की तुलना मे, कटाक्ष-कौशल-शून्य, भोली-भाली, और सभवत भौंड़ी, गाँव वालियो-सी प्रतीत होती है। यह ऐतिहासिक सयोग भाषा ही की दृष्टि से नही, भौतिक सास्कृतिक दृष्टि से भी एक बड़े भारी हीन भाव तथा कुठा के रूप मे हमारे मन मे जम गया है और इन पराधीनता की सदियों मे उसके मूल हमारे भीतर इतने गहरे पैठ गए है कि आज स्वाधीनता मिलने पर भी हम उन्हे उखाड़ कर बाहर फेकना तो दूर रहा, उन्हे हिलाने मे भी समर्थ नहीं हो सके है। अन्यथा अपने राष्ट्र-गौरव, स्वाभिमान एव जनैक्य की कल्पना के विरुद्ध हम एक विदेशी भाषा को अपनी राष्ट्रीय एकता का मिलन-तीर्थ बनाए रहते, यह किसी दृष्टि से भी संभव नही होना चाहिए था।

अतएव राष्ट्रभाषा के पथ मे सबसे बड़ी बाधा, मेरी समझ मे, हमारी हीन भावना है, जिसके कारण हम अपनी भाषाओ को नही अपना पा रहे है। अग्रेजी को तुरत हटाने मे जितनी भी बडी व्यावहारिक कठिनाई हमारे सामने हो, हिन्दी के लिए मनसा स्थान बनाने मे आज उससे भी बड़ी कठिनाई हमे प्रतीत हो रही है, और हमारी यह आत्म-पराजय तथा कुठित अनिच्छा अनेक वितडावादों का प्रतारक रूप धारण कर रही है। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि भाषा का सबध केवल संपन्न अभिधान, शब्द-सग्रह अथवा अभिव्यक्ति की क्षमता से ही नही होता, उसका उससे भी कही गहरा संबध हमारी सास्कृतिक परपराओं, हमारे जीवन-दर्शन तथा जातीय विकास के इतिहास से होता है। और समुद्र -पार से उधार ली हुई एक विदेशी भाषा को आकाश-लता की तरह ऊपर से ओढ लेने से हम अपनी जन सकुल एवं मानस उर्वर भूमि को मौलिक, प्राणप्रद तथा प्रेरणाप्रद समस्त शक्तियो का विकास रोके हुए है।

इस दैन्य तथा कुठा से शीघ्र ही मुक्त होकर हमे अपने विश्वविद्यालयों में अग्रेजी को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए और उच्च कक्षाओ मे अग्रेजी पढ़ाने के लिए अग्रेज शिक्षको को नियुक्त करना चाहिए, जिससे हमारे देश मे अग्रेजी का स्तर नीचे न गिरने पाए, और एक ऐसे बहुविधि सपन्न अतर्राष्ट्रीय माध्यम के समुचित उपयोग से हमे वंचित न रहना पड़े। वैज्ञानिक शब्दों को अग्रेजी से ज्यों का त्यो हिन्दी मे लेने के बदले उनका बहुत हद तक हिन्दीकरण करना अधिक सगत होगा और यह हिन्दीकरण विशेषत ध्वनिसगीत की दृष्टि से करना उचित होगा, क्योकि हर पॉच-दस साल के बाद हजारों नए वैज्ञानिक शब्द पैदा होते रहेगे और पुराने शब्द बासी पड़ जाएँगे। इस प्रकार इतने विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने का साहस करना किसी भी भाषा के लिए असंभव एव गाल फुलाना-मात्र होगा। इस समय पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण के सबंध मे कुछ मौलिक लचीले नियमो को निर्धारित कर लेने के बाद हमारी समस्त साहित्यिक संस्थाओं,

विश्वविद्यालयों, राज्यों तथा केन्द्रीय शासन को नवीन शब्दो को गढने के प्रारभिक प्रयोग उत्साह तथा लगन के साथ करने चाहिए । पीछे उन शब्दों को भाषा-निर्माण की सृजनात्मक कसौटी मे कसकर उनका समुचित रूप निश्चित किया जा सकेगा, एव उनकी कृत्रिमता तथा अपरिपक्वता दूर हो सकेगी । शासन तथा शिक्षा-क्षेत्र मे हिन्दी को अधिक से अधिक अवसर देकर उसका निर्माण करना हिन्दी प्रान्तो का विशेष उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य है, जिससे व्यावहारिक क्रिया-कलापो के क्षेत्र मे भी हिन्दी की पैठ तथा प्रयोग हो सके । इन प्रयोगों का तात्कालिक अथवा प्रारम्भिक रूप जो भी हो उसमे भले ही ५० प्रतिशत अग्रेजी या इतर भाषाओ के शब्द क्यो न हो, इससे हमे विचलित नही होना चाहिए । क्योकि जब तक सभी क्षेत्रो मे हिन्दी के लिए प्रयोग के द्वार नही खुल जाएँगे वह शिल्प-विधान की दृष्टि से नही पनप पाएगी और न विचारों की दृष्टि से ही लोक मानस मे प्रवेश कर घर कर सकेगी ।

वैज्ञानिक युग का अभी समारभ भर हुआ है । सच्ची वैज्ञानिक चेतना आज के अधकचरे बाहरी वैज्ञानिक प्रयोगो से अभी बहुत दूर है । हिन्दी को विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने के लिए समस्त वैज्ञानिक शब्दावली को आत्मसात् करना उसके लिए उतना आवश्यक नही जितना कि उसके लिए वैज्ञानिक चेतना के भावी विकास मे सहायक होना है । आज तक की ऐतिहासिक शक्तियो के वितरण को देखते हुए यह विकास केवल पूर्व और पश्चिम के सामजस्य से ही सभव हो सकता है । जिस महती भूमि पर आगे मानवता पदार्पण करने जा रही है यदि उस जीवन को हिन्दी वाणी दे सकी तो पिछली दो-तीन सदियो की तर्कबुद्धि को चमक तथा अर्धवैज्ञानिकता की तड़क-भड़क से वचित होकर भी वह भविष्य मे विश्व-भाषाओ के वृत्त मे अपने को सकीर्ण परिधि अथवा केन्द्रशून्य नही पाएगी । जिन भाषाओं की वीणा मे भविष्य की मानवता के विकास के योग्य प्रेरणा-शक्ति तथा चैतन्य होगा वही भाषाएँ भविष्य की भाषाएँ होगी । और हमारी एक विश्व की कल्पना भी भाषाओ तथा सस्कृतियो के वैचित्र्य से विहीन नही रहेगी ।

इस हीन भावना के दुर्लंघ्य विन्ध्य को लाँघ जाने के बाद हिंदी के सामने जो छोटी-मोटी उलझने रह जाती है, उन्हे बाधाएँ नही कहा जा सकता । इनमें पहिली उलझन है हमारी प्रादेशिक भाषाओ सबधी, जिसे हम भाषा साप्रदायिकता या प्रांतीयता सबंधी अस्थायी पूर्वग्रह भी कह सकते है । यह उलझन, अपनी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकताओ को सामने रखते हुए, केवल हमारी मध्ययुगीन पार्थक्यवादिता अथवा पृथक रहने की प्रवृत्ति ही कहलाई जा सकती है, जिसे मिटाने के लिए हमे समय, धैर्य, सदभाव तथा पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है । जैसे-जैसे हमारे ह्रासयुग के सस्कार छूटते जाएँगे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एव सामूहिक सगठित शक्ति की भावना हमारे भीतर बढ़ती जाएगी, उपर्युक्त भेदजनित पूर्वग्रह भी अपने आप

कोमल पड़कर विलीन होते जाएँगे। आज की परिस्थिति मे हम बाहर से प्रचार कर तथा ऊपर से हिन्दी को लाद कर अपने देश के मध्यकालीन मानस-स्तर पर दबाव नही डाल सकते। बाह्य बल पर आश्रित हमारे सब प्रयत्न निष्फल होने के साथ ही हमारे प्रान्तीय पूर्वग्रहो को और भी कटु एव कठोर बना देंगे। अत भाषा सबधी आन्तरप्रादेशिक समस्या का हल केवल परस्पर के सद्भाव, विश्वास, सास्कृतिक आदान-प्रदान तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर ही निर्भर है। जिसके लिए हमे सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक प्रयत्नो की आवश्यकता है जो हमारे पुरातन साम्प्रदायिक मानस के नवीन राष्ट्रीय एकता मे ढलने का इतिहास होगा, जो पुन काल अपेक्षित, धैर्य अपेक्षित और सर्वोपरि सत्प्रयत्न अपेक्षित है।

दूसरी छोटी सी उलझन हिन्दी उर्दू की है जिसका क्षेत्र सीमित है, और जो मुख्यत· उत्तरप्रदेश की समस्या है, जो हिन्दी उर्दू वालो के पूर्वग्रहों के कारण और भी उलझ गयी है। इसमे सदेह नही कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई हिन्दी अधिक से अधिक उर्दू के शब्दो को ग्रहण कर सकेगी। उन दोनों के बोलचाल के स्तर मे तो समानता है ही, गद्य तथा पद्य साहित्य के स्तर पर भी दोनो का सम्मिश्रण, न्यूनाधिक मात्रा मे बराबर होता जा रहा है। सास्कृतिक दृष्टि से, पिछली समस्त सस्कृतियो को नवीन मानवता के धरातल पर आरोहण करना है, जो मध्ययुगीन हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो के लिए भी लागू है। लिपि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश मे राज-कार्य के लिए प्रारंभ मे नागरी के साथ आवश्यकतानुसार उर्दू या अरबी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार केन्द्र मे रोमन लिपि को भी स्थान दिया जा सकता है। छापे की सुविधा के अनुरूप तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ध्वनियों की दृष्टि से भी नागरी लिपि मे थोड़े-बहुत परिवर्तन किए जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी प्रादेशिक भाषाओं के लिंग मुहावरो एवं वाक्य-विन्यास सबधी विचित्रताओ का समावेश हिन्दी मे किया जा सकता है। काल के प्रवाह मे घुलमिल कर आगे इनमे भाषा के नियमों के अनुसार स्वर सगति बैठायी जा सकेगी। और 'लड़की जाता है' के स्थान पर लोग 'लड़की जाती है' कहना ही पसद करेंगे, तब क्रियापदो मे स्त्रीत्व की कोमलता एव लालित्य का प्रभाव उनके कानो का नया अभ्यास बन जाएगा, और वह उनके लिए नवीन नंदतिक उपलब्धि होगी।

अब मैं संक्षेप में उन उपकरणों तथा शक्तियो का भी दिग्दर्शन कराऊँगा जो हिन्दी के भावी प्रवाह मे अनेक प्राणप्रद धाराओ की तरह सम्मिलित होकर उसमें गति, गाभीर्य, व्यापकता आदि भरेंगे। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उत्तरापथ की प्राय: सभी उन्नत भाषाएँ संस्कृत से शक्ति सचय करती है और दक्षिण की भाषाओं मे संस्कृत का प्रयोग यथेष्ट मात्रा मे होता है। सस्कृत की पृष्ठभूमि हमारी सभी भाषाओं को मिलाने

के लिए एक सबल संयोग तथा स्थायी साधन और संपत्ति है। उत्तर प्रदेशीय दृष्टि से हिन्दी में छाया-वैचित्र्य भरने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियों से सहायता लेना भले ही ठीक हो किन्तु आंतरप्रादेशिक दृष्टि से उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही साम्य तथा व्यापकता लाने मे इस समय सहायक होगा। और पचास, सौ, या दो सौ साल बाद जब चयन तथा सस्कार का युग आएगा तब भाषा-विज्ञान, सारल्य, ध्वनिसगीत आदि सभी दृष्टियो से भाषा को नवीन अभ्यासों एवं अभिरुचियो के अनुरूप सुधारा-सँवारा जा सकेगा। तब तक अन्य प्रान्तो की प्रतिभाएँ भी हिन्दी के माध्यम से सृजन कर उसे प्रादेशिक सस्कारो के रुधिर से उर्वर तथा सपन्न बनाने मे सफल हो सकेंगी। आज की हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तो की रुचियाँ युगपत् बदल कर एव अधिकाधिक सार्वदेशिक होकर तब एक-दूसरे के सन्निकट आ जाएँगी। वह चयन का युग नवीन प्रेरणाओं एव नदतिक बोधों से चालित होने के कारण राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप निर्माण का युग होगा।

दूसरा शक्तिशाली प्रभाव जो हमारी भाषाओ मे सामजस्य स्थापित कर उनको राष्ट्रभाषा के रूप मे समन्वित कर सकेगा वह है हमारे विभिन्न साहित्यो की सास्कृतिक चेतना की एकता। हम अनेक भाषाओ के माध्यम से एक ही संस्कृति को वाणी दे रहे है, जिसका अर्थ है कि हमारे बीच किसी प्रकार का आतरिक व्यवधान नही है। शिल्प, रूप-विधान तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी हमारे प्रेरणाओ के स्रोत एक ही है। अतः अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की चरितार्थता एव सास्कृतिक व्यक्तित्व की पूर्णता के हेतु हमारे लिए अपनी अनेक सपन्न भाषाओं के साथ हिन्दी को एक सार्वजनिक भाषा के रूप मे ग्रहण करना कठिन नही होगा। हिन्दी के भावी रूप को गढ़ना वास्तव में देश के बच्चो की भावी पीढ़ी को गढ़ना है, जिनकी कोई भाषा नही होती।

वर्तमान परिस्थितियों मे राष्ट्रभाषा का बलपूर्वक प्रचार करने के बदले हमे सत्संकल्प पूर्वक हिन्दी का निर्माण तथा सस्कार करना चाहिए। हमें सार्वभौम भाषा का संगठन करने के बदले सार्वभौम मानस का सगठन करना चाहिए। हमे अपने सास्कृतिक सचय को साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा नए युग के अनुरूप ढालना चाहिए। अपने देश के विभिन्न वैयक्तिक, प्रादेशिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक मतों तथा वादों में व्यापक सामजस्य स्थापित कर उन्हे एक दूसरे का विरोधी न बनाकर पूरक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की धारणा, अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म तथा विविधता के वैचित्र्य से भरी-पुरी धारणा है। उसे यात्रिक न बना कर हमे अधिक से अधिक व्यापक, नमनीय तथा स्वरसगतिपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। क्योकि राष्ट्र भाषा राष्ट्रमानस भी है, जिसके लिए राष्ट्र जीवन का अत.सगठन ही दूसरा पर्याय है।

हमे एक राष्ट्रभाषा अवश्य चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक तथा

भौतिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। एक भाषा--जिसमें करोड़ों कंठ धरती और आसमान कह सके, असख्य आँखे जिसके दर्पण मे फूल का मुख, चाँदनी की स्वच्छता, तथा ऊषाओं-संध्याओ का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्रो हृदय जिसकी झकारो से गीतो-छदों मे मुखरित हो उठे, और अनेक मानस जिसका गभीर आह्वान तथा जाग्रत् जीवन सदेश सुनकर आलोकित हो उठे।

हिन्दी का भावी रूप, वह केवल शब्द शिल्प का ढेर, सुन्दर वाक्य योजना, तथा व्याकरण का सुगठित विधान ही नही है। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, हमारी मानसिकता का विकसित-व्यापक संतुलन, वर्तमान प्रान्तीय-वर्गीय अभ्यासों तथा अभिरुचियों से ऊपर हमारी सामाजिक-सामूहिक चेतना का मानवीय-एकीकरण एवं संयोजन है। क्योंकि भाषा के साथ, फूल, पत्तों, चाँद-सितारो के साथ ही, हमारी परपरागत मूल्य मर्यादाएँ, विकासशील चेतना की संभावनाएँ तथा पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता हुआ जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर चुकने के बाद उसे अपनाने एवं उसका निर्माण करने के लिए हमे किसी प्रकार के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, केवल वर्तमान परिवेश मे एक व्यापक सामंजस्य, एक वृहत्तर संयोजन भर स्थापित करने की आवश्यकता है।

आज की जटिल परिस्थितियों से निखरती हुई हमारी राष्ट्रीय जीवन-चेतना के साथ आज के मानसिक ऊहापोहों में उलझा हुआ हमारी राष्ट्रभाषा का भावी रूप भी अपने संपूर्ण अतश्चैतन्य तथा सर्वांगीण बाह्य वैभव के साथ प्रस्फुटित तथा विकसित हो सके, हमारे मानवीय विकास के लिए यह सामाजिक कामना आज की आवश्यकता की एक अनिवार्य कड़ी है।

मेरी मनोकामना का भारत

मेरी मनोकामना का भारत ! मन मे प्रश्न उठता है, क्या हम आज सचमुच भारत के रूप मे, भारत ही के लिए सोचते है ? क्या आज मानव-मन देश-देशान्तर के अंतराल को अतिक्रम नही कर चुका है ? क्या आज एक विश्व-जीवन, एक भू-जीवन अथवा एक मानवता की सुनहली कल्पना हमारे मन मे अस्पष्ट आकार ग्रहण नही कर रही है ? आज का विज्ञान ज्ञात-अज्ञात रूप से जिसकी सुदृढ़ नींव डाल रहा है, आज की राजनीतिक आर्थिक सस्थाएँ जिसके विराट् भवन की रूप रेखाओ का ढाँचा निर्माण करने में अप्रत्यक्ष रूप से सलग्न है, आज का दार्शनिक जिसके शुभ्र शिखर पर मगल कलश स्थापित करने के स्वप्न देख रहा है और आज का कवि एव कलाकार जिसमे मासल रंगों का वैचित्र्य तथा अकृतिम सौंदर्य भरने की साधना में लगा हुआ है,—वह एक मानवता की कल्पना तथा एक भू जीवन का स्वर्ग ही तो है ।

हाँ, निश्चय ही, आज जब हमारी मनोकामना का द्वार खुलकर भारत के भविष्य को अथवा उसके भावी रूप को आँखों के सामने उद्घाटित करना चाहता है तो वह वास्तव मे भावी विश्व जीवन और भावी मानवता के ही चित्र का अनावरण कर रहा है । भूत विज्ञान की सहायता से आज मनुष्य देश अथवा दिक् प्रसार को अतिक्रम तथा हस्तगत कर एक दूसरे के सन्निकट आता जा रहा है और विभिन्न देशों तथा राष्ट्रों की जीवन-रचनाएँ अथवा शासन-विधान परस्पर आर्थिक-राजनीतिक सबध स्थापित कर अनिवार्यतः एक विश्व सत्ता अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता का अंग बनती जा रही है । निकट भविष्य मे मनुष्य को बृहत्तर ज्ञान की सहायता से काल के व्यवधान को भी अतिक्रमण करना है, और अतीत के गहरे गर्तों से ऊपर उठकर, इतिहास की कुहासे की भित्तियों को छिन्न-भिन्न कर, जातियो, धर्मों, रीतियों, रूढ़ियों के छोटे-बड़े अंधकार भरे कक्षों तथा खँडहरों से बाहर निकल कर, एक महत्तर शिवतर मानव-संस्कृति के प्रांगण में समवेत होना है ।

भारत का, अथवा किसी अन्य देश का, भविष्य की विराट् मानवता के निर्माण मे आत्म-दान अथवा आत्म-प्रसार ही उसका वह वरेण्य रूप होगा जिसकी कि आज मन कामना करता है । मानव-सभ्यता का संघर्षों, युद्धों, विद्रोहों एवं विप्लवों से भरा हुआ इतिहास, व्यापक दृष्टि से मानव-विकास की एक अवश्यंभावी अनिवार्य अवस्था अथवा स्थिति भर थी । मनुष्य का मन पृथ्वी के जीवन के अंधकार को टटोलता हुआ, धीरे-धीरे परिवारों, संघों, संप्रदायों, देशों तथा राज्यो के अनुरूप विभिन्न आचार-विचारों तथा जीवन-प्रणालियों में संगठित एवं विकसित होकर अब एक एसी स्थिति पर

पहुँच गया है जहाँ उसकी चेतना इतिहास के इन छोटे-मोटे घेरों में बँधकर नही रह सकती है । वह अपने अतीत की सीमाओं के बंधनों को तोड़कर विश्वऐक्य तथा लोक-साम्य पर प्रतिष्ठित बृहत्तर मानवता के आदर्श को अपने जीवन मे चरितार्थ करना चाहता है ।

प्रश्न यह है कि भारत मानवजाति के इस स्वप्न को साकार करने में किस प्रकार सहायता कर सकता है ? क्या वह अपने को स्वय वसुधैव कुटुम्बकम् का मूर्तिमान उदाहरण बना सकता है ? यदि हाँ तो वह किस प्रकार ? साधारणत यह सुना जाता है कि भारतवर्ष आध्यात्मिक देश है । वह ऐहिक तथा लौकिक जीवन के विरुद्ध---अथवा उसका निर्माण करने मे अक्षम, पारलौकिक अतीन्द्रिय ध्येय से अनप्राणित, असीम के भार-हीन बोझ से दबा हुआ, अपनी सीमाओं से अनभिज्ञ, यथार्थ से शून्य, शाश्वत आनद का अभिलाषी तथा मनुष्य के प्रति विरक्त और देवताओ के प्रति आसक्त है । किन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह केवल हमारे मध्ययुगीन ह्रास की विचार-धारा है, और जब भी सभ्यताएँ अथवा सस्कृतियाँ ह्रास की ओर उन्मुख होती हैं तब मनुष्य के मन मे जीवन के प्रति विरक्ति, नैराश्य, अवसाद की भावना तथा अदृष्ट पर विश्वास घर कर लेता है । यदि सचमुच ही भारत की आध्यात्मिकता की आधारशिला यही थोथी दार्शनिकता होती तो वह पूर्वकाल मे इतनी विशाल सस्कृतियो तथा जीवन-सौन्दर्य से पूर्ण कलाओ को जन्म नही दे पाता । भारतवर्ष आध्यात्मिक देश अवश्य रहा है और अब भी है; और सभवत. यह उसका अन्तर्जात स्वभाव या गुण होने के कारण, आगे भी, वह आध्यात्मिक ही रहेगा । पर उसकी यह आध्यात्मिकता क्या है, उसका वास्तविक अर्थ जान लेना अत्यत आवश्यक है, क्योकि वही उसके भावी व्यक्तित्व की भी कुजी है । और उसकी आध्यात्मिकता, मध्ययुगो के अधकार से मुक्त होकर, यदि अपने मौलिक रूप मे प्रकाशमान हो सकी तो वह समस्त विश्व-कल्याण के लिए भी एक अमूल्य अक्षय देन होगी ।

इसमें कोई भी सदेह नही कि प्रत्येक देश, जाति या मनुष्य अपने ही भीतरी स्वभाव तथा अंतश्चेतना की दिशा मे विकास पाकर प्रगति कर सकता है । और भारत भी अपने भावी राष्ट्र-निर्माण के लिए दूसरा मार्ग नही ग्रहण कर सकता । वर्तमान काल में विश्व-शक्तियो का जिस प्रकार विभाजन हुआ है उसे देखकर, ज्ञात-अज्ञात रूप से, भारत उसी व्यापक ध्येय से अनुप्राणित भी हो रहा है । भारतीय चिन्तकों तथा मनीषियों का सदैव से यह अनुभव रहा है---और अपने ह्रास तथा अंधकार के युगों में भी वे इसे पूर्णत. नही भुला सके हैं---कि बहिर्मुखी यथार्थ के सत्य पर ही मानव-जीवन आधारित नही है । वही मानव का पूर्ण सत्य नही है और बाहरी शक्तियों के ही इंगित पर मानव-जीवन का संचालन नही किया जा सकता, और न वह मात्र बाह्य आदर्शों से प्रेरित होकर कल्याण के पथ की ओर ही अग्रसर हो सकता है । भारत भौतिक शक्तियों की महत्ता तथा उपयोगिता

को स्वीकार करता है पर उन्ही को सपूर्ण सत्य नही मानता। उसे बाह्य जगत के अतिरिक्त मानव के अतर्जगत की शक्तियों का भी अनुभव तथा ज्ञान है। उसका मानस-जीवन प्रसार से ऊपर और भी सूक्ष्म प्रसारो पर विचरण करना जानता है। उसे बुद्धि तथा मन के शिखरों के पीछे और भी उच्च ज्योतिर्मय सत्य के शिखरों का अस्तित्व-बोध है। अतएव वह मनुष्य के समतल जीवन की पूर्णता तथा सार्थकता के लिए मानव-चेतना की ऊर्ध्वमुखी शक्तियो का उपयोग भी आवश्यक समझता है, जिनके समन्वय तथा सामजस्य से ही उसकी दृष्टि मे लोक-कल्याण की साधना सभव हो सकती है। किन्तु इस ऊर्ध्व आध्यात्मिक उड़ान को भी भारत के मानस ने संपूर्ण सत्य कभी नही माना है, क्योकि कोरी आध्यात्मिकता इस धरती पर केवल शून्य के बल पर नही पनप सकती। इस असीम से परिणीत आध्यात्मिकता के साथ ही भारत वर्ष के पास अत्यत प्रबल तथा प्रखर बौद्धिकता तथा जीवनान्दमयी उर्वर प्राणशक्ति भी रही है। अपनी बहुमुखी बौद्धिकता से उसने मानव-जीवन के सत्य का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसे युग-युग के अनुरूप अनेक नियमों, दर्शनो तथा सामाजिक विज्ञानों में सँवारा है। और अपनी प्रचुर अक्षय जीवनी शक्ति तथा नव नवोन्मुखी प्रतिभा के कारण उसने सदैव सृजन-शील रहकर अनेकों कला-कौशलो को जन्म दिया है। आज गाँधी जी के लोकोत्तर व्यक्तित्व के रूप में भारत के उस सुप्त मानस सचय का पुनर्जागरण हुआ है। वह फिर से जाग्रन् तथा सक्रिय होकर नयी दिशाओं की ओर प्रवहमान हुआ है और उसने वर्तमान विश्व समस्याओं का अध्ययन कर उनके भीतर से अपना गंतव्य खोजना आरम्भ कर दिया है। आज के जन जीवन सहारकारी युद्धों की संभावनाओ मे समस्त संसार के मध्य भारतवर्ष विश्व शान्ति की धरोहर रूपी हिमालय की तरह अपने ध्येय पर अटल रहेगा, इसमें मुझे सदेह नहीं है। भारत को सदैव मेरे मन ने विश्व के मानस सचय के रूप मे अथवा ज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में देखा है। उसके शारद व्यक्तित्व की कल्पना मेरे भीतर शाति, ज्योति, मानव प्रेम तथा जीवन सौन्दर्य की सुनहली रेखाओं से मडित होकर उतरी है। आज भारतवर्ष के भविष्य के संबध में अनेक प्रकार की धारणाएँ विचारवान लोगों के मन मे उठ रही है। बहुतों का विश्वास है कि भारत के पूर्ण विकास तथा उन्नति के लिए लोक साम्य तथा न्याय पर आधारित एक व्यापक सामाजिक विधान की आवश्यकता है जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक शोषण एवं असंगतियों से पूर्णतया मुक्त होगा। इस मत से मै पूर्णतः सहमत हूँ। मैं भारतवर्ष को सर्वप्रथम अन्न वस्त्र से भरा-पुरा, प्रसन्न तथा जीवन-मासल देखना चाहता हूँ, जिससे वह और भी मनोयोगपूर्वक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। पश्चिम से जो समाजवादी आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताएँ हमे मिली हैं उनका उपयोग तथा प्रयोग हमे अपनी परिस्थितियों की आवश्यकताओ के अनुरूप अवश्य करना चाहिए। इस दृष्टि से हमारी मध्ययुगीन अनेक धार्मिक-साप्रदायिक

प्रवृत्तियाँ हमारी उन्नति के पथ में बाधक बन सकती है, जिनको हमें पूर्ण शक्ति से रोकना चाहिए। बहुत से लोग अभी हमारे देश मे अतीत के ग्राम जीवन और सस्कृति का पुनर्जागरण चाहते है। इसमें सदेह नही कि ऐसे भावुक व्यक्ति आज देश का हित करने के बदले उसकी प्रगति के पथ मे कॉटे ही बो रहे हैं। इन मे से जो पुराने ढग के धार्मिक विचार के लोग है वे कुछ जीर्ण शीर्ण नैतिक आदर्शों तथा रूढ़ि-रीतियो मे पथराए हुए आचारों को ही मानव-जीवन की निधि तथा सर्वस्व समझ बैठे हैं। ऐसे लोगो से भी सतर्क रहने की हमे आवश्यकता है। जो विचारक यह मानते है कि हमे अपने अतीत की परंपराओं मे जो सर्वश्रेष्ठ है उसे ग्रहण तो करना चाहिए किन्तु साथ ही मानव सभ्यता के विकास मे प्राप्त नवीन मानसिक तथा भौतिक शक्तियो का भी नवीन भारत के जीवन-निर्माण मे उपयोग करना चाहिए, वे मुझे सत्य के अधिक निकट लगते है।

वास्तव में, हमारे देश पर समय-समय पर इतनी विदेशी सस्कृतियों तथा सभ्यताओ के प्रभाव पडे हैं कि हम उन सब के स्वस्थ तत्वों को आत्मसात् कर एक नवीन सभ्यता तथा सस्कृति को जन्म दे सकते है। किन्तु इसके लिए हमें अपने मध्ययुगीन सकीर्ण दृष्टिकोणों तथा अनुर्वर पूर्वग्रहों से ऊपर उठना पड़ेगा और साथ ही आज के बहिर्मुखी विश्व जीवन मे जिस अंतःसंतुलन की कमी है उसकी पूर्ति भी हमें अपनी आध्यात्मिक अतर्दृष्टि से करनी पड़ेगी। जो लोग आज के नवीन भौतिकवाद की शक्तियों का आँख मूँद कर अनुकरण करना चाहते हैं वे भी भावी मनुष्यत्व के सत्य से वचित हैं क्योकि यह नवीन भौतिकवादी दृष्टिकोण आज पश्चिमी देशों की जीवन समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत करने में असफल सिद्ध हो रहा है जहाँ कि इसने जन्म लिया है। यह दृष्टिकोण विश्व युद्धों को तो जन्म दे ही रहा है, यह पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के ह्रास का भी परिचायक है। इसका कारण यह है कि पश्चिम मे इस युग में बहिर्जीवन या भौतिक जीवन के विकास के अनुपात मे अतर्जीवन अथवा आध्यात्मिक जीवन का विकास नही के बराबर हो सका है। विज्ञान ने बाह्य प्रकृति की विराट् प्रच्छन्न शक्तियों का उद्घाटन कर जो नवीन जीवनोपयोगी साधन मनुष्य को सौपे हैं उनके अनुरूप मानसिक तथा आत्मिक विकास न हो सकने के कारण मनुष्य उनका समुचित उपयोग नहीं कर सका है और वे उसके हाथो की निर्माण-शक्ति को बढ़ाने के बदले सहार की शक्ति को ही बढ़ा रहे है। वास्तव में विज्ञान ने अभी तक मनुष्य के लिए जितनी निर्माण-सामग्री प्रस्तुत की है उसकी तुलना में विश्व विध्वसकारी अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि कही अधिक परिमाण में हुई है, जिनकी संहार शक्ति से आज धरती पर से मानव सभ्यता एकदम ही विलुप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि भौतिक विज्ञान के अभ्युदय के कारण युग-युग से निष्क्रिय मानव-जीवन की परिस्थितियाँ नवीन शक्तियों का सजीवन पाकर अत्यधिक सक्रिय हो गयी है और उनके आधार पर आज संसार में अनेक प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक आन्दोलन मानव-सभ्यता के लिए एक नवीन सामाजिक

ढाँचा निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे है। किन्तु मानव-समाज की जीवन-शैली परिवर्तित करने वाले इस प्रकार के बाहरी प्रयत्न मनुष्य चेतना का सस्कार कर उसे कोई नवीन दिशा नही दे पा रहे है। एक ओर मनुष्य की चेतना इन विश्व परिवर्तनो से सशकित होकर एव अपने पूर्व सकीर्ण जीवन अभ्यासों मे सगठित होकर और भी व्यक्तिपरक तथा निर्मम होती जा रही है और दूसरी ओर वह सामूहिक अहता के विद्रूप बोझ से दबती जा रही है। ऐसी अवस्था मे इन आर्थिक-राजनीतिक सघर्षो मे स्वस्थ मानवीय सामजस्य एवं सतुलन लाने के लिए आज एक व्यापक सांस्कृतिक सचरण की परम आवश्यकता है जो मानव-चेतना के अंतर्मुखी विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर सके और मनुष्य के अतर्जीवन को सँवार कर उसे सत्य के पूर्णतर रूप मे प्रतिष्ठित कर सके।

ऐसे सास्कृतिक आदोलन के नेतृत्व के लिए मै भारत को सब तरह से उपयुक्त मानता हूँ। क्योकि मानव के अंतर्जगत का ज्ञान प्राप्त करने तथा अत साधना करने की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव रहा है। उसने यथार्थ के गरल के साथ सत्य के अमृत का भी पान किया है और उसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व एक प्रकार से मनुष्य के अमृतत्व का प्रतिनिधित्व करता आया है। जीवन की नवीनतम वास्तविकता का ज्ञान अन्य देशो से सचय कर वह उसे सार्वभौम कल्याण के लिए अधिक व्यापक तथा उन्नत दिशाओं की ओर प्रवाहित कर सकता है और एक ऐसी सर्वांगपूर्ण संस्कृति को जन्म दे सकता है जो मनुष्य के विवेक, उसके सौन्दर्य-ज्ञान तथा उसके नैतिक संबोध के साथ ही उसकी प्राणशक्ति तथा दैहिक जीवन की आवश्यकताओ को भी पूर्णतया सामंजस्य की दिशा में प्रस्फुटित कर सके। ऐसे प्रयत्न इस युग मे अवश्य ही एकदेशीय प्रयत्न बन कर नही रह सकते। उनकी सफलता के लिए अन्य देशों का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है। किन्तु इस युग मे एक ऐसे सांस्कृतिक विश्व संचरण की अनिवार्य आवश्यकता है जो मानव-जीवन के बाहरी ढाँचे को बदलने के साथ ही उसके मनोविन्यास का भी रूपान्तर कर सके, इसमें मुझे रत्ती-भर सदेह नहीं है।

वास्तव मे विज्ञान ने मानव जीवन को सुख-संपन्न बनाने के लिए जिन संभावनाओं का द्वार हमारी आँखों के सामने खोल दिया है उन्हें हम इसीलिए चरितार्थ नहीं कर सकते है कि विज्ञान ने प्रकृति का जिस प्रकार उद्घाटन किया है उसी प्रकार वह मानव चैतन्य के सत्य का उद्घाटन नही कर सका है। यह मनुष्य के संबंध में केवल उसके जैविक अस्तित्व बोध की वृद्धि कर पाया है जो उसके पूर्ण अस्तित्व का केवल छिलका भर है। मानव सत्य का कोई ऐसा रूप वह हमारी आँखो के सामने खड़ा नही कर पाया है जो मानव मे प्रेम, ज्ञान, सौन्दर्य तथा आनद की परिपूर्णता के ध्येय को, अथवा उसकी आत्मा की चिर अतृप्त पिपासा को शांत कर, चरितार्थता प्रदान कर सके। भौतिक विज्ञान हमे अन्न, वस्त्र, आवास तथा आवागमन की सुविधा देता है किन्तु किसके लिए? वह कौन सा, कैसा, सस्कृत, अत:स्थित, प्रबुद्ध मानव है अथवा होगा जो इन सुविधाओं का

उपभोग तथा सरक्षण करने मे समर्थ होगा ? उस मनुष्य के मनुष्यत्व के बारे में विज्ञान एकदम चुप है । जब तक इन बृहत्तर सुविधाओं एव ऐश्वर्यों के उपकरणों के साथ उस मनुष्य की भी रचना या सृष्टि नही होगी जो उन्हे कृतार्थता प्रदान कर सकेगा तब तक हमारे सामाजिक निर्माण के प्रयत्न विफल तथा असम्भव ही से रहेंगे । अतएव जब मै भारत की आध्यात्मिकता की बात कहता हूँ तो मेरा अभिप्राय उस आध्यात्मिकता से है जो मानव-जीवन के सत्य का अथवा उसकी आत्मा का पूर्णतम उद्‌घाटन कर उसे सर्वांग विकसित इकाई के रूप मे प्रतिष्ठित कर सके । एक ऐसी आध्यात्मिकता जो मनुष्य के बौद्धिक, मानसिक, प्राणिक, कायिक तथा उसके भौतिक अस्तित्वों के जीवन को सर्वांगपूर्ण सक्रिय सामजस्य में सँवार कर उसे सुदर से सुदरतर, शिव से शिवतर तथा सत्य से बृहत्तर सत्य की ओर ले जा सके । यह एक अधविश्वास मात्र है जो हम ऐसा समझते है कि आध्यात्मिकता केवल अभाव, दारिद्र्य तथा जीवन के प्रति विरक्ति तथा वितृष्णा के जगल ही मे फूलती-फलती है और यह भी एक अपवाद-मात्र है जो कहते है कि आध्यात्मिकता जीवन संघर्ष से दूर कही हिमालय की चोटी पर या शून्य आकाश मे निवास करती है । वास्तव मे अध्यात्म मानव-जीवन का ही पूर्ण दर्शन है, उसमें मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान मिलता है और वह इसी पृथ्वी पर मानव जीवन को पूर्ण रूप से चरितार्थ करने की शक्ति रखता है ।

मै तरुण भारत की आँखो मे इस नवीन मानव-सस्कृति के स्वप्नों का सौन्दर्य देखना चाहता हूँ । उसके मुक्त हृदय की धडकन मे व्यापक और उच्चतर भावनाओ के संगीत की झकार सुनना चाहता हूँ । मै उसके सौम्य आनन मे नवीन मनुष्यत्व की गरिमा की झलक देखना चाहता हूँ । भारत के नवोदित कवि विश्व जीवन के इस नवीन अरुणोदय के गीत गा सके और मानव-आत्मा के गहनतम सत्यो को वाणी दे सके । भारत के नवीन कलाकार मानव जीवन के अक्षय सौन्दर्य तथा आनद को अपने रगों की तूली से अंकित कर सके । उसके वैज्ञानिक केवल बाहरी प्रकृति का ही उद्‌घाटन करके सतुष्ट न हो जाये बल्कि मनुष्य के अतर्जगत के रहस्यो की भी खोज कर सके और उन दोनों को मनुष्य के कल्याण के लिए उपयोग में ला सके । भारत का समाजशास्त्र सामाजिक विकास के नियमो के साथ ही मानव के आत्मिक विकास के नियमो का भी अध्ययन करे और एक सर्वांगपूर्ण सामाजिकता मे मनुष्य को सृजनात्मक श्रम का आनद प्रदान कर सके । इस नवीन मानव-सस्कृति मे विश्व ऐक्य की महिमा के साथ ही प्रत्येक देश की विशिष्टता तथा व्यक्ति के स्वभाव वैचित्र्य की सुदरता भी पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होकर अपने को चरितार्थ कर सके । ऐसी ही मनोकामना मेरी अपने भारत के भविष्य के प्रति है ।

जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ

हम एक ऐसे महान् युग मे पैदा हुए है, और इसमे ऐसी महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ और परिवर्तन, मानव-जीवन के बाहरी-भीतरी क्षेत्रो मे आज उपस्थित हो रहे है कि साधारण से साधारण मनुष्य का जीवन भी उनसे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता है। एक युगजीवी की तरह मेरे मन को भी अनेक विचारो तथा अनुभवो ने स्पर्श किया है जो एक प्रकार से स्वाभाविक ही है। वैसे मनुष्य को अपने जीवन मे छोटे-मोटे अनेक प्रकार के अनुभव होते रहते है और उन अनुभवो की प्रतिक्रियाओ के मूल सदैव मनुष्य के भीतर नहीं होते, अधिकतर, बाहर ही होते है। अपने युग मे हम स्वामी दयानद या रामकृष्ण परमहस और महात्मा गाधी जैसे महापुरुषो के लिए कह सकते है कि उनकी अनुभूतियों एव उपलब्धियो के मूल मुख्यत उनके भीतर रहे है, क्योकि वे एक विशेष मनःस्थिति लेकर पैदा हुए थे, और मानव-जीवन तथा लोकजीवन या विश्व-जीवन सबधी प्रतिक्रियाएँ उनके मन मे, उनकी विशेष प्रकार की अन्त.स्थिति के कारण, जनसाधारण से बिल्कुल ही भिन्न, एक विशेष प्रकार की हुई है, उनके जीवन का एक विशेष लक्ष्य रहा है, और उसी की प्रेरणा से उन्होने मानव-जीवन को एक व्यापक धरातल पर समझने तथा उसे अपने विचारो-अनुभवो तथा क्रियाकलापो से प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु अधिकाश मनुष्यो के लिए यह कहा जा सकता है कि वे मुख्यत. बाहर के ही जगत की छोटी-बडी घटनाओ से किसी न किसी रूप मे प्रभावित होते है और उन्ही की प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप अपने अनुभवो के कोष की वृद्धि करते है। इन दोनो कोटियों के बीच में कुछ ऐसे भी भावप्रवण तथा सवेदनशील व्यक्ति होते है जिसका अपना विशिष्ट अनुभवों का सचय होता है और जिन्हे अपने युग की जीवन-चेतना अधिक गंभीर अर्थों मे स्पर्श करती है।

इस दृष्टि से जब मै, अपने जीवन के बारे मे सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि मैंने अपने को अनुभवों की सीमाओ मे नही बँधने दिया है और अपने स्वभाव तथा परिस्थितियों का समानरूप से अध्ययन कर अपने हृदय को उनकी प्रतिक्रियाओ से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है और उसे सदैव नवीन के प्रति जागरूक तथा सचेष्ट रखा है। आज का युग परिस्थितियों की चेतना को जितना अधिक महत्त्व देता है मरे मन ने उसे कभी स्वीकार नही किया और सीमित तथा विरोधी परिस्थितियो मे भी मै आगे बढने के लिए निरन्तर प्रेरणा ग्रहण करता रहा हूँ। परिस्थितियो को ही सब कुछ मान लेने पर मन निष्क्रिय हो जाता है और उसकी स्वतंत्र सकल्प करने की शक्ति को धक्का लगता है। आज गुणात्मक तथा व्यक्तिपरक मान्यताओं की उपेक्षा कर जो एक यात्रिक सामूहिक जीवन सचरण को इतनी प्रधानता दी जा रही है, उसका मुख्य कारण

परिस्थितियों के सत्य को अधिक महत्त्व देना ही है। आज मनुष्य के भीतर ह्रास और विकास—दोनो प्रकार की शक्तियाँ कार्य कर रही है। ह्रासोन्मुखी मानव-चेतना की विकीर्ण शक्तियो को संयमित करने के लिए समूहीकरण की योजना की आवश्यकता अनिवार्य होने पर भी उसे सर्वाधिक महत्त्व देकर, यांत्रिकता के स्तर पर परिचालित करना मानव-विकास के लिए उतना ही घातक भी है; क्योकि उससे मनुष्यत्व के विशेषीकरण के गुणात्मक सचरण को क्षति पहुँचती है और जिस व्यापक भूमिका मे मानव चेतना पदार्पण करने जा रही है उसके लिए उसका गुणात्मक विकास अत्यन्त आवश्यक है। आज के विश्व-जीवन मे मुख्य विरोध तथा असंतोष का कारण यही विशेषीकरण तथा समाजीकरण के सचरणो का असतुलन है। आज ह्रास और अभ्युदय की शक्तियों को हमें इसी नवीन परिप्रेक्ष्य मे समझ कर उनका पुनर्मूल्याकन करना है। इसी अंतर्दृष्टि से आज हम आर्थिक-राजनीतिक आंदोलनो के उत्पीड़न तथा आधुनिक सुधारवादी धार्मिक-नैतिक आदोलनों की सकीर्णताओ से मानवता की रक्षा कर सकते है।

यह विश्वास मेरे मन मे दिन पर दिन दृढ होता जा रहा है कि विज्ञान केवल मनुष्य के बाह्य जीवन के ढाँचे का ही निर्माण कर सकता है। नवीन मानवता क्या है, उसके क्या उपादान हों, इसका निर्णय विज्ञान नही कर सकता, उसके लिए हमे अन्यत्र अनुसधान करना होगा। विज्ञान अधिक से अधिक हमारी बौद्धिक प्रक्रियाओ को तीव्र बना सकता है। हृदय के क्षेत्र से वह अनभिज्ञ है, वह मानव-हृदय की रचना या सस्कार नही कर सकता। वह देश पर विजय प्राप्त कर सकता है, पर काल को हस्तगत नही कर सकता। काल की सपदा को दुहने के लिए, काल के विकासशील अतर मे प्रवेश करने के लिए हमें दूसरे साधनो का अवलब ग्रहण करना होगा। इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्यत्व के सस्कार का प्रश्न इस युग मे अछूता ही रह गया है। विज्ञान ने हमारे भौतिक परवेश तथा रहन-सहन की परिस्थितियो मे रूपान्तर उपस्थित कर उनका परिष्कार किया है पर वह मनुष्य के अतस्तल मे प्रवेश कर तथा उसके भीतर के हिंस्र बर्बर पशु का उन्नयन कर उसे अधिक सस्कृत, उदात्त या सुन्दर नही बना सका है। बल्कि इस वैज्ञानिक युग मे मनुष्यत्व के ह्रास ही के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे है। मनुष्य के अन्त.सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए तथा उसे वैयक्तिक-सामूहिक रूप मे विश्व जीवन मे मूर्त एव प्रतिष्ठित करने के लिए हमे समदिक्-दृष्टि विज्ञान के साथ ही अन्य ऊर्ध्वचेतन, सास्कृतिक अनुष्ठानों तथा उपायो की भी आवश्यकता पडेगी। आज विगत ऐतिहासिक युगो की खण्ड मानव-चेतनाओ तथा संस्कृतियों को व्यापक मानवता के रूप मे संयोजित करने के लिए हमे मानव मन की गहराइयों मे नवीन आध्यात्मिक प्रकाश डाल कर मानव-प्रवृत्तियो का पुनर्मूल्याकन करना होगा और विगत युगो की खर्व, बौनी मनुष्यता को अधिक व्यापक, उन्नत भूमिका में पदार्पण करवाना होगा—अन्यथा हम वैज्ञानिक सुविधाओ एव साधनो का उपयोग विकसित मनुष्यत्व का निर्माण

तथा लोक कल्याण के लिए करने के बदले लोक संहार तथा सभ्यता के विध्वंस के लिए ही करेंगे, जिसकी इस युग मे, तथाकथित वैज्ञानिक चेतना के प्रतिनिधि, बडे-बड़े राष्ट्र आज शीत युद्ध तथा आणविक विस्फोटों के परीक्षणों द्वारा तैयारी कर रहे हैं।

आज का मनुष्य चक्की के दो निर्मम पाटो के बीच पिस रहा है। उसके बाह्य जीवन की परिस्थितियाँ भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों के कारण इतनी अधिक सक्रिय हो गयी है कि वह उन्हे सँभाल नहीं पा रहा है और अपनी नई भौतिक शक्ति के मद से उन्मत्त होकर भीषण आत्मविनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। आज का युग जैसे एक भयानक असतोष तथा विद्रोह के भूकप के ऊपर खडा है और किसी भी दिन वह अपना सतुलन खोकर अधकार के गहरे गर्त मे गिर सकता है। यह अधकार का गर्त बाहर से भी अधिक उसके भीतर की ओर बढ़ रहा है। अपने उच्च स्तर पर आज मानव-चेतना पिछले युगों की मान्यताओ तथा रूढ़ि-रीतियों के पाश मे बँधी हुई, निष्क्रिय तथा पगु होकर अपने सूनेपन के औदास्य मे खो गई है। मनुष्य के भीतर युगो से प्रेतों की तरह खडी जाति-पाँतियों, धर्मों, संप्रदायों, आचारो तथा नैतिक दृष्टिकोणों की अध दीवारे आज जैसे सक्रान्ति-काल के अंधकार में सशकित एवं पुनर्जीवित हो एक-दूसरे से टकरा कर विश्व-मानवता की प्रगति मे बाधक सिद्ध हो रही हैं। विज्ञान ने बाहर की परिस्थितियों पर प्रकाश डाल कर तथा उनका पुर्नानर्माण कर उन्हे सँवार अवश्य दिया है किन्तु मानव-मन की भीतरी परिस्थितियाँ अभी अपने को तदनुरूप नवीन आध्यात्मिक प्रकाश में नही सँजो सकी है। उन्हे अपनी सीमाओं को पहचान कर अपने को अधिक व्यापक बनाना है जिससे वे मानवता की नवीन चेतना का गौरव वहन करने के योग्य बन सकें।

अपने अनेक अनुभवों से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस युग में मानव-प्रवृत्तियो तथा जीवन-मान्यताओ का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक है। मनुष्य की पिछली मान्यताएँ आज उसके विकास के पथ को प्रशस्त बनाने के बदले दुर्लंघ्य अवरोध बन कर, उसकी प्रगति को रोके हुए हैं। विभिन्न धार्मिक, नैतिक तथा सास्कृतिक दृष्टिकोणों को अतिक्रम कर आज मानव-चेतना को एक नवीन जीवन-भूमि में पदार्पण करना है जिसके बिना विगत दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करना संभव नही है। अपने वर्तमान व्यक्तिगत, वर्ग तथा राष्ट्रगत स्वार्थों मे विभक्त मानव-चेतना विज्ञान की उपलब्धियों का भी यथोचित उपयोग नहीं कर सकती और ज्ञान, विज्ञान, अर्थ, यंत्र आदि सबंधी सभी प्रकार की उन्नति के होते हुए भी, मनुष्य अपनी वर्तमान मानसिक सीमाओं के रहते हुए, इस पृथ्वी पर शाति, जीवन-सौदर्य तथा लोकमगल के स्वर्ग को प्रतिष्ठित नही कर सकता, जिसके लिए आज युद्ध के बदले एक व्यापक सशक्त विश्व-व्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है, जो मनुष्य के भीतर-बाहर के जीवन मे नवीन सयोजन स्थापित कर सकेगा।

संतुलन का प्रश्न

विचारको की दृष्टि मे हमारा युग एक महान् परिवर्तन तथा संक्रमण का युग है, जिसमे, न्यूनाधिक मात्रा मे, सघर्षो तथा सकटो का आना अनिवार्य है। ऐसे सधिकाल में यदि हमारे चिन्तको का ध्यान मौलिक मानव-मूल्यो की ओर आकर्षित हो रहा है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत, पिछले अनेक वर्षो के साहित्य के सम्बन्ध मे, इस समस्या का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती विद्वान् लेखक विस्तारपूर्वक करा चुके है, मुझे सक्षेप में, केवल उपसहार-भर लिख देना है।

मानव-मूल्यो की दृष्टि से जिन दो प्रमुख विचार-धाराओ ने इस युग के साहित्य को आन्दोलित किया है, वे है मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनो विचारधाराएँ मानव-अस्तित्व के केवल निम्नतम अथवा बाह्यतम स्तरों का अध्ययन करती है और इनके परिणामों को उन्ही के क्षेत्रो तक सीमित रखना श्रेयस्कर होगा। मार्क्सवाद मानव-जीवन की वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का सागोपाग विश्लेषण कर उसकी सामाजिक समस्याओ के लिए समाधान बतलाता है, जिसका परोक्षत एक वैयक्तिक पक्ष भी है। फ्रायडवाद मानव-अन्तर की रागात्मिका वृत्ति के उपचेतन-अचेतन मूलो का गहन अध्ययन कर मुख्यत उसकी वैयक्तिक उलझनो का निदान खोजता है, जिसका एक सामाजिक पक्ष भी है। जहाँ पर ये दोनो सिद्धान्त अपने क्षेत्रों को अतिक्रम कर मानव-जीवन एव चेतना के ऊर्ध्वस्तरो के विषय मे अपना यात्रिक अथवा नियतिवादी निर्णय देने लगते है, अथवा उन शक्तियो के स्तरों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वहाँ पर ये दृष्टि-दोष से पीड़ित होकर, मानव-मूल्य-सम्बन्धी गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करते है। किन्तु, मानव-अस्तित्व एव चेतना के सभी स्तरो के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, सर्वागीण सामाजिक विकास की दृष्टि से, मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण उन्नयन के हेतु उसके निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों का विकास होना भी समान रूप से आवश्यक है। इस दृष्टि से, मार्क्सवाद तथा फ्रायड के मनोविज्ञान की सीमाओं को मानते हुए भी लोकजीवन हिताय उनकी एकान्त उपयोगिता एवं महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव मे, नवीन विश्व-जीवन-वृत्त के निर्माण में उनका वर्तमान जीवन के गर्दगुबार से भरा हाथ उतना ही उपादेय प्रमाणित होगा जितना मानव-अस्तित्व के उच्चतम शिखरों से अवतरित भावी सौन्दर्य तथा आशा के सम्मोहन से दीप्त अभिनव चैतन्य की किरणों का।

वैसे, मानव-प्रज्ञा के अविकसित होने के कारण उच्च-से-उच्च सिद्धान्त या आदर्श भी —चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, धार्मिक हो या राजनीतिक—संकीर्णता

के सम्प्रदाय या रूढिगत दल-दल में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। किन्तु यदि व्यापक विवेक तथा सहानुभूति के साथ, वर्तमान विश्व-मानव-सचय के साथ सामजस्य बिठाते हुए, उपर्युक्त विचारधाराओ का समुचित अध्ययन एव वर्तमान विश्व-परिस्थितियों मे उनका सम्यक् प्रयोग किया जाय तो उनमें लोक-जीवन के लिए हितकर उपकरणों के अतिरिक्त मानवता के सर्वांगीण सास्कृतिक अभ्युदय के लिए भी प्राणप्रद पोषक तत्व मिलेंगे। कम्यूनिस्ट देशो की सामूहिक जीवन-रचना की वर्तमान स्थिति मे, साहित्यिक मूल्यो की दृष्टि से, स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा के अवरुद्ध हो जाने के कारण पश्चिम के प्रबुद्ध लेखको तथा चिन्तकों के मन मे जो प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं उनको हमें अक्षरश. स्वीकृत नही कर लेना चाहिए। कम्युनिस्ट देशो की उन असगतियो को मार्क्सवाद के प्रारम्भिक प्रयोगों की कूडे की टोकरी मे भी डाला जा सकता है। मार्क्सवाद का प्रयोग और भी अधिक व्यापक आधारों पर वर्तमान जीवन की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियो पर किया जा सकता है। उसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त के रूप मे न ग्रहण कर, उसके अन्धप्रवेग को सयमित कर सृजनात्मक सचरण के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है और सम्भवत. भारतवर्ष जैसा महान् देश, जिसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि इतनी प्रौढ़ है, अपने साध्य-साधन की एकता की कसौटी पर कसकर इस महत् प्रयोग को एक दिन सफल भी बना सके। जिन देशो मे मार्क्सवाद के प्राथमिक प्रयोग हुए हैं उनमे भी २०–२५ वर्षों के अन्तर्गत, मानव-मूल्यो की दृष्टि से, व्यापक परिवर्तन नही उपस्थित हो सकेंगे, और उनकी जीवन-रचना की भूमि से भी उच्च-से-उच्चतर सास्कृतिक शिखर नही निखर उठेंगे, यह अभी नही कहा जा सकता। सिद्धान्त के जीवन और व्यक्ति के जीवन के लिए एक ही अवधि निर्धारित करना न्याय-सगत नही है।

हमे आवश्यकता है, बाह्यत परस्पर-विरोधी लगने वाली.. विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रो की विचारधाराओ का विराट् समन्वय तथा सश्लेषण कर उन्हे साहित्य में, सृजनात्मक स्तर पर उठाने की जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियो, सस्कारो तथा स्वार्थो से पीडित एव कुण्ठित मानव-चेतना को अपने सर्वांगीण वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिए एक व्यापक सन्तुलित धरातल मिल सके, उसके सम्मुख एक ऐसा उन्नत मानवीय क्षितिज खुल सके जो उसे समस्त अभावो तथा आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तत्पर कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। व्यक्तिवाद, समाजवाद, भाववाद, वस्तुवाद, भूत अथवा अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विरोधी नही, अन्तत एक-दूसरे के पूरक हैं। आज के साहित्य मे यदि विराट् या अन्तरात्मा के दर्शन नही मिलते—जो मूल्यों का धरातल है—तो इसका कारण इस संक्रमणशील युग के तथाकथित विरोधी सिद्धान्त एवं विचार-सरणियाँ उतना नही हैं जितना इस युग के साहित्य-स्रष्टाओं अथवा द्रष्टाओं की सीमाएँ ...और सम्भवतः उनकी ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, यशलिप्सा, दलबन्दी आदि की ह्रासोन्मुखी

प्रवृत्तियाँ, जिनका क्रीड़ास्थल इस परिवर्तन-युग का उनका समदिग्-दुख-कातर अंतस्तल बना हुआ है। साहित्य, सस्कृति के पुजारियो तथा मूल्यो के जिज्ञासुओं को बाहर के साथ ही अपने भीतर भी खोज करनी चाहिए, सामाजिक धरातल को सँवारने से पहले मानसिक धरातल का सस्कार कर लेना चाहिए—विशेषकर ऐसे सक्रमण-काल मे जब ह्रास और विकास, पतझर तथा वसन्त की तरह, साथ-ही-साथ नवीन वृत्त सचरण के रथ-चक्रों मे घूम रहे है। उन्हे मरणशील ह्रासोन्मुखी सकीर्ण प्रवृत्तियो के कूडे-कचरे मे से विकास की प्रसारकामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियो को चुनकर अपनी चेतना मे ढाल लेना चाहिए, क्योकि उनके लिए मूल्य या मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक सवेदन का ही प्रश्न नही है, वह उनके आत्मनिर्माण, मनोविन्यास तथा उनकी सृजन-तन्त्री की साधना का आधारभूत अग भी है।

मानव-मूल्यों का अन्वेषक—चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा—उसे महत्तर आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म सवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर जीवन-वैचित्र्य की समता तथा सगति मे परिणत करना है, जिसके लिए आत्म-सस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। साहित्यकार, साधक, दार्शनिक इन सबको अन्तत· विश्व नियता की महत् इच्छा का यन्त्र बनना पड़ता है।

मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकागी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है। मानव-मूल्य के मूल बाहर-भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं, "तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्व-स्यास्यबाह्यत·।" व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं जिनमें सामजस्य स्थापित करके ही स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के सम्बन्ध में ही भीतर को और भीतर के सम्बन्ध में ही बाहर को समझ सकते है। मानवता के सर्वांगीण विकास एव निर्माण के लिए हमे भीतर और बाहर दोनों का रूपान्तर करना पड़ेगा। तत्त्वत मानव-जीवन के सत्य के मूल बाहर-भीतर दोनों से ऊपर या परे हैं, जैसा कि हम आगे चलकर विष्णु के रूपक मे देखेंगे, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे बहिरंतर के दोनो सापेक्ष पक्षो का ध्यान रखकर उनमे सन्तुलन भरना होता है।

पश्चिम के कुछ चिन्तक बाह्य परिस्थितियो के संगठन के बोझ से आक्रान्त होकर मानव-मूल्यो का स्रोत यदि व्यक्ति या मनुष्य के भीतर मानने लगे है तो यह केवल पश्चिम के वर्तमान बहिर्भूत यान्त्रिक जीवन के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया-मात्र है। पश्चिम मे अन्तर्जीवन का एकान्त अभाव होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध विचारकों का मनुष्य के भीतर की ओर झुकना स्वाभाविक है। वास्तव मे व्यक्ति और समाज जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, एक दूसरे के सम्बन्ध मे ही सार्थक हैं और उसी रूप में समझे भी जा सकते है।

निरपेक्ष व्यक्ति को अज्ञेय या अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसलिए यदि मार्क्सवाद सामाजिकता को अधिक महत्त्व देता है या उसके प्रारम्भिक प्रयोगो मे सामूहिक सचरण अधिक प्रबल हो उठा है तो उसका उपचार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने से नही होगा, प्रत्युत, बहिरतर की मान्यताओ को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने से होगा। इस युग मे, इसीलिए, राजनीतिक सचरण की पूर्ति के लिए एक व्यापक सास्कृतिक सचरण की भी आवश्यकता है।

मानव-मूल्यों के स्रोत को मनुष्य के भीतर ही मान लेना इसलिए भी हानिकर सिद्ध होगा कि वर्तमान युग-संक्रमण की स्थिति मे मनुष्य का मनुष्य बन सकना सरल या सम्भव नही। उसके व्यक्तित्व मे अभी उस उदात्त सन्तुलन की कमी है जो उसे युगीन प्रवृत्तियो की बाहरी अराजकता तथा अन्त:सस्कारो की सीमाओं से ऊपर उठाकर प्रतिनिधि मनुष्य के रूप मे प्रतिष्ठित कर सके। उसका ऐसा विवेकशील व्यक्तित्व होना, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल्यों-सम्बन्धी दुरूह सामाजिक दायित्व को समझकर, उसे स्वतः ग्रहण करने योग्य आत्म-त्याग एकत्रित कर सके, यह भी अपवाद ही सिद्ध हो सकता है और अल्पसख्यक सृजनशील व्यक्ति इतने स्थितप्रज्ञ, तटस्थ, निष्पक्ष हो सकेंगे, इस पर भी सहज विश्वास नही होता।

इस सक्रमण-काल ने मनुष्य की अहमिका प्रवृत्ति तथा उसकी कामवृत्ति को बुरी तरह झकझोरा है। ये एक प्रकार से सभी सक्रमण युगो के लिए सत्य तथा सार्थक है, क्योंकि उच्चतर विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। मानव अहन्ता को व्यापक बनकर, मानव-आत्मा के गुणों को पहचानकर उनसे सम्पन्न बनना होता है। निम्न प्राण-चेतना (काम) को ऊर्ध्वमुखी होकर व्यापक प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर नवीन नैतिक-सामाजिक सन्तुलन ग्रहण करना होता है, इसीलिए विश्व-प्रकृति सक्रमण-काल मे उन्हें प्रारम्भ मे ही सशक्त बना देती है। फ्रॉयड ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वर्तमान रागात्मक स्तर की क्षुद्रता तथा संकीर्णता की पोल खोलकर आज के प्रबुद्ध चिन्तक को मोहमुक्त कर दिया है। वास्तव में प्राण चेतना के विकास के लिए उपयुक्त मानवीय परिस्थितियों के अभाव के कारण, मानव की रागात्मिका वृत्ति, पशु-स्तर पर उतरकर, अभी अचेतन के अन्ध आवेगो से परिचालित हो रही है। उसके मनुजोचित ऊर्ध्व विकास के लिए हमे स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्ध को एक व्यापक सास्कृतिक धरातल पर उठाना होगा।

जैसा मै पहले कह चुका हूँ इस युग के बहुमुखी विचार-वैभव को साहित्य तथा सस्कृति की प्रेरणाभूमि पर उठाने के लिए तथा अपने को मानव-मूल्यो का ज्योतिवाहक बनाने के लिए आज के साहित्य स्रष्टा तथा सास्कृतिक द्रष्टा को सर्वप्रथम एव सर्वोपरि अपना यथेष्ट आत्म-सस्कार करना होगा। यही उसके ऊपर स्वस्वीकृत सबसे महान् दायित्व है। मानव-मूल्यो की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने

मन तथा प्राणों के जीवन मे मूर्तिमान करना—यही उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है। इस दायित्व के गुरुत्व को उसका साधक ही अनुभव कर सकता है। यही वह तप, त्याग या लोककर्म है जिसे उसे तत्काल ग्रहण करके, धीरे-धीरे उसे अपने को पूर्णरूपेण अर्पित करके, अपने जीवन मे चरितार्थ करना है।

मानव-मूल्यो के सर्वव्यापक सत्य के रूप को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप मे अकित किया है, जो प्रभविष्णु भी है। वह शेष शय्या पर (अनन्त काल के ऊपर) स्थित है। प्रत्येक युग मे उनके गुणो के अश विश्वचेतना मे अवतरित होकर देश-काल मे अभिव्यक्ति पाते है। वह जलशायी—देश से भी ऊपर—स्थित है। वह योग-निद्रा मे (विश्व-विरोधो मे सम), शान्त आनन्द की स्थिति मे है, जिस स्थिति मे एक सहज स्फुरण (सकल्प) उनकी नाभि (रजोगुण) से ब्रह्मा अथवा सृजन सचरण के रूप मे सृष्टि करता है। उनके हाथ मे चक्रवत् विश्वमन घूमता रहता है इत्यादि। यह मानव मूल्यो के सत्य के सम्बन्ध मे एक पूर्ण दृष्टिकोण है। मानवमूल्यो का स्रोत देश-काल से ऊपर है। भूत, भविष्य, वर्तमान मे अभिव्यक्ति पाने वाले मूल्य सब उसी सत्य के विकासशील अश है। तीनो काल एक-दूसरे पर अवलम्बित होने के साथ ही मुख्यत: उस सत्य पर अवलम्बित है। उसी के गुण एव शक्ति सचय करके भूत वर्तमान मे और वर्तमान भविष्य मे विकसित होता है। उस सत्य को आप चाहे दिव्य कहे या मानवोपरि, वह मानव से पृथक् नही है। उसे दिव्य न कहकर मानवीय ही कहे तो वह वर्तमान मानव-विकास की स्थिति से कही महत् है जिसमे अनेक भविष्यों का मानव अन्तर्हित है। यदि हम इस दृष्टिकोण से उस सत्य पर विचार करे तो हमे वर्तमान पाश्चात्य विचारको की "जो समस्त अतीत है वही यह क्षण है और जो यह क्षण है वह समस्त भविष्य बन जायगा—इसी क्षण मे हमे शाश्वत को बाँधना है" आदि जैसी तर्क-प्रणाली की यान्त्रिकता स्पष्ट हो जायगी।

हमने अपने साहित्य मे पश्चिम के जिस विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाया है वह अधूरा है। उसमे नीचे से ऊपर की ओर आरोहण तो है पर ऊपर से नीचे की ओर अवतरण तथा अन्त.सयोजन (री-इटीग्रेशन) के पक्षों का अभाव है। इस अपूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण ही हम केवल भूत और वर्तमान के सचय के बल पर अग्रसर होने की असफल चेष्टा कर नित्य नवीन विरोधी मतो को जन्म देते जा रहे है। विकास मे सातत्य या अविच्छिन्नता खोजना भ्रम है। विकास के प्रत्येक युग मे विश्वचेतना मे महत् से नवीन गुणो का भी आविर्भाव होता रहता है। इस महत् मे बीज रूप मे समस्त सृष्टि के उपादान अन्तर्हित है।

साहित्य-स्रष्टा के लिए विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सृजन का है। वह मन के उच्चोच्चतर स्तरो से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी सृजन-चेतना के वैभव से विकास को नित्य नवगुणसम्पन्न कर उसे प्रगति दे सकता है। स्रष्टा के लिए विवेक के पथ से

अधिक उपयोगी एवं पूर्ण श्रद्धा का पथ है। वह सहज तथा प्रशस्त होने के कारण लोक-सुलभ भी है। अल्पसंख्यक विवेकशील साहित्यिको के कधो पर जन-समाज के जीवन का दायित्व सौप देने मे यह भी भय है कि वर्तमान विषम सामाजिक परिस्थितियों में उन अल्पसख्यको की मानवता की धारणा स्वभावत. अपने ही वर्ग के मानव तक सीमित रह सकती है। जन मानवता का विराट् वैचित्र्य उनकी प्रबुद्ध सहानुभूति से कही व्यापक तथा अकल्पित हो सकता है। फिर स्रष्टा को हम केवल साहित्य-स्रष्टा तक ही सीमित नही रख सकते है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तर पर—चाहे वह राज-नीतिक भी क्यो न हो—जीवन-निर्माता जीवन-स्रष्टा तथा द्रष्टा भी हो सकता है और सृजन मे ही निर्माण की पूर्ण परिणति भी होती है।

सक्षेप मे मै सास्कृतिक मान्यताओं एव मानव-मूल्यो का स्वस्वीकृत दायित्व अल्प-सख्यक, स्वतन्त्र विवेकपूर्ण सकल्पयुक्त व्यक्तियों को सौपने के बदले समस्त जन समाज को सौपना अधिकश्रेयस्कर समझता हूँ जो श्रद्धा के पथ से मानव-मूल्यों के सत्य से संयुक्त होकर, अपने-अपने क्षेत्र में मानवता के विशाल रथ को आगे बढ़ाने मे अपना हाथ बँटा सकते है। उन्हे—जैसा कि आज के समस्त पश्चिम के विचारक सोचते हैं—किसी तर्क-बुद्धिसम्मत विवेक के जटिल सत्य के जटिलतर दायित्व की भूलभुलैयाँ मे खोकर अपने चिन्तन, अनुभति, सौन्दर्य-बोध की समस्त शक्ति से स्थायी मानव-मूल्य की इसी क्षण की विशेष मानवीय स्थिति की सही व्याख्या पहचानने जैसे और भी दुरूह बौद्धिक व्यायाम नही करने पड़ेगे—जो शायद कुछ अति अल्पसख्यक प्रतिभाशाली व्यक्तियो को ही सुलभ है; उन्हें विराट् विश्व-जीवन के अन्तरतम केन्द्रीय सत्य पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखकर, अपनी बहिरतर की परिस्थितियों को अतिक्रम करते हुए, उनका युगजीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुरूप पुर्ननिर्माण कर एवं उन्हे व्यापक मानव-जीवन की एकता मे बाँधते हुए अन्ततः सम्पूर्ण तथा बाह्यतः समस्त के साथ आगे बढ़ना होगा। इसी में वह अपनी-अपनी स्थिति से स्वधर्म का पालन कर सकते है। हमारे सर्वोदय के उन्नायकों ने भी श्रद्धा के पथ से उन्ही सत्यों के सत्य से प्रेरणा ली है जिसके बिना उनका व्यक्तित्व शीर्षहीन हो जाता। आज के युग में जब कि भौतिक विज्ञान के विकास के कारण लोक-जीवन की परिस्थितियाँ जड़ न रहकर अत्यधिक सक्रिय हो गई है जन-साधारण को सृजन-प्रेरणा से वंचित कर सकना सम्भव भी नही है—यही इस युग की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी देन है।

यथार्थवाद

यह विज्ञान तथा यथार्थवाद का युग है। साहित्य मे आज शिल्प और कला की सहायता से यथार्थ के जिन अनेक पक्षो का उद्घाटन हो रहा है उससे मानव-जीवन की समस्याओ तथा सवेदनाओ पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ने की सभावना है। मेरी दृष्टि मे सब वादो की कसौटी लोक मगल मे निहित है। यदि हमारे यथार्थवादी निरीक्षण-परीक्षण मानव-मगल के लिए उपयोगी सिद्ध होते है तो वे अभिनन्दनीय है, अन्यथा उन्हे पारस्परिक विद्वेष, पूर्वग्रह तथा कटुता का ही विज्ञापन समझना चाहिए।

अस्सी प्रतिशत हमारी जनमगल की यथार्थवादी धारणा आज केवल हमारी मध्यवर्गीय कुठाओ तथा सक्रान्तिकालीन मानसिक ह्रास की परिचायिका है, जिससे जनमगल कोसो दूर है। साहित्यकार की इस कुण्ठा जनित कटुता तथा रुग्ण अहता के अन्धकार के अतिरिक्त आज की साहित्यिक चेतना मे जो प्राणघातक विष व्याप्त हो गया है उसका मुख्य कारण सप्रति हमारा यथार्थवाद सम्बन्धी एकागी दृष्टिकोण है।

कहते है, वाणी के तीन अश हमारे अन्तर्मन मे स्थित है और एक अश केवल बाहर प्रस्फुटित है। जीवन-यथार्थ के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू है। इस युग मे यथार्थ के सर्वाङ्गीण अध्ययन की एकान्त आवश्यकता है। हमारा युग लाठी लेकर जिस यथार्थ के पीछे पडा है वह, यथार्थ के दर्पण मे, हमारे ही मानसिक ह्रास के भद्दे मुख की छाया है, जिसे देखकर हम बिलबिला उठते है। अपना रूप कैसा ही क्यों न हो, उसके प्रति ममत्व का होना स्वाभाविक है। इसी कारण आज हम युग-जीवन की कई असगतिओ से, मानव-स्वभाव की दुहाई देकर समझौता किये बैठे है।

आज का टेम्पेस्ट (युग-क्रान्ति) एरियल और केलिबॉन को दो अपरिवर्तनीय, असंपृक्त, इकाइयो के रूप मे देख कर सन्तोष नही कर सकता। केलिबॉन की कुरूपता और गाली-गलौज करने की आदत का सस्कार करना ही होगा और एरियल की वायवी मुक्ति को अधिक वास्तविक पार्थिवी मुक्ति मे परिणत होना होगा—भले ही आज के शक्तिशाली राष्ट्र, अपने-अपने स्थापित स्वार्थो के कारण, प्रोस्पेरो की तरह, अपने प्रभाव का जादू का दण्डा घुमाकर, उन्हे विभक्त बनाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न कर कर रहे हो। . इन शक्तिशाली देशो को आत्म-दुर्बल या आत्मभीत क्यो न कहा जाय? माता दीर्घ काल तक बच्चे को स्तन्य देकर उसका पोषण करती है और विष की बूँद एक ही क्षण मे उसके प्राण ले सकती है। लेकिन मागल्य की कसौटी मे कौन खरा उतरता है? किसका मूल्य अधिक है? नि.सन्देह, स्तन्य का! मानव-चैतन्य का

यथार्थ, जो अंत क्षमता का द्योतक है, जन कल्याण की स्थायी शक्ति रखता है। आज स्वर्ग, धरती, आदर्श और यथार्थ पृथक् रह कर जीवित नही रह सकते। उनका विकास रुक जायेगा।

महान् विनिमयो का है यह हमारा युग हमे यथार्थ के प्रति अपने दृष्टिकोण को अधिक गम्भीर तथा व्यापक बनाना होगा। हमने अपनी राजनीतिक पराधीनता के युग मे पश्चिम की मानसिक दासता को भी आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया है। यथार्थ के भीतरी आयामो के प्रति या तो हम मध्ययुगीन अभावो एव निषेधो के कुहासो के पार नही देख पाने के कारण उदासीन है या हम मात्र बाह्य अन्धकार में भटक गए है, वास्तव मे आज के शिखर राष्ट्रो को—जो आज भू जीवन का विकास अवरुद्ध किए हुए है—वैज्ञानिक चेतना तथा मानवीय यथार्थ का प्रतिनिधि समझना भूल है। वे अभी धरती की प्राचीन वन्य बर्बरता का ही प्रतिनिधित्व कर रहे है और विज्ञान को भू-निर्माण एव जीवन-रचना का माध्यम बनाने के बदले, उसके पखो के ताप मे आणविक अस्त्रो एव जनविनाश के डिम्बों को सेकर, और उसे विश्व विस्फोट का साधन बनाकर, अपनी ऋण सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे है। भस्मासुर!

दोनो शिखर देश आज भू जीवियों के प्रति मनुष्यत्व की लम्बी, स्नेह सहानुभूति पूर्ण बाँहे बढाने के बदले पशुत्व के दो निर्मम सीघो की तरह बढकर, धरती की छाती पर लड़ाकू साँड़ो की तरह आधिपत्य जमाए, लोक जीवन को त्रस्त किए हुए है। आज का विश्व-जीवन दो बढते हुए जहरीले ज्वारो की विषण्ण छाया से आक्रांत है।

ऐसे युग मे, मानव-जीवन के सपूर्ण सत्य की अखडनीयता को भौतिक-आध्यात्मिक, या आदर्श-यथार्थ के रूप मे विभक्त कर, खड-खड कर देखना कहाँ तक लोकहित की वृद्धि एव मनुष्यत्व के उन्नयन मे उपयोगी सिद्ध हो सकता है यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस यथार्थ की एकपक्षीय तुला मे अपने स्थापित स्वार्थो को रखकर हमारे चोटी के देश अपनी-अपनी बर्बरता की ओर आँख मूँदकर, एक-दूसरे की कुरूपता तथा नृशसता की ओर उँगली उठाकर, द्वेष और आक्रोश से गरज रहे है—उस यथार्थवादी दृष्टि का क्या मूल्य हो सकता है? निश्चय ही, लोकहित और मनुष्यत्व दो भिन्न पदार्थ या सत्य नही है। आज की भौतिक सभ्यता और वैज्ञानिक दृष्टि को अपनी जीवन-मान्यताओ को दुहराना होगा। मानव पशु के लिए—या दैत्य के लिए?—विश्वयुद्ध का मच प्रस्तुत करने के बदले उन्हे मानवता के योग्य नए जीवन-मच की रचना करनी होगी। विज्ञान एवं यथार्थ की देन, नि सशय, लोक जीवन के लिए परम आवश्यक है, किंतु उसे पशु के साथ नहीं, मनुष्य के साथ सधि करनी होगी। विज्ञान की शक्ति को ज्ञान से दृष्टि प्राप्त कर मानवीय बनना ही होगा।

अतः मेरी विनम्र सम्मति में, आज के युग के केलीबॉन की कुरूपता को ही यथार्थ

मानकर, उसके संहार के बहाने, अपनी-अपनी तलवारों पर पानी चढ़ाने के बदले इस केलीबॉन के भीतर सोए हुए मनुष्य को जगाना और उसका परिष्कार किस प्रकार हो, इस यथार्थ का अध्ययन करना, और परिस्थितियों से कुंठित युग की कुरूपता के भीतर की वड़-दुर्गन्ध मे सने मानव-दु ख को पहचानने की क्षमता रखने वाले धनात्मक यथार्थ-वादी दृष्टिकोण का विकास करना ही अधिक प्रगतिकारक एव लोकोपयोगी सिद्ध होगा। इसी यथार्थ की चौड़ी छाती को विश्व शाति की सुदृढ़ एवं स्थायी आधार-शिला बनाया जा सकता है। अतएव—

अत. क्षमता सतत अपेक्षित
जन भू जीवन के विकास हित,
बाह्य शक्तिमत्ता का प्रवचन
अणु अस्त्रो मे आज पराजित!
भू सघर्षण प्रभु पद पूजन
यदि वह जन मगल हित प्रेरित,
स्थायी शुभ के लिए चाहिए
शील शुद्ध साधन मनुजोचित!

—'वाणी'

एक अभिभाषण

मुझे अत्यत हर्ष है कि प्रयाग मे इधर दो साहित्य परिगोष्ठियो के बाद यह तीसरा साहित्यकार सम्मेलन हो रहा है। प्रयाग एक विशाल साहित्य मच है जिसमे अनेक सस्थाओ के तत्वावधान मे प्राय साहित्य सम्मेलन होते रहते है इन सस्थाओ का अपना-अपना व्यक्तित्व, अपनी-अपनी विशेषताएँ है। इनमे अनेक प्रतिभाशाली लेखक तथा विचारक मधुमक्खियो की तरह गुजन-मुखर रह कर बराबर सृजन, चयन तथा चिन्तन में निरत रहते है, और हिन्दी साहित्य को अपनी बहुमुखी देन से परिपुष्ट तथा कृतार्थ करते है। इधर मै देख रहा हूँ कि हम साहित्यकारो के दृष्टिकोण मे यह बड़ा स्वस्थ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है कि एक ही मंच पर अनेक विचारो, मतो तथा संस्थाओं के बुद्धिजीवी साहित्यिक समवेत होकर अपने विचारों तथा भावों का आदान-प्रदान कर मानसिक भोजन प्राप्त करने लग है। मुझसे कहा गया है कि प्रस्तुत सम्मेलन भी इसी साहित्यिक प्रवृत्तियो के स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए आयोजित किया जा रहा है और मै इसका हृदय से स्वागत करता हूँ क्योकि इस प्रकार के विचार-विनिमय से साहित्यिक प्रवृत्तियों के आकलन के साथ ही साहित्यकारो की मनोवृत्तियों पर भी स्वस्थ प्रभाव पड़ सकता है—यदि ऐसे सम्मेलन पूर्वग्रह रहित उन्मुक्त वातावरण में आयोजित हो सके। जैसा कि मेरा अनुभव है इधर साहित्यिक प्रवृत्तियों से अधिक साहित्यकारो की मनोवृत्तियाँ ही साहित्यिक वातावरण को संकीर्ण बनाती जा रही है। पर अब हम अपनी सकीर्णताओ से ऊब गये है और अधिक खुले मन से, खुली हवा में, स्वस्थ जलवायु की आशा से परस्पर मिलने लगे है, जिसका परिणाम अवश्य ही हमारे साहित्य के लिए अधिक हितकर होगा।

हमारा युग जिज्ञासाओं का युग है और उसकी अपनी अनेकानेक आवश्यकताए है। आज हम एकदेशीय संस्कृति, कला या साहित्य के मच से नहीं बोलते है, आज का राजनीतिक, सास्कृतिक तथा बौद्धिक जीवन सर्वदेशीय बनने का प्रयत्न कर रहा है। उसके पथ मे अनेक प्रकार की भौतिक तथा मानसिक बाधाए है, जिन्हें विभिन्न देशों के लोग अपनी भीतरी-बाहरी परिस्थितियों तथा क्षमताओ के अनुरूप अतिक्रम करने की चेष्टा में संलग्न है। वैज्ञानिक एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील इस युग को आत्मिक एकता भी स्थापित करनी है, जिससे मानव-जीवन का, वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से, सर्वागीण विकास हो सके।

ऐसे युग की सर्वोपरि अनिवार्य आवश्यकता मेरी दृष्टि में एकता की आवश्यकता है और हमारे मध्ययुगीन धर्मों, नैतिक दृष्टिकोणों, संप्रदायों आदि में विभक्त देश को

तो इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है । यह एकता केवल आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के धरातल पर ही स्थापित करना पर्याप्त नही है । आज के युग के मनुष्य के मानसिक तथा सास्कृतिक धरातल भी क्षुब्ध, असंतुष्ट तथा भूखे है, उनकी क्षुधा तृप्ति करना भी आवश्यक है । सास्कृतिक मान्यताओ के अतिरिक्त इस युग की आध्यात्मिक मान्यताओ मे भी उलझन पैदा हो गई है । ऐसे विरोधी विचार धाराओं के अधिदर्शन इस युग मे मनुष्य के मन को उलझाये हुए है कि मानव-जाति की प्रगति कुछ समय के लिए संकटापन्न सी प्रतीत होती है । जीवन के सभी धरातलो पर विरोधी शक्तियों का आधिपत्य एक व्यापक एवं सर्वांगीण परिवर्तन अथवा क्राति की अपेक्षा रखता है । अतएव आज की एकता मनुष्य की धार्मिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक मान्यताओं तथा देश, जाति, वर्ण, संप्रदाय सबधी पूर्वग्रहों, संकीर्णताओं तथा स्वार्थो को अतिक्रम कर केवल मानवीय धरातल पर ही स्थापित हो सकती है । आज राष्ट्र या देश या धर्म एकता के प्रतीक नही रह गये है । आज की एकता के प्रतीक स्वभावत ही धरती, विश्व तथा मानव बन गये है । धरती, विश्व तथा मानव—जिनमें अपार विचित्रताएँ, रुचिभेद, स्वभावभेद, जलवायु भेद, राजतंत्र भेद तथा आर्थिक-सामाजिक प्रणालियों आदि के विभेद मिलते है । तो हमारी नई एकता इन सब वैचित्र्यो तथा विभेदों को सँजोकर, विभिन्न दलों से युक्त शतदल की तरह, एक बहिरतर संतुलित एकता होगी । एकता का प्रश्न इससे भी अधिक गहरा, व्यापक और उच्च स्तरों की अपेक्षा रखता है, पर उस पक्ष के लिए यहाँ कहना आवश्यक नही । हमारा क्षेत्र आज साहित्य तथा सस्कृति तक ही सीमित है ।

मानव-एकता के बारे मे, सक्षेप मे, इतना कुछ कह लेने के बाद अब मैं उस एकता को प्रतिष्ठित करने के लिए हमारे युग मे जो प्रयत्न हो रहे है, उनकी ओर भी आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा । आज के एकता के प्रयत्नो को मै मुख्यत· दो रूपो में पाता हूँ, जिनके द्वारा विश्व जीवन मे अनिवार्य परिवर्तन होने संभव है । आज का युगजीवन दो सशक्त एवं व्यापक विचार-धाराओ से शासित है और वे है वैयक्तिक तथा सामूहिक विचार-धाराएँ । इन्ही विचार-धाराओं के आधार पर आज सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रणालियाँ सचालित हो रही हैं और उन दोनों मे परस्पर विरोध भी बढ़ रहा है, यहाँ तक कि इन दो विचार-धाराओ ने आज दो शिविरो का रूप धारण कर लिया है । दोनो की अपनी-अपनी सीमाएँ है और विशेषताएँ भी । ये दोनों विचारधाराएँ विकास के पथ पर है, दोनों को बहुत हद तक आपस मे कटना-छँटना पड़ेगा और भौतिक स्तर पर जो विकास की द्वन्द्वात्मक प्रणाली कार्य करती है उससे गुजरकर एक व्यापक जीवन समन्वय मे इनके परिणत होने की संभावना है ।

इन वैयक्तिक तथा सामूहिक सचरणों के आज अनेक रूप पाये जाते है और दोनो मे अनेक प्रकार के प्रतिमामी तत्व भी मिल गये है, जिनसे इनका व्यापार और भी जटिल

हो गया है। साहित्य मे भी इन दोनो विचारधाराओं के प्रतिनिधि पाये जाते है जो मान्यताओं की दृष्टि से आपस मे प्राय. उलझते रहते है। हिन्दी के पिछले डेढ दो दशको का इतिहास इसका प्रमाण है।

यह जो मै कह गया हूँ वह केवल आज के युग की भूमिका के रूप में। किन्तु युग कोई एक निष्क्रिय स्थायी चीज नही है। हमारी पीढ़ी अपने साहित्यिक जीवन मे—जो एक प्रकार से खड़ी बोली का जीवन है—चार युग देख चुकी है। विगत की ओर देखने का मुझे कम अभ्यास है। हम अपनी अनेक सीमाओ से बाहर निकल कर आगे बढ़ते जाते है। सभवतः आज साहित्य मे भी नये अतरिक्ष का युग प्रवेश कर सकता है यदि इस प्रकार के सम्मेलनो द्वारा हम सहानुभूतिपूर्वक इस विराट् युग की विभिन्न विचार-धाराओं तथा भावनाओ का स्वस्थ सतुलित दृष्टि से परीक्षण कर तथा उनसे प्राणप्रद पोषक तत्वो को ग्रहण कर अपनी मानसिक परिधि को विस्तृत बना सकें एव नवीन दीप्त ग्रहो की उपलब्धि से साहित्य का सस्कार कर सके। साहित्य केवल विचार तत्वो से ही प्रणीत नही होता। विचार तो मुख्यत. शास्त्रो के क्षेत्रो मे उगते है। साहित्य तो उनसे प्रकाश एव प्रेरणा भर ग्रहण करता है। साहित्य मेरी दृष्टि मे प्रधानत. मानव-हृदय का दर्पण है, हृदय मनुष्यत्व के सास्कृतिक स्वास्थ्य का सूचक है, जिसके द्वारा जीवन मे नवीन प्राणो के सौन्दर्य तथा रक्त का सचार होता है। आज के साहित्य मे मानव-हृदय के जो सुख-दु ख के उच्छ्वास, स्वप्न, आशा-निराशा का सघर्ष, विकासोन्मुख रुचि का सौन्दर्य, जो अभीप्साएँ, प्रेरणाएँ तथा सभावनाएँ मिलती है उनका सहृदयतापूर्वक मूल्याकन कर हम अपनी राह आगे खोज सकते है। इस महान् युग मे मै मान्यताओ सबधी किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने की कम आशा रखता हूँ। महान् युग की मान्यताएँ भी महान् होती है। उन का रूप कई पीढ़ियो के विचार-सघर्ष, आदान-प्रदान, निरीक्षण-परीक्षण के बाद ही निखरकर स्पष्ट हो सकता है, अभी तो वे विकसित होकर रूप ग्रहण कर रही है। मान्यताओ सबधी मतभेद का होना अभी अनिवार्य ही दिखता है। और वह अच्छा भी है, उससे जीवन का विकास एकागी न होकर बहुमुखी ही होता है। हमे विभिन्न मतो तथा विचार-धाराओ का आदर करना सीखना चाहिए। वे विचारधाराएँ एक दूसरे को प्रभावित कर विकसित हो सके, ऐसे सम्मेलनो का यही उद्देश्य होना चाहिए।

मान्यताओ के अतिरिक्त आज साहित्यकारो के सम्मुख नवीन रूप-विधान, कला-शिल्प, विधाओ तथा शैलियो आदि के भी आवश्यक प्रश्न है जिन पर एकाग्र चित्त से गभीरतापूर्वक विवेचन किया जा सकता है। और विभिन्न रुचि के साहित्य स्रष्टा शिल्प के नये सौन्दर्य को ग्रहण कर कला के धनी बन सकते है।

मैंने आपके सम्मुख जो कुछ भी रखा है वह आज के युग के वादविवादों की पृष्ठभूमि मे केवल व्यापक साहित्यिक प्रश्नो को सामने रखते हुए। विस्तारपूर्वक विवेचन तो

अनेक उपयोगी ज्वलंत प्रश्नों पर आप लोग यहाँ एकत्रित होकर करेंगे ही। यहाँ आज जो विभिन्न क्षेत्रो तथा प्रान्तों के तरुण कलाकार समवेत हुए हैं उनकी क्षमता पर, उनकी प्रतिभा तथा उनके सदुद्देश्यो पर मुझे पूर्ण विश्वास है। मै जानता हूँ उनमे अनेक योग्यतम स्रष्टा तथा उत्कृष्ट विचारक है जो अपने युग की समस्याओ के प्रति जाग्रत तथा उनके संबंध मे प्रबुद्ध भी है। उनके आत्मदान से हिन्दी साहित्य के अभावों की प्रतिदिन पूर्ति हो रही है और वे उसकी भावी के कुशल निर्माता है। मुझे इस सम्मेलन में बोलने का अवसर देकर इसके संयोजको ने जो स्नेह प्रकट किया है उसके लिए मै अत्यंत कृतज्ञ हूँ। हिन्दी मे अनेक सस्थाएँ, अनेक परिषदे, विभिन्न उद्देश्यों से स्थापित होती रहें, और अपने-अपने क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य को पुष्ट बनाती रहे। उन सस्थाओं के बीच मे सौहार्द बढ़े और वे समय-समय पर सम्मिलित रूप से साहित्य पर्वो का आयोजन कर हिन्दी भाषियों तथा साहित्य प्रेमियो के साथ घुलमिल कर बैठ तथा बोल सके—इससे अधिक सार्थकता की कल्पना मै इन सम्मेलनों के लिए नही कर सकता। जिस प्रकार विचार-संबंधी शिल्प-सबधी विभिन्न दृष्टिकोणो का होना परम आवश्यक है, उसी प्रकार इस जनतंत्र के युग मे उन विभिन्न विचारो तथा दृष्टिकोणों का एक दूसरे के सपर्क में आकर विकसित-वर्धित होना भी उतना ही आवश्यक है। आज हम अपने देश के आदर्शो के अनुसार सहजीवन, सहअस्तित्व तथा पचशील के युग मे रह रहे है। साहित्य में भी सहअस्तित्व प्रतिष्ठित हो, यह हिन्दी साहित्यको की अनिवार्य आवश्यकता है। वे अपने मानसिक स्वास्थ्य तथा शील की रक्षा के लिए, साहित्य के लिए उपयोगी पंचशीलों को भी जन्म दे सके तो अच्छा है।

इन थोड़े से शब्दों मे, आपका बार-बार स्वागत करते हुए तथा साहित्यकार सम्मेलन के संयोजको को धन्यवाद देते हुए मै अब आपको अधिक विद्वत्तापूर्ण वातावरण के लिए प्रस्तुत कर अवकाश लेता हूँ। धन्यवाद।

अभिभाषण का अंश

हमारा यह विशाल देश अनेक शताब्दियो के दैन्य तथा दासता से मुक्त होकर, सप्रति, अपनी सद्य.अर्जित स्वतत्रता के नवीन आशा उल्लासप्रद वातावरण मे साँस लेना सीख रहा है। आज उसके मानस क्षितिज मे नवीन जागरण, नवीन जीवन निर्माण के स्वप्न उदय हो रहे है। जिस नवीन सार्वभौम चैतन्य से आज नये भारत का अतः-करण ओतप्रोत हो रहा है हमारी पिछली पीढ़ी के अनेक महापुरुष, जिनमें से अनेक यहाँ भी विद्यमान है, उस चेतना-शिखा के वाहक, लोकनायको के रूप मे, हमारे देश के इति-हास मे चिरस्मरणीय ज्योतिस्तम्भों की तरह प्रतिष्ठित रहेगे। ऐसे महान् अवसर पर जब कि हम अपने युग-जीवन पर दृष्टि डाल रहे हों, युगपुरुष एव युगनायक महात्मा गाधी जी का राम-नाम अपने अप्रतिम आलोक मे सर्वोपरि मानस के दीप्त स्मृति शृगों पर उदय हो उठता है। लगता है, जैसे इस युग के सभी श्रेष्ठ नाम उन्ही के नाम हों, सभी वरिष्ठ व्यक्ति उन्ही की आत्मा के कण अथवा प्रतिमूर्ति हों। हमारे राष्ट्रपिता की आत्मा आज नि.सदेह ही परम प्रसन्न होगी कि उन्ही की महत् युग पीठिका पर प्रतिष्ठित, तप और त्याग के सात्विक आदर्शो की तप्तकाचन मूर्ति, वरेण्य राजर्षि टंडन जी की महान् सेवाओ के लिए आज हमे उनका अभिनदन करने का शुभ अवसर मिल सका है।

आज हमारा देश अपनी सद्यः प्राप्त स्वतत्रता का निर्माण तथा सगठन करने में व्यस्त है। चारो ओर से नवीन जागरण की शक्तियाँ अनेक आर्थिक, राजनीतिक योजनाओ के रूप मे, अजस्र निष्ठा तथा लगन के साथ कार्य कर रही है ऐसे महत्व के युग मे जब कि हम अपने देश के बहिर्जीवन के खँडहर का पुनर्निर्माण करने में संलग्न तथा व्यस्त है, हमारे लिए अपने अतर्जीवन का सगठन, उसके जीर्णोद्धार तथा नव-निर्माण की समस्या भी उतनी ही आवश्यक है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जहाँ हमने राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्रता अर्जित कर ली है वहाँ हम सांस्कृतिक दृष्टि से अभी पश्चिम की मानसिक दासता से मुक्त नही हो सके है। शतियो से दूसरों की संस्कृति तथा दूसरों की भाषा ओढ़े हुए, मानस पुत्रो की तरह, दूसरों के विचारों में पलने, और उनके भार से आक्रान्त रहने के कारण हमारे मनोयत्र प्रेरणाशून्य, निष्क्रिय, निःस्पंद तथा मौलिकता के विहीन हो गए है। जो विराद् देश अपनी महान् प्रतिभा से सदैव ससार को चमत्कृत करता रहा है और जो उच्च मौलिक विचारो का जनक तथा सर्जक रहा है आज वह अपनी मानसिक संपत्ति दूसरे देशों से ऋण लेकर अपने जीवन तथा मानव धर्म का निर्वाह करे, यह हमारे महान् राष्ट्र के आत्म-सम्मान के लिए किसी प्रकार भी शोभाजनक नही है। हम आज केवल अन्य देशों के विचारों के भार-वाह मात्र रह गए है, और

उसी में, दुर्भाग्यवश, हम गौरव का अनुभव करते है । मध्ययुगों से हमारी चेतना इतने सम्प्रदायों, प्रान्तो, जाति-पाँति तथा रूढ़ि-रीतियो मे विभक्त होकर विघटित हो गयी है कि हम उन अस्वस्थ परम्पराओं तथा रुग्ण परिपाटियो की दीवारो को छिन्नभिन्न कर नवीन भारतीय चेतना के व्यापक प्रांगण मे अपने मानसिक जीवन का अत सगठन करने का साहस नही बटोर पा रहे हैं। इसीलिए हमारे मन मे अपनी भाषा तथा सस्कृति के प्रति घोर उदासीनता तथा उपेक्षा के भाव भर गए है । भाषा, नि संदेह ही, सामूहिक मन को खोलने की सुनहली कुंजी है, जिसके बिना लोक हृदय के द्वार बद ही रह जाते है । जिस प्रकार 'स्वदेशी आन्दोलन' से पूर्व हम बहुमूल्य विदेशी वस्त्रो मे सजधज कर अपने को सभ्य समझते रहे है उसी प्रकार हम आज विदेशी भाषा के सौदर्य मे लिपटे, अपने को सभ्य तथा संस्कृत समझने के शुभ्र अंधकार में डूबे हुए है । इसी कारण हम अपने लोक-जीवन से विच्छिन्न हो गए है और हमारा लोक-जीवन भी निष्प्राण, निर्जीव तथा चैतन्यशून्य ही रह गया है । वह हमारे राष्ट्रजीवन का अग नही बन सका है । उसमे नये जागरण तथा नयी प्रेरणा का अभाव है । भाषा के मूल, निश्चय ही, अत्यन्त गहरे, देश या जाति की सस्कृति मे या जनता की सामूहिक अन्तश्चेतना मे होते है । यदि हमारे अन्तःकरण के चैतन्य का स्रोत सूख जाय और वह अपने को वाणी न दे सकने के अभाव मे लोक जीवन का अग न बन सके और मानसिक जीवन के सौन्दर्य मे सगठित न हो सके तो इससे बड़ी क्षति, बड़ा दुर्भाग्य तथा बडा दारिद्र्य किसी देश के लिए और क्या हो सकता है ? यह तो ऐसा ही हुआ कि हम अपनी धरती मे अन्न न उपजा कर बाहर से खरीदते रहे और किसी प्रकार अपना उदर-पोषण करते रहे ।

एक ऐसे अविस्मरणीय अवसर पर, ऐसी सभ्रात उपस्थिति के सम्मुख, मुझे यह कहने मे अत्यन्त दु.ख हो रहा है कि हमारे मन की धरती अपनी भाषा के न होने के कारण अभी बजर ही पड़ी है और जो हम दूसरे देशो के विचारो के अन्न-कणों से अपना भरण-पोषण करने के अभ्यस्त हो गए है यह इस बात का दु खद प्रमाण है कि हमारे भीतर अभी अपने मनुष्यत्व के प्रति आत्म-गौरव, तथा राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान की भावना जागृत नही हो सकी है । राष्ट्रीय एकता, लोक सगठन तथा मन.शक्ति की दृष्टि से, हम, ईलियट के शब्दो मे, केवल 'हॉलो मेन' खोखले व्यक्तित्व मात्र है । लोक जीवन का सगठन एवं निर्माण कर उसे राष्ट्र जीवन तथा राष्ट्र-शक्ति का रूप देना विदेशी भाषा के बल पर नही हो सकता; वह तो केवल हमारे देश के इने-गिने मध्य वर्गीय मस्तिष्को पर ही आकाशलता की तरह शोभा दे सकती है। अपनी भाषा के न होने से हम अपनी संस्कृति के मूल स्रोतों तथा अपने लोक-सबधो के मूलों से कट कर एकदम विच्छिन्न हो गये है । क्या यह भी कहना आवश्यक है कि राष्ट्र के पोषण तथा सर्वांगीण स्वास्थ्य के लिए अन्न की नालों पर लदी हुई सुनहली बालियों से अधिक अनिवार्य भाषा के वृन्त

पर प्रस्फुटित एव विकसित उस राष्ट्र मानस के शतदल का सौदर्य-वैभव है जिसके बिना जीवन के बाह्य उपकरणो से सपन्न देश भी अंधा और कगाल ही है ? विज्ञान को प्रणाम करता हूँ । नि.सदेह, भारत जैसे शतियों से शोषित देश के बाह्य रूप का निर्माण करने के लिए विज्ञान की शक्ति हमारे लिए वरदान सिद्ध हो सकती है । किन्तु क्या यह महत् प्रश्न आज युग के सामने नही है कि भौतिक विज्ञान की शक्ति से निर्मित पृथ्वी के इस विशाल जीवन प्रागण मे कौन और कैसे लोग रहेगे ? अणु उद्जन के विध्वसक अस्त्रशस्त्र बनाने वाले दानव अथवा विश्वमगल की भावना से प्रेरित भू-जीवन-रचना मे सलग्न शिष्ट और सस्कृत मानव ? विज्ञान के विद्युद्गामी पखों पर उड़कर क्या आज का मनुष्य चद्र, भौम या शुक्र लोकों को अधिकृत कर अपने वर्तमान मन का यही क्षुद्र राग-द्वेष घृणा-स्पर्द्धा भरा अंधकार वहाँ भी फैलाएगा ?

विद्वज्जनो, आज भारतीय चैतन्य एवं भारतीय मानस और जीवनदृष्टि की विश्व को सर्वाधिक आवश्यकता है । हम अपने उस विश्व मंगल के द्योतक उच्च चैतन्य के प्रकाश को मन तथा जीवन के स्तर पर नवीन सामाजिकता तथा मानवता के रूप में तभी सगठित एवं मूर्त कर पाएँगे जब हम अपनी भाषाओं की शिराओं द्वारा उस स्वर्ग के रक्त को निर्बाध प्रवाहित कर, घर-घर मे और जन-जन मे उस स्वर्ग-पावक का वितरण कर सकेगे ।

जिस प्रकार आज के युग मे सपत्ति की वैज्ञानिक इकाई श्रम है, और लोक श्रम का स्रोत सूख जाने पर सारे संसार की सपत्ति को दुह कर भी हम वैभवशाली राष्ट्र नहीं बन सकते, और न जनता के जीवन को ही राष्ट्र कर्म की सामूहिक लय और संगति में बाँध कर उद्बुद्ध कर सकते है, उसी प्रकार किसी देश की मानसिक, आध्यात्मिक, सास्कृतिक संपत्ति का स्रोत उस देश की जीवन्त भाषा मे होता है जो नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर तक प्राणो का सामूहिक स्पंदन-कपन लिये, देश की आत्मा का प्रकाश तथा प्रबुद्ध मानसों का वैभव लिये, अविराम शब्द सचरित होती रहती है । और, परमादरणीय सज्जनो, जिस प्रकार श्रम अथवा कर्म की प्रेरणा के अभाव में जन-शक्ति में जग लग जाता है और वह जागरण का प्रकाश वाहक न बनकर, विघटन तथा ह्रास का अंधकार बन कर रह जाती है, उसी प्रकार अपनी भाषा के अभाव मे किसी भी देश की मानवता इस समाजीकरण, समूहीकरण, सस्कृतीकरण एवं विशेषीकरण के युग में दूसरों के इगित पर चलने वाली आत्म-विमुख, जीवन-विमुख, निर्जीव दारुयंत्र-मात्र रह जाती है ! यही उसका एक-मात्र मूल्यांकन है ।

आज महात्मा गांधी जी के महान् सहकर्मियों के सम्मुख करबद्ध होकर, तथा तपः प्राण श्रद्धेय टंडनजी के अभिनन्दन के इस शुभ अवसर पर महत् हर्ष से प्रणत होकर, बापू की शुभ्र जीवन-दृष्टि मुझे आप लोगों के सामने यह प्रार्थना करने को प्रेरित करती है कि

भारत की नयी पीढियाँ देश-कार्य एव लोक-यज्ञ करने मे आप लोगों के तप और त्याग के पथ की अनुयायी बन सके। हमारे गाँव एव जनपद, जहाँ हमारे देश का ८० प्रतिशत से ऊपर हृदय-स्पदन नये जीवन की प्रतीक्षा तथा आत्म-कल्याण की आशा मे साँसो का बोझ ढो रहा है—हमारी उन गाँवो की भूमि हरी-भरी तथा जीवन-उर्वर बन सके। हमारी धरती की पीठ से शतियो के दारिद्रय, दु.ख तथा अशिक्षा के अमानुषी अधकार का भार हट सके। हमारे लोकगण नयी जीवन-चेतना, नयी सस्कृति, नयी मानव-एकता के वाहक तथा प्रतीक बन सके और पश्चिम की ह्रासोन्मुखी कृत्रिम सभ्यता की कोरी प्रतिकृति हमारे भद्दे नगर, हमारे ग्राम जीवन से नये सत्य की प्रेरणा, नये श्रम की साधना, नयी सस्कृति की चेतना तथा नयी लोक एकता का सबल प्राप्त कर अपने बहिरंतर जीवन की नवीन रूप से रचना करने मे समर्थ हो सके। शात, सौम्य, सस्कृत लोक मगल एवं विश्व कल्याण मे रत, मानवता के चिरन्तन भारतीय स्वप्न को जीवन मूर्त करने वाले, अपने देश के अधिनायको, लोक-शिल्पियों तथा सभ्रात नागरिकों के सम्मुख श्रद्धेय टडन जी को पुनः पुन' विनम्र प्रणाम निवेदन करते हुए, मै अपने आद-रणीय अतिथियो का अमूल्य समय अपहरण करने के लिए उनसे क्षमा याचना करता हूँ।

———

कालिदास से भेंट

मेरे मित्र है तो अंग्रेजी के प्रकाड पडित, किन्तु कालिदास की प्रशसा करते नही अघाते। मेघदूत को वह रस सिद्ध काव्य मानते है किन्तु कुमारसभव की उमा के तो भक्त ही हो गए है। कल बहुत समय के बाद उनसे भेट हुई और शाम भर उनके साथ महाकवि की चर्चा होती रही। उनका कहना है कि जहाँ सस्कृत के अधिकाश कवि भाषा के इद्रजाल मे फँसने के मोह को सवरण नही कर सके, वहाँ कालिदास ही एक ऐसी प्रतिभा हुए, जिन्होने भाषा को अपनी अँगुलियों के कलात्मक इशारों पर नचाया है। यह जो भी हो, पर उनकी बातो का मन में कुछ ऐसा अप्रकट या प्रच्छन्न प्रभाव पड़ा कि रात महाकवि के ही स्वप्न-सहवास मे बीती।

अपने कलात्मक राजसी कक्ष में ध्यानमग्न बैठे हुए महाकवि उस समय जैसे भविष्य में लिखे जाने वाले किसी महाकाव्य की भाव सर्जना मे रत थ। रत्नच्छाया व्यतिकर के समान उनकी आँखों के सम्मुख अनेक रगो की कल्पनाएँ उस समय बल्मीकाग्र से प्रकट इद्रधनुष के तुल्य खेल रही थी। 'सुदर! सुदर!' वह अपने आप ही मुग्ध गुंजरित वाणी मे कह रहे थे, कविता का भविष्य सुरक्षित है—सौन्दर्य बोध की असीम संभावनाएँ है।....

'कविता का भविष्य?' मैने आश्चर्यचकित होकर कहा, 'आप कविता के भविष्य के बारे में क्या कह रहे थे?—उनका कक्ष छायावादी कवियों के कमरे से अधिक सजा-धजा था। उसके आयाम मेघों की धुंधली रेखाओं के-से न होकर, हीरक और प्रबाल की शिलाओं की तरह ही स्पष्ट और सघन थे। स्वर मे उनके स्वान्त:सुखाय की मादकता थी। मुझे देखकर वह मंद-मंद मुसकुराए। सहजभाव से आत्मविश्वास के साथ बोले काव्यलोक एक ही है, जिसे सत्य शिव सुदर का लोक कहते है, जिसकी अनंत संभावनाएँ हैं।' उनके सक्षिप्त उत्तर से मुझे सदेह हुआ कि संभवत. उन्हें हिन्दी बोलने में कठिनाई हो रही हो—पर शीघ्र ही मेरा भ्रम दूर हो गया। वह प्रकृतिस्थ होकर बोले—तुम सोचते होगे मैं कविता की आधुनिकतम प्रवृत्तियों से परिचित नहीं हूँ, क्योंकि तुम कविता को सीमित अर्थ मे—अनेक युगों, अनेक वादो मे बँटी हुई देखते हो।—तुम शायद स्वयं भी कवि हो और अपने से ऊपर उठ कर काव्यजगत् की महती सभावनाओं को नही समझ पा रहे हो।... मेरी दृष्टि मे वह एक ही संचरण है। आज तुम सभवत: नई कविता से भयभीत होकर मेरे पास 'पाहिमाम् पाहिमाम्' कहने आये हो। वह अपनी बात पर आपही ठठ ाकर हँस पड़े। यहाँ मैं अपने मन की बात स्पष्ट कह दूँ। मुझे महाकवि का

यह दरबारियो का-सा रूप पसंद नही आया, पर मैंने अपने मन का विद्रोह उन पर प्रकट नही होने दिया। वह मेरे मुँह को देखकर मेरे मन की बात भाँप गए और पान का चाँदी का डिब्बा मेरी ओर बढाते हुए बोले—पान तो खाते ही होगे ? केवडे की सुगध से बसा हुआ पान खाने का लोभ न रोक सकने के कारण मैंने बनते हुए कहा, 'जी हाँ, यह रोग हमारे देश मे अब और भी अधिक बढ गया है। मेरी बात से किंचित् अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्होंने एक छोटी सी रत्नमजूषा मेरी ओर बढाई। मुझे आनाकानी करते देखकर बोले—'तबाकू नही,—यह मृगमद है।' महाकवि के ऐश्वर्य को सराहते हुए मैंने थोडी सी कस्तूरी उठाकर मुँह मे डाल ली।

महाकवि मे अब पहिले जैसा आत्मीयता का भाव नही रह गया था। उनका व्यवहार-ज्ञान जग गया था। उन्होने अपने को भीतर खीचते हुए निर्लिप्त स्वर मे पूछा—कैसे आए हो ? अब मुझे नम्र होना ही पडा, क्योकि मै महाकवि के पास गया था, वह मेरे यहाँ नही आए थे। पर मैंने अपने युग के अहम् को भुलाना ठीक न समझ कर, दिल की कमजोरी को छिपाते हुए, ऊपर से हँसते हुए, गला खखारते हुए कुछ बराबरी का-सा भाव दिखाते हुए कहा—अरे, यों ही चला आया था मिलने !...अब हम लोग पिछले कवियो को तो अधिकतर पढ़ते नही—जब तक कि उनकी कटु आलोचना कर अपनी बडाई न करनी हो—और अपने समकालीनो की रचनाओं पर भी सिर्फ इधर-उधर दृष्टि दौडा कर दो चार फबतियाँ उन पर कस देते हैं. लेकिन यह कोई ऐसी बडी समस्या नही है। महाकवि को अपनी हँसी रोकने मे कठिनाई हो रही थी, कुछ उनकी मुद्रा से मुझे उस समय ऐसा ही आभास हुआ। मैंने बात बदलते हुए कहा—तो आपने नई कविता तो पढी ही होगी ? महाकवि ने मुझे बढ़ावा देते हुए सिर हिलाते, आँख मटकाते हुए कहा,—बराबर-बराबर। ..उसकी झंकार रोज कानों मे गुदगुदी पैदा करती रहती है।

शका की दृष्टि से उन्हें देखकर उनकी वाहवाही का मन ही मन ठीक-ठीक अदाजा लगाते हुए मैंने निर्भीक होकर पूछ ही डाला—तो आप अतुकात मुक्त काव्य के बारे मे क्या सोचते है ?

— 'हूँ' महाकवि ने मेरी बातों का अथवा पान का रस लेते हुए कहा—इसमे सोचने की क्या बात है ? तुकात कविता तो मैंने भी कभी नही लिखी। वह तो बड़ी पिटी-पिटाई बेतुकी सी चीज है। गायकों और गीतिकारो के पांवों की बेडी। बाकी रहा मुक्त काव्य—तो उससे तुम्हारा यदि यह अभिप्राय है कि काव्य से जितनी जल्दी मुक्ति मिले उतना अच्छा।—तो यह ठीक नही। हम लोग मुक्त भावों के कवि थे और तुम लोग मुक्तछंद के कवि हो। यही न तुम्हारा मुक्त काव्य से अभिप्राय है ?—जिसमें छंद न हो ?

मैंने कवि के व्यग्य पर लक्ष्य न करते हुए जो कि उनकी कुठा का द्योतक था—सधे तार्किक की तरह उत्तर दिया—जी, छद मुक्ति इसलिए कि भावमुक्ति मे सहायता मिल सके। दूसरे शब्दो मे जिसे अर्थ-लय की कविता कहते है—जो शब्द लय से सूक्ष्म लय है! 'वागर्थाविव सपृक्तौ' लिखने वाले महाकवि ने मर्मभेदिनी दृष्टि डाल कर, मेरे मुँह पर हवाइयाँ उडती देख कर—मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा—ठीक है, ठीक है।.. अर्थ की लय यदि अनर्थ कही न हो तो वह चल सकती है। और वह नए पैसों की तरह चल ही रही है। धीरे-धीरे ठीक-ठीक हिसाब बिठाना भी आ जाएगा। महाकवि का उपेक्षा भरा ढीठ-स्वर मेरे मन मे तब हीन-भावना जगा रहा था। पर मैंने उसे बडो की प्रौढ दुर्बलता मान कर महाकवि को मन ही मन क्षमा कर दिया। मेरी इस मानसिक प्रक्रिया का उनके मन मे न जाने कैसा अज्ञात प्रभाव पडा कि उन्हे स्वर बदल कर कहना पडा—'देखो भाई, कविता, तर्क या वादविवाद की वस्तु नही होनी चाहिए। यदि कविता कविता है—अर्थात् यदि वह काव्यगुणसम्पन्न है तो चाहे वह मुक्तछद मे हो या अर्थलय मे हो—वह कविता ही रहेगी।. नवीनता के स्वरूप को पहचानना आसान नहीं होता। नवीनता अवश्य श्लाघ्य है नव नवोन्मेषिणी प्रतिभा का सर्वत्र सम्मान होगा, वह हृदय मे आह्लाद पैदा करेगी। काव्य अथवा साहित्य का मुख्य लक्ष्य है हृदय मे आनद की अवतारणा या सर्जना करना। यदि नयी कविता अपने आनद सृजन मे सफल है तो वह अपने आनद मे अमर भी है, उसे कोई नही मार सकता। मै जानता हूँ इधर अनेक नई प्रतिभाएँ भारत के साहित्य को रसदान दे रही है . देश उनका अभिवादन कर रहा है। कविता की गतिविधि को आलोचक निर्धारित नही कर सकते, वह स्वय अपनी अबाधता से सचालित होती है ,: काव्य की गति अत.प्रेरित गति है, वह अपने कूल स्वय बनाने में समर्थ है।..' मै समझ गया कि महाकवि आशीर्वाद देने के मूड मे है।थोड़ी देर के लिए मन मे सदेह हुआ कि शायद नई कविता कवि-कुल-गुरु ने न पढ़ी हो...या उनकी भी समझ मे न आई हो पर उनके आगे के कुछ वाक्यो ने मेरे सदेह का निराकरण कर दिया: उपमाओं के कवि बोले—देखो, संध्या का वर्णन कवियों को सदैव से प्रिय रहा है। वैदिक कवि ने संध्या की उपमा पिंगल वर्ण गाय से दी है। मैंने अनेक अवसरों पर अनेक रूपों मे उसे चित्रित किया है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन कर क्या करूँ, मेघदूत ही मे तुम देख लो, जब मेघ साँझ के समय महाकाल के मदिर में पहुँचता है। महाकवि आत्मश्लाघा मे शालीनता को भूल कर कुमारसंभव तथा अन्य सस्कृत काव्यो से सध्याकालीन शृगारिक वर्णन सुनाने लगे। किन्तु तुरंत ही आत्मस्थ होकर वह छायावादी कवियों की सध्या को चर्चा करने लगे और मेघमय आसमान से धीरे-धीरे उतरती सध्या, जो उन्हे कठस्थ थी, विस्तार से भावभगिमा पूर्वक सुनाने मे लीन हो गए। नयी कविता मे जहाँ कही भी साँझ की रूप-रेखा के चित्र, प्रतीक या बिम्ब उन्हे देखने को मिले, एक एक कर सब गिना गए। .यहाँ तक कि टहनियो की टोकरी में

गोंजकर, फेंकी हुई रद्द शाम का जिक्र भी वह करना नहीं भूले जो उन्हें इसी मास किसी पत्र-पत्रिका मे पढ़ने को मिली थी। महाकवि की स्मरण शक्ति का आभास पाकर मैं आश्वस्त हो गया कि उन्होने नयी कविता पढी ही नही वह उन्हे ढेर-ढेर याद भी है। मैंने उत्साहित होकर पूछा, मान्यवर, यह तो सब हुआ, लेकिन आधुनिक काव्य मे जो यथार्थ की भावना, जो अनास्था, दु.ख, निराशा आदि की भावना मिलती है, जिस प्रकार उसमे सुन्दर और कुरूप को परस्पर गूँथ कर मानवीय बना दिया है उसके बारे मे आपकी क्या राय है ?

महाकवि ने अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक शात गंभीर स्वर में उत्तर दिया—ऐसा तो होना ही चाहिए। युग की सवेदनाएँ कला मे अपना विशेष स्थान तथा महत्व रखती है। सदैव स्वप्न, कल्पना और आदर्श से ही कैसे काम चल सकता है ? आदर्श आदर्श के स्थान पर है तो यथार्थ यथार्थ के स्थान पर। दोनों की ही उपयोगिता है। मै तो कभी भी कोरा आदर्शवादी नही रहा। न मैंने छायावादियो की तरह आनदवाद का ही अंचल पकड़ा। तुमने मेरे काव्यग्रन्थ और विशेषत: शकुतला पढी है ? उसे तुम यथार्थवादी रचना कहोगे कि आदर्शवादी ? मुझे सकपकाते देख कर कवि गुरु ने अपने को सयत करते हुए कहा—मेरे बात का उत्तर दो न ! मै कर्तव्यमूढ-सा उनके सम्मुख आँखे झुकाए खड़ा रहा। बात यह थी कि मुझसे नयी कविता के अतिरिक्त और कुछ नही पढ़ा जाता था। महाकवि के ग्रन्थों को न पढ़ने का मेरे मन मे इतना दु.ख तथा पश्चात्ताप हुआ कि मेरी आँखे सहसा जिस ग्लानि और निराशा के सूनेपन मे खुली उस खोखले, निष्क्रिय तथा विवर्ण अंधकार की अनुभूति से मेरी आत्मा सिहर उठी। अनेक शैलियाँ, अनेक स्वरूपों मे व्याप्त खण्ड-खण्ड काव्य चेतना का वृत्त सहसा मेरी आँखो के सम्मुख एक समूचे वृत्त मे नए क्षितिज की तरह खुल गया। मैंने इस आत्म-प्रवचना के क्षणो मे मन ही मन कवि को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया।

गांधी जी के संस्मरण

शुभ्र चरण धरो पांथ, शुभ्र चरण धरो,
अंकित कर ज्योति चिह्न जीवन तम हरो।

मेरे जीवन-मन के सद्यः मुकुलित क्षितिज मे, जो सदैव नवीन चैतन्य के गरिमा दीप्त सूर्य की तरह, शुभ्र सजीव आलोक किरणे बरसाते रहे, जिन्होंने हमारी पीढ़ी के, समस्त देश की नए जागरण की पीढ़ी के, आशा उत्फुल्ल आकाश को अपनी अतुल उज्ज्वल कीर्ति की वरद दीप्ति से व्याप्त रखा,—आज उन्हे थोड़े से शब्दो में—सस्मरण के रूप में बाँध कर अंकित करना अत्यन्त कठिन हो रहा है।

महात्मा गांधी के दर्शन सर्वप्रथम मुझे सन् १९२१ मे हुए थे। तब तक वह सहज परिचय के घेरे मे बँधकर, 'गांधी जी', अथवा हृदय के अधिक समीप आकर—'बापू' नही बने थे। वह पहला असहयोग आन्दोलन था, मैं तब इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज मे इंटरमीडिएट मे पढ़ता था। परीक्षा के दिन निकट ही थे, संभवतः वह फरवरी का अतिम सप्ताह था। एक रोज मेरे मँझले भाई सबेरे के समय सहसा मेरे कमरे में घुस कर बोले—'जल्दी करो, ९ बजे महात्मा जी का भाषण होने वाला है। तुरंत तैयार होकर मेरे साथ आनंद भवन चलो।'

मैं चारपाई पर लेटा वर्डसवर्थ की रचनाएँ पढ़ रहा था, जो इटर के पाठ्यक्रम मे थी। भाई की आज्ञा सुनकर मन में बड़ी झुँझलाहट हुई। मैंने बिना उनकी ओर देखे ही उत्तर दिया, 'मै नही जा सकूँगा, मुझे पढ़ना है।' मेरे भाई ने उत्तेजित स्वर मे कहा, 'पढ़ना तो लगा ही रहता है, लेकिन महात्मा जी का भाषण क्या बार-बार सुनने को मिलेगा?' मैंने दृढ़ स्वर में कहा, 'मुझे किसी का भाषण सुनने की इच्छा नही है।' 'भाई ने इस पर क्रुद्ध होकर तीखे स्वर में कहा, 'तुम इम्तहान पास कर सरकारी नौकरी और जी हजूरी करना चाहते हो? मैं यह सब नहीं होने दूँगा। उठो, भाषण नही सुनना चाहते तो कम से कम महात्मा जी के दर्शन तो कर लो।'

दर्शन करने की बात सुनकर मेरा श्रद्धालु मन जाने को तैयार हो गया और मैं तुरंत कपड़े पहन, भाई के साथ अन्य लड़कों के गिरोह में मिल कर आनन्द भवन की ओर चल पड़ा। मेरे भाई तब बी० ए० में पढ़ते थे और हम दोनों ही हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहते थे। प्रयाग में उन दिनों अनेक राजनीतिक सभाएँ हुआ करती थीं। पुरुषोत्तमदास टडन पार्क मे अनेकानेक नेताओं के भाषण होते रहते थे। राजनीति की ओर किसी प्रकार की भी अभिरुचि न होने के कारण मै उन सभाओं में बहुत कम जाता था।

हाँ, तो उस रोज जब हम आनद भवन मे पहुँचे—वह पुराना आनंद भवन अब स्वराज्य भवन कहलाता है—तो उसके मैदान मे इलाहाबाद के स्कूल कालेजों के बहुत से छात्र एकत्रित होकर महात्मा गाधी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। मेरे भाई ने विद्यार्थियो की भीड़ को चीर कर, मुझे सब से आगे, पहिली पक्ति मे खड़ा कर दिया, और आप मेरे पीछे खड़े हो गए। महात्मा जी के सभा मे प्रवेश करते ही सब छात्रो ने उच्च स्वर से उनका जयजयकार किया। महात्मा जी किस दिशा से होकर कब मच पर सुशोभित हुए यह मै तब नही देख सका था। उनके आगमन के उत्साह में ऐसा स्पन्दन कंपन तथा जयघोष चारों ओर हुआ कि मेरा मन क्षणभर को विस्मय विमूढ़ हो गया। कुछ समय के बाद उनकी सौम्य उपस्थिति से वातावरण के शान्त हो जाने पर मैने समस्त आँखो की केन्द्र बिन्दु बनी हुई जिस भव्य आकृति को सामने उच्च मंच पर बैठे हुए देखा, उससे मेरे भीतर एक अज्ञात प्रकार का संतोष प्रवाहित हुआ। जैसे अपने देश के किसी चिर परिचित सत्य को या प्राचीन कथाओ मे वर्णित उदात्त जीवन-आदर्श को आँखे मूर्तिमान रूप मे, अपने सामने, शात मौन एकाग्रभाव मे प्रतिष्ठित देख रही हो। स्वच्छ खादी से विमंडित एक दुबली पतली, दीर्घ, ताम्रवर्ण तपः क्लिष्ट मूर्ति—जैसे शरद ऋतु के शुभ्र मेघों से घिरा हुआ युग सध्या का स्वर्णशुभ्र सूर्य बिम्ब—वह उन समस्त दृष्टियो और हृदय की भावनाओ का लक्ष्य बन गए थे। गांधी जी का व्यक्तित्व तब मुझे विशेष आकर्षक नही प्रतीत हुआ। संभवतः उसमे तब वह कलात्मक सतुलन नही आया था जो आगे चलकर पहिली ही दृष्टि में मन को आकर्षित कर लेता था। उन्हे देखकर नेत्रों को तब वैसी तृप्ति नही हुई जैसी कि सन् १६१६ में बनारस में कवीन्द्र रवीन्द्र को देखकर हुई थी। परन्तु मन के किसी अज्ञात कोने में एक शांत मौन जिज्ञासा का उद्रेक अवश्य हुआ, और यह कि क्या यह कोई महापुरुष हैं ?

महात्मा जी ने अपने उस भाषण मे विद्यार्थियों को स्कूल तथा कालेज छोड़ने का आदेश देते हुए अपना मतव्य समझाया और अंत में अनुरोध किया कि जो विद्यार्थी उनके कथन से सहमत होकर कालेज छोड़ने को तैयार हों वे अपना हाथ उठाकर अपनी स्वीकृति प्रकट करें। महात्मा जी के नपे-तुले वचनों से प्रभावित होकर अनेक विद्यार्थियों ने अपने हाथ उठा दिये। मैं यह सब देख सुनकर, ऊहापोह में पड़ा, अपने कर्तव्य पर विचार कर ही रहा था कि मेरे भाई ने पीछे से मेरी बाँह पकड़कर जल्दी से मेरा हाथ ऊपर उठा दिया। मैने जब मुड़कर उनकी ओर देखा तो उन्होंने आँखें तरेरते हुए अपने ओठों के पास उँगली ले जाकर मुझे चुप रहने का आदेश दिया। मै किंकर्तव्य विमूढ़ होकर भाई के हाथ के सहारे बलात् अपना हाथ उठाए हुए चुपचाप सब नेताओं की दृष्टि के सामने आगे की पंक्ति में पत्थर की मूर्ति सा खड़ा रहा। अंत में जिन लड़कों ने हाथ उठाया था उनके अतिरिक्त शेष सब विद्यार्थियों को वहाँ से चले जाने का आदेश मिला।

जो विद्यार्थी वहाँ तब रह गये थे, अपने भाई को जब मैंने उनमे नहीं पाया तो मुझे बडा दुःख हुआ और मन ही मन डर भी लगा कि घरवाले न जाने इस आकस्मिक दुर्घटना के समाचार को सुनकर क्या कहेंगे ? खैर, बोर्डिंग हाउस लौटने पर जब मैंने अपने भाई पर संदेह प्रकट करते हुए उनके आचरण की आलोचना की तो उन्होने मुझे सात्वना देते हुए बड़ी सहानुभूति के साथ मीठे स्वर मे समझाया कि मुझे चिन्ता करने की कोई जरूरत नही है। उन्होंने जो कुछ किया है वह सब सोच समझकर किया है। और अगर हम दोनो भाई कालेज छोड़ देते तो पिता जी तब अवश्य ही बहुत नाराज़ होते। अब चूँकि वह इस वर्ष बी० ए० मे प्रथम श्रेणी में पास होने का प्रयत्न करेंगे, घर वाले उसकी खुशी मे इस घटना को भूल जाएँगे इत्यादि ..

इस प्रकार, महात्मा जी के प्रथम दर्शन का प्रभाव तो तब मेरे मन पर उतना अधिक नही पड़ा, पर हाँ, मेरे विद्यार्थी-जीवन को एक प्रकार से समाप्त कर, और मेरे बाह्य जीवन की गति में बहुत बड़ी उथल-पुथल मचाकर, उन्होने उसकी दिशा को, जैसे अपने पहले ही सस्पर्श से सदा के लिए बदल दिया। घरवालो के सरक्षण मे कालेज की शिक्षा पाने का अभिलाषी यह किशोर छात्र अब मुक्त तथा निरवलब होकर अपनी परिस्थितियो से जूझता हुआ मानव-जीवन का एक विनम्र छात्र बन गया।

सन् १९२१ के बाद गांधी युग अपना सक्रिय स्वरूप धारण कर चुका था और उसके प्रभाव को भुलाना असभव हो गया था। मेरा साहित्य रस लोलुप मन, अध्ययन मनव छोड़कर, बीच बीच में, श्वेत खादी से विभूषित गाधी जी की अर्धनग्न, कर्मठ प्रतिमा को अपलक अंतर्दृष्टि से देखने तथा उसके सच्चे स्वरूप को समझने के लिए लालायित हो उठता था। किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र की स्वप्नोन्मुखी चेतना के प्रभाव को भुलाना भी उसके लिए सभंव नहीं था, क्योकि उसी की सौन्दर्य छाया में वह तब तक पला था। युग कवि के अन्तर्मुख कल्पना सौन्दर्य तथा युग नायक या मानव के बहिर्मुख यथार्थ बोध के बीच तब जैसे मेरा मन आँख मिचौनी खेला करता था। उन दिनों विदेशी वस्त्रो की होली जलाने के संबंध में गांधी जी तथा गुरुदेव मे जो वादविवाद छिडा था उससे संतोष मिलने के बदले मनकी जिज्ञासा और भी बढ़ गयी थी। मानव सत्य के मानदड का अन्वेषण——यह मुझे धीरे-धीरे इस युग की परम आवश्यकता प्रतीत होने लगी। सन् '२१ से सन्' ३६ तक का समय गांधीवाद के विकास का समय था जब समस्त देश उसकी प्रयोगशाला बन चुका था।

मै जब सन्' ३६ में महात्मा जी से दूसरी बार मिला था तब नमक सत्याग्रह आंदोलन वैयक्तिक आंदोलन का रूप धारण कर विराम ग्रहण कर चुका था और गांधी जी ग्रामोद्योग संगठन का कार्य आरम्भ कर चुके थे। भारतीय जीवन की परिस्थितियों की पृष्ठ-भूमि मे गाधीवाद तब सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, सत्य, अहिंसा आदि के नामों से गांधी-

दर्शन के रूप मे पुष्पित पल्लवित एवं विकसित हो चुका था। एक सक्रिय सामूहिक अस्त्र के रूप में उस पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ़ प्रतिष्ठित हो चुका था। गाधी जी उसे ग्रामोद्योग संगठन मे तब अधिक निर्माणात्मक रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस बार जब मै उनसे मिला तब वह दिल्ली मे हरिजन आश्रम में ठहरे हुए थे। मेरे साथ मेरे वही मँझले भाई थे जिन्होने मेरा हाथ उठाकर मुझसे कालेज छुड़वाया था।

गांधी जी ने दोपहर को हमें मिलने का समय दिया था, वह उनका भोजन करने का समय था। कुछ लोग उन्हे घेर कर बैठे हुए थे। मैं और मेरे भाई भी उन्ही मे सम्मिलित हो गए। मीरा बन आकर महात्मा जी के खाने की सामग्री रख गईं। आधी छटाँक के करीब पिसे हुए गेहूँ, आधा गिलास बकरी का दूध, कुछ अजीर और एक संतरा। गाधी जी ने संतरा लौटा दिया। और क्षण भर चुप रह कर, उस स्वल्प खाद्य सामग्री को भगवदर्पित कर, उन्होने काठ की चम्मच से कच्ची गेहूँ की पीठी को दूध में मिलाया। चम्मच को मुँह तक ले जाने में उनका हाथ बराबर काँपता जाता था।

गाँधी जी से तब जो सज्जन बातें कर रहे थे उनका मस्तिष्क लाठी चार्ज के कारण विकृत हो गया था। उनके कान में बराबर आवाजें आया करती थी। महात्मा जी उनकी अटपटी बातें सुनकर मुक्त हृदय से हँसते जाते थे और अन्त में उनसे यह कहकर कि पागल को, तुम पागल हो, समझाना संभव नहीं है...वह हम लोगो की ओर मुड़कर कुशल समाचार पूछने लगे। अंत में उन्होंने मुझे और भाई को आश्रम में भोजन कराके अपने साथ गाँवों में चलने का आदेश दिया।

उस समस्त वार्तालाप के अवसर पर मै एकटक गांधी जी की ओर देखता रहा। उनकी आँखों के भीतर जहाँ तक मेरी दृष्टि विचरण कर सकी वह मुझे मुक्त अनंत आकाश की तरह प्रतीत हुए। निर्लिप्त, निर्मल, व्यापक आकाश जो प्रेम की तरह स्निग्ध, सरस तथा अतल था। इस बार मैं उनके व्यक्तित्व से अत्यन्त गहरे तथा आंतरिक रूप से प्रभावित हुआ। उनके साथ गाँवों में जाकर मैंने जो उनके भाषण सुने तथा गाँववालो की दु:ख कथा सुनकर उनकी मानसिक प्रतिक्रिया की जो छाप उनकी मुखाकृति पर देखी उससे मुझे गाँधी जो को समझने मे बड़ी सहायता मिली। घर लौटने पर मैंने महात्मा जी पर अपनी सर्वप्रथम कविता लिखी थी जो 'बापू के प्रति' शीर्षक से सन्' ३६ में प्रकाशित हुई थी। उसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है :

> जड़वाद जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान्
> यंत्राभिभूत युग में करने मानव जीवन का परित्राण।
> बहु छाया बिम्बों में खोया पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान
> फिर रक्त मांस प्रतिमाओं में फूँकने सत्य से अमर प्राण।

इसके बाद गांधी जी से अनेक बार प्रयाग, बंबई तथा मद्रास में भेंट हुई। उनके

देवोपम व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहणकर समय-समय पर मैंने जो रचनाएँ लिखी वह मेरे अनेक काव्य संग्रहो मे प्रकाशित हो चुकी है। 'महात्मा जी के प्रति' रचना मे मैंने मानवता के विकास की वर्तमान पृष्ठभूमि में गाधीवाद का मूल्याकन इन शब्दो मे किया है :

विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपान्तर
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल।
हे भारत के हृदय! तुम्हारे साथ आज नि सशय
चूर्ण हो गया विगत सास्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

गाधीवाद के भविष्य पर आस्था प्रकट करते हुए मैंने लिखा है .

सत्य अहिंसा बन अतर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते जन भू के व्रण।

आज सह-अस्तित्व के सिद्धात के रूप में गाधी का सौम्य समन्वयात्मक सत्य ही जसे नवीन विश्वशाति का शिलान्यास करने का प्रयत्न कर रहा है।

अन्तिम बार गाधी जी के दर्शन मैंने बबई में जूहू तट पर किए थे, जब वह 'भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद आगा खाँ महल मे महादेव भाई तथा बा को सदा के लिए समाधि में सुलाकर, अतिम कारावास से मुक्त होकर, स्वास्थ्य लाभ करने आए थे। एक अभूतपूर्व, प्रज्वलित पर्वत शिखर के समान ताम्रवर्ण, दैदीप्यमान, वह तब मुझे महत् संकल्प शक्ति से मूर्तिमान प्रतीत हुए। गाधी जी के सस्मरण मेरे लिए उनके बाह्य संपर्क से सबंध रखने वाली घटनाओं का चित्रण-मात्र नहीं है, वह उससे भी अधिक, उनके आंतरिक संस्पर्शजनित सूक्ष्म अनुभवो तथा निगूढ प्रभावो का महत्त्व मेरे लिए रखते है। उनके संपर्क में आकर मेरे भीतर यह बात अपने आप जैसे स्पष्ट हो गई कि मानव-जीवन के सत्य का स्वरूप किस प्रकार, महान् ऐतिहासिक युगो में बदलकर पुनर्निमित तथा पुन संगठित होता रहता है। एक ऐसी महान् आत्मा तथा विश्व विभूति को जिसने मानवता के विकास के लिए आत्म-बलिदान दिया है, मै आज फिर से उनकी जयती के अवसर पर अपनी प्रणत श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ .

बापू, तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।
नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेगे निश्चय।
नव संस्कृति के दूत, देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य।

श्री रवीन्द्रनाथ के संस्मरण

मुझे सबसे पहिले कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन सन् १९१८ में सुलभ हुए थे—और वह मात्र दर्शन ही थे। तब मै बनारस जयनारायण हाई स्कूल मे दसवी कक्षा मे पढ़ता था। सहसा एक दिन कवीन्द्र के आगमन की चहल-पहल बनारस में सुनाई दी। वह संभवतः नवंबर का महीना था। एक दिन प्रातःकाल ११ बजे के करीब सब स्कूलो कालेजों के छात्र थियासाफिकल सोसाइटी के भवन के अहाते मे एकत्र हुए, कवीन्द्र ने अपने किसी नाटक का अंग्रेजी रूपातर छात्रो को सुनाना स्वीकार किया था। कौन सा नाटक था अब मुझे स्मरण नही। हाँ, यह स्मरण पड़ता है कि हम छात्रों को कुछ देर तक उत्सुकता-पूर्वक कवीन्द्र की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और तब एक लंबे ढीले काले लवादे में लिपटे कवीन्द्र रवीन्द्र सिर पर ऊँची काली मखमली टोपी लगाए यकायक एक ओर से मंच पर प्रकट हुए थे। आत्मगौरव के प्रतीक कवीन्द्र तब अपनी प्रसन्न गभीर मुद्रा मे ऐसे लगते थे जैसे स्वय कोई प्रकाशमान देवता ही मूर्तिमान होकर अपने तेज से आँखो को चकाचौध कर देने के कारण काले लवादे से घिरा सा प्रतीत होता हो। कवीन्द्र ने हठात् अपना गला खखार कर तीव्र मधुर स्वर मे, अभिनयपूर्वक, अपना प्रायः घण्टे भर का नाटक सुनाया था। उसके पूर्व स्व० डा० भगवानदास ने सक्षेप मे कवीन्द्र का अभिनंदन किया था और अंत में उन्होंने उन्हे धन्यवाद भी दिया था।

कवीन्द्र के दर्शन के बाद छात्रो में अनेक दिनो तक उन्ही की चर्चा चलती रही। निःसदेह, रवीन्द्रनाथ का दीप्त व्यक्तित्व मेरे मन मे भी अपना प्रभूत प्रभाव छोड़ गया था। मैंने बगला के अध्ययन करने का विचार कर लिया और अपने भाई के एक मित्र की सहायता से बनारस ही मे उसका श्रीगणेश भी कर दिया। इसके उपरान्त १४ वर्षों, तक, कवीन्द्र के मनोमय दर्शन ही उनकी बंगला-अंग्रेजी पुस्तकों के माध्यम से सभव हो सके। रवीन्द्र साहित्य की भावना की उदात्तता तथा उनके काव्य के कालिदासोपम सौन्दर्य बोध का मुझ पर गभीर प्रभाव पड़ा, किन्तु उनमे कालिदास के से शब्द चयन का अभाव मिला और उसमें कीट्स ी-सी कलाशिल्पिता तथा सूक्ष्म अभिव्यंजना की कमी मुझे सदैव खटकती रही। उनकी काव्यशैली प्रायः ही शब्द मुखर तथा ढीलीढाली है—अंग्रेजी अनुवादो मे अधिक सयम, गठन तथा चुनाव मिलता है। एक आध 'उर्वशी' जैसी रचनाओं को छोड़ कर उनका शब्द प्राचुर्य अधिक परिचय के उपरांत अनाकर्षक ही हो जाता है। उनके गीत अलबत्ता अपनी मधुरता तथा सम्मोहन मे बेजोड़ है। इसीलिए कवि रवीन्द्र से गीतिकार रवीन्द्र ही मुझे अधिक प्रिय रहे है।

सन् १६३३ के आस-पास ग्रीष्मऋतु मे रवीन्द्रनाथ स्वास्थ्यलाभ करने को दो ढाई महीनो के लिए अल्मोड़े गए थे। मै तब वही था। सन् १६१८ के कवि दर्शन के बाद उनसे व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे अल्मोड़े ही मे मिला था। कवीन्द्र कैन्टोन्मेट के एक भव्य बगले मे ठहरे थे। उन दिनो डा० चद्रा उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे। रामजे कालेज के बड़े हाल मे नागरिको की ओर से कवीन्द्र के अनुरूप ही उनका अभिनदन हुआ था। बाद को रानीखेत के नागरिको ने भी उनके स्वागत का विराट् आयोजन किया था। मै उसमें उपस्थित था और मैंने ही सभा को कवि का परिचय देने की प्रथा निभाई थी।—उसके बाद ही एक दिन मैंने शाम को डा० चद्रा से कवि से मिलने की इच्छा प्रकट की। डा० चद्रा मुझे बैठक मे बिठाकर कवि की अनुमति लेने गए थे। दस मिनट की प्रतीक्षा के बाद कवीन्द्र बगल के दरवाजे से बैठक मे उपस्थित हुए थे। मैंने संभ्रमपूर्वक उनको प्रणाम किया था। कवीन्द्र सामने के सोफे पर विराजमान हुए और क्षण भर मुझे देखने के बाद डा० चद्रा से बंगला में बोले—'छटपन मे मैं भी इसी तरह के बाल सँवारता था पर बड़े होने पर मैंने यह ढंग छोड़ दिया—बड़ा बचकाना लगता है।' डा० चद्रा हँस दिए और मै भी उनकी ओर देखकर मुस्करा दिया। मैंने कवीन्द्र से उनके स्वास्थ्य के बारे में प्रश्न किया उन्होने उसके उत्तर मे सिर हिला दिया और मुझसे बैठक की सजावट के बारे मे बाते करने लगे कि किस तरह उन्होने वहाँ की चीजो का उपयोग अपने ड्राइगरूम को सजाने मे किया है। उन्होने पहाड़ी सुराहियों को फूलदान बनाया था और पहाड़ी चिलमो को उलट कर उन्हे मोमबत्ती दान में बदल दिया था। पहाड़ी सुराही और चिलम काली मिट्टी की होती है जिनसे मिलता जुलता काम उन्होने सुफेद मेजपोशों पर काले रग के तागे से करवाया था। मैंने स्वभावतः उनकी सुरुचि तथा सूझ की भूरि भूरि प्रशंसा की और कहा कि आप यहाँ के निवासियों के लिए सादगी और सौदर्य का उदाहरण प्रस्तुत किए दे रहे है।

मैंने फिर उनसे उनके स्वास्थ्य के बारे मे पूछा—क्योंकि वे वहाँ स्वास्थ्यलाभ ही के लिए आए हुए थे। उन्होंने उसे अनसुना करके पहाड़ी स्त्रियों के पहनावे तथा रंगों के चुनाव के बारे मे तारीफ करना शुरू कर दिया। उन्होने कहा पीली ओढ़नी में लाल-फूल और काले लहगे मे पीली गोट और चटकीले रंग के दुपट्टे यहाँ की गौरवर्ण स्त्रियों को खूब फबते है और यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के वातावरण से खूब मेल खाते है। सभवतः उन्होंने अल्मोड़े की शाह घराने की स्त्रियो को देखा होगा और उन्ही को लक्ष्य करके ये बाते कही होंगी। उन्होंने मुझे यह भी बतलाया कि वे यहाँ के पहाडी रगों की खोज करवा रहे हैं और उन्हे अपने चित्रों मे इस्तेमाल कर देखना चाहते हैं।

जब थोड़ी देर के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपको अल्मोड़े का प्राकृतिक दृश्य कैसा लगता है तो उसका भी उत्तर न देकर वे बोले—'क्या तुम यही के रहने वाले हो?'

मैंने कहा, तभी तो यहाँ की प्राकृतिक छटा के बारे मे आपके विचार जानना चाहता हूँ। वह कुछ और कहने ही जा रहे थे कि डा० चद्रा ने धीरे से मेरे पीछे खड़े होकर कहा ऊँचे स्वर मे बोलो तब अपनी बातों का उत्तर पाओगे। मै नि सदेह सकोचवश बहुत धीमे स्वर मे बोल रहा था। मै अपनी बातों का उत्तर न पाने का रहस्य समझ गया और मैंने अपना स्वर उठाया। कवीन्द्र ने उत्तर दिया, पहाडी सौदर्य मेरे लिए नया नही है—दार्जिलिग से हिमशिखरों की शोभा और भी भव्य लगती है। उन्होने कहा, इस समय तो मै यहाॅ की जलवायु से लाभ उठाने आया हूँ। मैंने उनसे कहा, हम लोग भगवान से प्रार्थना करेगे कि हमारे नगर मे उन्हे पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ हो। मेरी इस बात से कवीन्द्र बडे प्रसन्न हुए। उन्होने डा० चद्रा से बंगला में कहा—इसे कभी खाने को बुला लेना और उन लड़कियों से भी कह देना कि दो एक पहाडी चीजें तैयार करें। अल्मोडे की दो लडकियाँ तब शान्तिनिकेतन में पढती थी, कवीन्द्र का इशारा उन्हीं की ओर था।

बातो मे देर हो गई थी मैंने डा० चंद्रा से पूछा गुरुदेव से मिलने फिर आ सकता हूँ? डा० चद्रा के पूछने पर उन्होने कहा—तुम जब चाहो आ सकने हो। मैंने कवीन्द्र से बिदा ली। वह अदर जाने को उठे। उनकी कमर झुक गयी थी पर फिर भी वह बहुत सुदर लगते थे। अस्वस्थ होने पर भी उनके मुख पर तेज था और बडी-बडी आॅखों मे प्रकाश का सागर हिलोरे लेता था। मुझे जाने को तैयार देखकर उन्होने पूछा—शान्ति-निकेतन कभी गए हो? मेरे नही कहने पर उन्होने आदेश के स्वर मे कहा—वहाँ जरूर आओ—तुम्हारी उम्र की वहाँ अनेक लडकियाँ मिलेगी। मैंने उनके चरण स्पर्श कर उनसे बिदा ली।

इसके बाद अल्मोडे मे कवीन्द्र रवीन्द्र से अनेक बार मिलने का अवसर मिला। वह पीछे के बरामदे मे बैठे प्राय: दिन को चित्र बनाया करते थे और मुझे वही बुला लेते थे। उनके सिर पर तब उनकी ऊँची टोपी नहीं रहती थी। मुझे उन्हें चित्र बनाते हुए देखने का शुभ अवसर मिला। उन्होने अल्मोड़े मे जो चित्र बनाए थे उनमें एक घने जंगल की आकृति थी, और एक मे एक बड़ी चट्टान अंकित थी। ऐसा मुझे स्मरण आता है एक बार मैंने कहा कि आपके चित्र मेरी समझ मे नही आते तो उन्होंने अर्ध परिहास के स्वर मे उत्तर दिया—उन्हे समझ-कर क्या करोगे? कविता तो समझ लेते हो न? रवीन्द्र-नाथ ने मेरे अनुरोध करने पर अपनी उर्वशी नामक रचना सुनाई थी। जब मैंने उनसे गीत सुनाने की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा, गाने के लिए अब मेरा कठ नहीं रह गया है तुम चाहो तो गुनगुना सकता हूँ। उन्होने मधुर गंभीर स्वर में अपने गीत के पद गुनगुनाए।

एक दिन तीसरे पहर जब मैं कवीन्द्र के पास पहुँचा उन्होने मेरे पहुँचते ही कहा कि आज तुम्हारे एक कवि ने मुझे अपनी पहाड़ी रचनाएँ सुनाईं—यहाँ की बोली बंगला से

बहुत मिलती जुलती है। अब मै यहाँ के लोगों से बगला में ही बोलूँगा। और उन्होंने रानीखेत मे अपने अभिनदन के अवसर पर मेरे भाषण का बगला ही मे उत्तर दिया।

इसके बाद मुझे कवीन्द्र से शान्तिनिकेतन मे तीन-चार बार भेट करने का अवसर मिला। मुझे शान्तिनिकेतन मे देखकर वह बडे प्रसन्न हुए। वहाँ के वातावरण मे उनका गुरुदेव-का-व्यक्तित्व अधिक विशद लगता था। किन्तु जैसी घनिष्टता से अल्मोड़े मे उनके निकट सपर्क मे आने का अवसर मिला था, वह फिर शान्तिनिकेतन मे सुलभ नही हो सका। वहाँ उनका परिहास प्रिय रूप ही अधिक देखने को मिला। डा० हजारी-प्रसाद जी की ओर सकेत कर उन्होंने कहा कि मैंने तुम्हारे बारे मे इनसे सब पूछ लिया है तुम्हारे सबध मे जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने वहाँ कवीन्द्र को चडालिका का रिहर्सल कराते हुए भी देखा। उनके 'बुद्ध शरण गच्छामि' के घन गभीर स्वर अब भी मेरे कानो मे गूँज उठते है। उन दिनो मेरा रुझान मार्क्सवाद की ओर अधिक था। मै रवीन्द्रनाथ के उन्नत आदर्शवाद के अतिरिक्त ऐतिहासिक वास्तविकता का बोध प्राप्त कर अपने लिए एक अधिक व्यापक मानसिक धरातल की खोज मे था। रवीन्द्र दर्शन विचारो की दृष्टि से अस्पष्ट तथा वायवी ही है। वे पश्चिम के लिए पूर्व के आख्याता तथा पूर्व के लिए पश्चिम के सदेशवाहक भले ही रहे हों पर उनका आदर्शवाद उनके युग की मध्यवर्गीय सीमाओ से बुरी तरह ग्रस्त है। उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति तथा अनुभूति अधिक प्रौढ़ होने पर भी उनकी कविता मे छायावाद के सभी दोष न्यूनाधिक मात्रा मे वर्तमान है। पश्चिम के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा जैवशास्त्र सबधी विचार-धाराओ के कारण तब के बदलते हुए जीवन-मूल्यो के दृष्टिकोण के बारे मे जब मैंने कवीन्द्र से पूछा तो उन्होने हँसी मे टालते हुए कहा कि, ना, बाबा, उसके बारे मे तुम्ही सोचो। मै अब बुढ़ापे मे पुराने आदर्शो तथा जीवन-प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठाऊँगा तो लोग मेरे मरने के बाद शोक सभाएँ नही करेंगे—तुम्ही अपनी पीढ़ी की समस्याओ से जूझो और उनके बारे मे लिखो।

— ——

गीतांजलि

रवीन्द्रनाथ इस युग के भारतीय जागरण के कवि रहे है। जागरण का सचरण अपने साथ जो कुछ भी भाव और विचारों, का ऐश्वर्य, शिल्प-सौदर्य और रूप-कला आदि लाता है रवीन्द्र साहित्य उसका प्रतिनिधित्व करता है। कवि रवीन्द्र भाग्य के लाड़ले रहे है, उन्हे जहाँ एक ओर उच्च सस्कृत कुल और घर मिला वहाँ दूसरी ओर नवीन जागरण की उद्बुद्ध चेतना और बंगाल के वैष्णव कवियो की महान् रस-सपन्न सौदर्य, माधर्य एवं आनंद की धरोहर भी मिली है। बगाल का वैष्णव साहित्य अपनी एक विशेषता रखता है। उसमे, तत्कालीन भारतीय भाषाओ के साहित्य मे, सर्वाधिक रस का परिपाक हुआ है। साहित्य से लेकर धर्म और दर्शन तक मे उस युग मे 'रसो वै सः' का पूर्णतम अवतरण श्री राधाकृष्ण के अनिवर्चनीय प्रेम का आलबन लेकर सिद्ध हुआ है। गौराग के प्रादुर्भाव से भारतीय जीवन तथा दर्शन की अपरिमेय सास्कृतिक सपत्ति अपनी पराकाष्ठा मे पहुँच कर, श्री राधा मे मूर्त, महाभाव के रूप मे चरितार्थ हुई है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज कहते है :

'राधिकार भाव मूर्ति प्रभुर अतर
सेइ भावे सुखदुःख उठे निरतर'

मानव सुख दु.ख की भावना को अतिक्रमकर, उसे प्रेम सूत्र मे गूँथ कर, परमात्मा को अर्पण कर देना और उसी मे तन्मय हो जाना—बगाली वैष्णव कवियो को स्वभाव से ही यह हृदय की रस सिद्धि मिली है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि श्री राधा जी धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे अवतरित होने से पहिले साहित्य मे प्रकट हुई हैं। चंडीदास की शुद्ध भावना मे हम बगाल की ग्रामबाला के सरल प्राकृत प्रेम के ही दर्शन पाते है—जो भाव भाषा छंद उपमा की दृष्टि से अपनी ही अकृत्रिमता के कारण अलौकिकता के स्तर पर पहुँच गया है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यशिराओं मे यही अविच्छिन्न प्रीति की रस धारा प्रवाहित रही है। जिस प्रकार वैष्णव प्रेम-कविता का विकास विरह मे, दुःख मे तपकर हुआ—विरह की विकलता के ही कारण उसमें गहराई आई और वह शुद्ध, व्यापक, अमृतत्वमयी प्रणय भावना को अभिव्यक्त कर सकी—उसी प्रकार हमे रवीन्द्रनाथ के हृदय मे भी एक रहस्यमयी विरहिणी नारी के दर्शन होते है जो अपने मार्मिक अंतः स्पर्श से कवि की वीणा के तारों से रसप्लावित स्वरों की सृष्टि करती रहती है।

प्रेम, आनद और माधुर्य ये जुड़वा भाई है—एक ही रस की संतानें। इसमे सदेह नही

कि रवीन्द्रनाथ की कविता में प्रेम और आनंद का रस मुख्यत माधुर्य और सौदर्य के रूप मे प्रकट हुआ है। जब रवीन्द्रनाथ अपने प्रभात संगीत में 'मधुर मधु आलो, मधुर मधु वाय, मधुर मधु वेगे तटिनी बहे जाय' कहत हैं तो मन मे अज्ञात रूप से वैष्णव कविता के रस-रूप कृष्ण की माधुरी का स्मरण हो उठता है—मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्—मधुगंधि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुर मधुरम्।' इत्यादि—और 'जेदिके आँखि चाय सेदिके चेये थाके—जाहरि काछे पाय ताहारे काछे डाके।' आदि पंक्तियाँ उन प्राकृत प्रेम से भरी बंगाली कविताओं की याद दिलाती है जहाँ कक अथवा महपाल बन्धु नाम के किसी चरवाहे की बाँसुरी सुनकर अबला कन्या सुध बुध भूल कर जिस दिशा से वंशी-ध्वनि आती है उसी ओर देखती रह जाती हैं। रवीन्द्रनाथ ने प्राचीन वैष्णव कविता से प्रभूत रस तत्व ग्रहण कर उसे युग के अनुरूप नवीन सौन्दर्य गरिमा का परिधान पहनाया है। भारतीय चेतना को उन्होंने पश्चिम के आधुनिक सौंदर्यबोध में मण्डित किया है। उनकी प्रसिद्ध 'उर्वशी' नामक कविता में बंगाली काव्य की विचित्र प्रेमिका की ही नवीन रूप में अवतारणा हुई है।

"नह माता, नह कन्या, नह वधू, सुंदरी रूपसी,
है नंदनवासिनी उर्वशी!
गोष्ठे जबे संध्या नामे श्रांत देहे स्वर्णांचल टानि'
तूमि कोनो गृह प्रांते नाहि ज्वालो सध्या दीप खानि।
द्विधाय जड़ित पदे, कंप्रवक्खे नम्र नेत्र पाते
स्मितहास्ये नाहि चलो सलज्जित बासरसज्जाते
स्तब्ध अर्ध राते।
उषार उदय सम अनवगुंठिता, तूमि अकुठिता।"

उर्वशी नवीन भाव तथा सौदर्य राशि मे मण्डित कवि की प्रणय चेतना की मूर्ति है। न वह मा है, न कन्या है, न बधू है—वह केवल सुदरी है—रूपसी है—स्वप्नों के नदनवन की निवासिनी, आद्यंत, नखशिख केवल प्रेमिका है। उसे न साँझ को किसी गृहिणी की तरह गृह कक्ष में दीप जलाना है, न स्तब्ध अर्धरात्रि के समय लज्जाजड़ित पदों से, काँपते हुए वक्ष और झुके नेत्रपातों के साथ मंदहास्य मण्डित मुख से पति के शयन कक्ष ही में जाना पड़ता है। वह तो सामाजिक आचार-विचार की समस्त कुठाओ से मुक्त, ऊषा के समान अगुठित, स्वयं प्रस्फुटित हुई है। कैसे प्रस्फुटित हुई है?—'वृंतहीन पुष्प सम आपनाते आपनि विकशि' कबे तूमि फूटिले उर्वशी—

आदिम बसंत प्राते उठेछिले मंथित सागरे,
डानहाते सुधापात्र, विष भांड लये बाम करे,
तरंगित महासिन्धु मंत्रशांत भुजंगेर मतो

पडेछिल पदप्राते, उच्छ्वसित फणा लक्ख शत
करि अवनत ।
कुद शुभ्र नग्न काति शुरेन्द्र बदिता
तूमि अनिन्दिता ।

यह सुरेन्द्रवदिता, अनिन्दिता, विश्व प्रेयसी वृत्तहीन नालहीन पुष्प के समान अपने से अपने आप ही तो प्रकट अथवा विकसित हुई । वह प्रथम वसत का प्रभात था जब सागर के मथित वक्ष से दाएँ हाथ मे सुधापात्र और बाँए हाथ मे विष भरा कटोरा लेकर वह उठी थी—जिसके कुदशुभ्र नग्न सौदर्य को देख कर तरगित महासमुद्र मत्र कीलित भुजग की तरह, अपने शतशत उच्छ्वसित फणो को अवनत कर उसके चरणो के तले लोट गया था । कैसा अद्भुत आकर्षण और सम्मोहन है, इस अनिन्द्य सौदर्यमयी प्रेमिका का, इस अनत यौवना रूपसी का । क्या यह कभी मुकुलिका बालिका भी रही होगी ? यह यौवन गठिता, यह पूर्ण प्रस्फुटिता रूप कला । न जाने यह अकेले किस मरकत गुहा मे माणिक मोतियों के साथ शैशव की लीला करती रही होगी । मणि दीप से दीप्त कक्ष के प्रवाल के पालने में, सिंधु के संगीत मे, यह न जाने किसके अंक मे सोई होगी—

जुग जुगातर हते, तूमि शुधू विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्व शोभना उर्वशी,
मुनिगन ध्यान भॉडि देय पदे तपस्यार फल
तोमारि कठाक्षपाते त्रिभुवन जौवन चचल,
तोमार मदिर गध, अधवायु बहे चारिभिते
मधुमत्त भृग सम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चित्त
उद्दाम सगीते ।
नूपूर गुंजरि जाओ आकूल अंचला
विद्युत् चंचला ।

यह अपूर्व शोभना ही निश्चय युगयुगान्तर से भुवन मोहिनी, विश्व सृष्टि की प्रियतमा रही है—मुनियो का ध्यान भग कर इसने उन्हे साक्षात् तपस्या का फल प्रदान किया है—इसके कटाक्ष मात्र से तीनो लोको का यौवन उच्छ्वसित उद्वेलित होता रहा है—इसी की मदिर गंध को ढोती हुई वायु उन्मत्त हो चारों ओर दौड़ा करती है । कवि का चित्त इसकी रूप राशि से लुब्ध होकर मधुमत्त भृंग की तरह उद्दाम संगीत मे झंकृत हो विचरा करता है—

यह अक्षय सौदर्य माधुर्य की भुवनमोहिनी सृष्टि उर्वशी—हाय, इसकी तनिमा जगत के अविरत अश्रुधार से धौत है 'जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा'—इसकी

चरण शोणिमा त्रिलोक के हृदय रक्त से रँगी है—नही तो सुरसभातल मे नृत्य करने वाली इस विलोल हिल्लोल उर्वशी की शोभा अपूर्ण ही रह जाती —इसके सौदर्य को पहचानने के लिए वैष्णव युग की विरह निकष साधना चाहिए ।—इस निष्ठुरा वधिरा प्रेमिका के लिए युग युग से दिशाएँ रो रही है ।

'फिरिबे ना, फिरिबे ना, अस्त गेछे शे गौरव शशी,
अस्ताचलवासिनी उर्वशी !

इसीलिए आज प्रत्येक वसतोत्सव के आनदोछ्वास में पृथ्वीतल पर 'कार चिर विरहेर दीर्घ श्वास मिशे र' हे आशे ! ' पूर्णिमा की रजनी में जब चारों ओर परिपूर्ण हास्य का सिन्धु उमड़ता होता है न जाने कहाँ से दूरस्मृति व्याकुल कर देने वाली बाँसुरी बजाती रहती है—आँखो से अपने आप अश्रुराशि झर-झर पडती है । यही हृदय मथित कर देने वाली विरह की व्याकुल पुकार हमें 'शाजाहान' शीर्षक सौंदर्य मुग्ध रचना में सुनाई पडती है—'भूलि नाइ भूलि नाइ भूलि नाइ प्रिया ! '—

राज्यशक्ति बज्र शुकठिन
सध्यारक्त रागशम तद्रातले हय होक् लीन,
केवल एकटि दीर्घ श्वास
नित्य उच्छ्वसित हये शकरुन करूक आकाश
एइ तब मने छिल आश ।'

'सोनार तरी' की 'हृदय जमूना' शीर्षक रचना जो 'सचयिता' नामक रवीन्द्रनाथ के काव्य सग्रह मे सगृहीत है वह भी मन की आँखों के सामने वैष्णव काव्य युग का वातावरण अज्ञात रूप से चित्रित कर देती है । कविता प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक होने पर भी 'जदि भरिया लइबे कुभ' इस प्रथम पक्ति से ही पनघट तथा यमुनातट पर एकत्रित गोपियो की स्मृति मन में जगा देती है । कविता इतनी सरल है कि वह पढ़ते ही मन में अंकित हो जाती है । उसके कुछ अश इस प्रकार है—

'जदि भरिया लइबे कुभ, एशो ओगो एशो, मोर हृदय नीरे ।
तल तल छल छल कादिबे गभीर जल
उइ दुटि सुकोमल चरण घिरे ।'
आजि वर्षा गाढ़ तम निबिड़ कुतलसम
मेघ नामिया छे मम दुइटि तीरे ।
एइजे शबद चिनि, नूपुर रिनिकिझिनि,
के गो तुमि एकाकिनी आसिछ धीरे ।

जदि भरिया लइबे कुभ, ऐशो ओगो एशो, मोर हृदय नीरे, इन पदो से वही

वैष्णव युग की विरह क्लिष्ट प्रेम साधना की गूढ़ गभीर ध्वनि मन मे गूँज उठती है—विशेषकर 'उइ दुटि सुकोमल चरण घिरे।' अथवा 'के गो तुमि एकाकिनी आशिछ धोरे।' मानों गोपियों के नूपुरो से झकृत 'रिनिकि झिनि' बज रहा हो कविता के चरणो मे। अतिम छद मे प्रेमाराध्य को सर्वस्व समर्पण कर उसमे लीन एव तन्मय हो जाने के सदेश मे भी वही श्रीकृष्णार्पणम् की नि शब्द गूँज मिलती है, जो इस प्रकार है .

'जदि मरन लभिते चाओ, ऐसो तबे झाँप दाओ सलिल माझे,
स्निग्ध, शात, सुगभीर, नाहि तल, नाहि तीर,
मृत्यु सम नील नीर स्थिर विराजे।
नाहि रात्रि दिन मान, आदि अत परिमाण
से अतले गीत गान किछू ना बाजे।
जाओ सब जाओ भूले, निखिल बधन खुले
फेले दिए एशो कूले सकल काजे।
जदि मरन लभिते चाओ, एशो तबे झाँप दाओ
सलिल माझे !

रवीन्द्रनाथ की काव्य सृष्टि अपरिमेय है। उनका हृदय असीम का पुजारी रहा है। फलतः उन्होने मानव जीवन के सौदर्य, आनद तथा मगल को अपनी बहिरंतर व्यापी दृष्टि से अनत रूपो मे, असीम वर्ण गंधो से परिपूर्ण देखा और चित्रित किया है। ऊपर उनके रसमर्मज्ञ कवि हृदय की एक झाँकी भर प्रस्तुत की जा सकी है। रवीन्द्रनाथ रस माधुर्य के अतिरिक्त शक्ति चैतन्य तथा उद्बोधन के भी कवि रहे है। उनकी 'निर्झरेर स्वप्न भग' आदि अनेक रचनाएँ उनके पौरुष कठ के आह्वान है। 'निर्झरेर स्वप्न भग' पढ़ते समय मुझे सदैव लगा है कि जैसे यह शताब्दियो से सुप्त भारतीय चेतना के जागरण का उन्मुक्त प्रवाह हो। इस रचना मे जो शक्ति, स्फूर्ति, आवेग और उन्मत्तता है वह हृदय को छुए बिना नही रहती—उसका एक अश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :—

आजि ए प्रभाते रविर कर - केमने पशिल प्रानेर पर,
केमने पशिल गुहार आँधारे प्रभात पाखीर गान—
ना जानि केनरे एत दिन परे जागिया उठिल प्रान!—पर्वत की गुहा या कारा मे बद्ध निर्झर अपने प्रवाह को अधिक न रोक सकने के कारण कह रहा है—'जागिया उठे छे प्राण—ओरे उथलि उठे छे वारि, ओरे प्रानेर वासना प्रानेर आवेग रुँधिया राखिते नारि।

रवीन्द्रनाथ और छायावाद

रवीन्द्रनाथ अपने ही मे एक संपूर्ण विश्व हैं—एक ऐसे अंतर्-विश्व, जो इस बाह्य विश्व से कहीं पूर्णतर, सुन्दरतर तथा मंगलमय है। ऐसी महान् प्रतिभाएँ इतिहास की कोख में संसार की सहस्रों वर्षो की कृच्छ्र साधना के बाद जन्म लेती है और अपने चतुर्दिक् के जीवन, अपने युग या देश ही को नही, समस्त संसार की विकास सरणि को, समस्त मानवता के जीवन-अभियान को एक सीढी ऊपर उठाकर उसे आगे बढ़ा जाते है। रवीन्द्रनाथ भारतीय चेतना के जागरण काल के कवियों मे व्यास तथा कालिदास की परंपरा को अग्रसर करने वाले, विश्व मानस के प्रतिनिधि स्वरूप, महाकवियों की महिमश्रेणी के ज्योतिष्पुंज ग्रह रहे है। उन्होंने भारतीय मानस समुद्र का मंथन कर उसके रत्नो को नवीन युग की शोभा मे सयोजित करके साहित्य पारखियों के सामने तो रक्खा ही, अपने युग की पलको पर जन्म ले रहे विश्व जीवन, विश्वमानवता एवं विश्वबंधुत्व के स्वप्न को भी अपनी नव नवोन्मेषिणी प्रतिभा के रूप-रंगों में निखार कर उसे मानव हृदय के लिए आकर्षक बनाकर ससार के सामने रखा। वह अपने युग के मच पर विश्वमैत्री के सूत्रधार बन कर प्रकट हुए थे। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपनी कीर्ति-पताका विश्व के सभी देशो में फैलाकर उन्हें जैसे एक नवीन मानव-परिवार के रूप में अपने को देखने की दृष्टि प्रदान की। रवीन्द्रनाथ जिस प्रकार पश्चिम के लिए पूर्व के संदेश वाहक रहे उसी प्रकार पूर्व के लिए भी पश्चिम के जीवन सौदर्य तथा बौद्धिक ऐश्वर्य के व्याख्याता रहे। उन्होंने भारत की आत्मा को पश्चिम के यंत्रयुग के सौंदर्यबोध तथा जीवनदृष्टि मे लपेटकर उसे दोनों भूखंडों के लिए एक नवीन सांस्कृतिक समन्वय, नवीन जीवन संयोजन के रूप में प्रस्तुत किया। भारतीय चेतना के ऊर्ध्वचुंबी आलोक, उसकी व्यापक संवेदना तथा अतलस्पर्शी माधुर्य को अपनी विश्वमोहिनी काव्यतंत्री में पश्चिम के नवोत्कर्ष तथा जीवन-सौंदर्य के स्वरो में साध कर उन्होंने सार्वभौम भावना के रस से प्लावित एक ऐसी काव्य-परंपरा को जन्म दिया जिसकी अनुगूंज प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में सभी देशों के प्रबुद्ध हृदयों मे नवीन रूप धर कर अकुरित होने का प्रयास करने लगी। पश्चिम के अनेक समकालीन कवि उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयत्न करने लगे और भारतीय भाषाओ के तो प्रत्येक प्रदेश के साहित्य को उन्होने प्रभूत रूप से प्रभावित तथा अनुप्राणित किया। वास्तव मे रवीन्द्रनाथ का साहित्य भारतीय चेतना की शक्तिमत्ता में पश्चिम के यथार्थ प्रधान एव वस्तु सौदर्यपरक जीवन बोध तथा बौद्धिक दर्शन

का परिपाक था जिसकी शिराओ मे विश्वजीवन के प्रति नयी आस्था, नये विश्वास तथा नये सौदर्य एव आनंद के रस का हृदय स्पंदन नवीन जीवन आकांक्षा के शोणित सगीत मे प्रवाहित हो उठा था। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की सामंतकालीन एवं मध्ययुगीन जड़ता, निष्क्रियता, औदास्य तथा नैराश्य उसकी प्राणवत्ता के पावक स्पर्श से नवीन भावना तथा कल्पना के आशा-उल्लासपंख सौदर्य-स्वप्नो मे सुलग उठा। वह एक ओर स्वामी रामकृष्ण देव एव विवेकानद के आविर्भाव से भारतीय चैतन्य का औपनिषदिक जागरण काल रहा, दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति के यत्र सक्रिय भौतिक-बौद्धिक ऐश्वर्य के संघात का युग। रवीन्द्रनाथ की वाणी से, भारतीय मनोभूमि पर ज्ञान-विज्ञान के उस प्रथम समागम की झकारे निःसृत होकर नवीन आशा तथा जीवन-प्रेम का सम्मोहन लोक-मानस में भरने लगी। उनके प्रभाव के युग में हिन्दी में जिस काव्यधारा का विकास हुआ उसे छायावाद कहते है। छायावाद के प्रमुख निर्माताओ ने एक ओर जहाँ संस्कृत साहित्य तथा रवीन्द्र भारती से प्रारभिक प्रभाव ग्रहण किए वहाँ अग्रेजी के रूमानी काव्य साहित्य से भी प्रभूत आत्म-व्यंजना, भाव-बोध तथा सौदर्य-दृष्टि प्राप्त की। छायावाद मे रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी, वैयक्तिक भावानुभूति से आक्रात दृष्टि जीवन-सौदर्य की भूमि पर उतर कर अधिक वस्तुपरक बन सकी। वह अति वैयक्तिक सवेदनो के आग्रह को छोड़ कर धीरे-धीरे सामाजिक जीवन-सौदर्य के सयोजन तथा उसकी परिपूर्णता पर बल देने लगी। विश्ववाद एवं विश्वबधुत्व के अस्पष्ट आदर्शों के कुहासो से मुक्त होकर छायावादी काव्य की सौदर्य भावना आगे चल कर अपने मानवतावाद के आदर्श को भू-जीवन-यथार्थ के अधिक निकट ला सकी। संस्कृति उसमे विकसित व्यक्तित्व की संपदा न रह कर लोकजीवन की संपदा बन गई। वह भावपरक से बुद्धिपरक, आदर्श परक से मूल्यपरक, सगीत परक से अभिव्यंजना परक बनती गई। रवीन्द्र काव्य मे वैज्ञानिक युग का जो सशक्त प्रभाव केवल भावना, कल्पना तथा प्राणिक उल्लास के स्तरों पर आत्मसात् एवं अभिव्यक्त हो सका था छायावाद मे वह, धीरे-धीरे, सामाजिक जीवन के रचना-मंगल के स्तर पर संस्कृत-इंद्रिय-जीवन के सौदर्य, विकसित सामाजिक जीवन के ऐश्वर्य तथा लोकमानव संबधी बोध के रूप में अधिक वास्तविक, ठोस तथा जीवन मूर्त हो सका। इस प्रकार रवीन्द्र साहित्य की प्रेरणा की आलोक धारा छायावाद की भूमि पर भावी जीवन बोध के अग्नि बीजो की फसल उपजा कर, नवीन यथार्थ का विद्युत् आघात पाकर अंतर्धान हो गई।

कवीन्द्र रवीन्द्र

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ और महात्मा गाधी इस युग मे हमारे देश की मानसिकता के दो महान् गौरव शिखरो अथवा स्तंभो के समान हुए जिन्होने भारतवर्ष के चैतन्य के प्रकाश को देश देशान्तरो मे फैलाकर ससार का ध्यान विश्व एकता तथा मानव बधुत्व के उन आदर्शों की ओर आकृष्ट किया जिनका कि हमारा देश अत्यन्त प्राचीन काल से समर्थक रहा है। इनमे महात्मा गाधी भारतवर्ष की निष्काम कर्मचेतना के प्रतिनिधि बन कर आए, जिन्होने आज के युद्ध जर्जर देशो को सत्य तथा अहिंसा का सदेश दिया और उन्ही की संगठित शक्ति से देश की चिरकालीन पराधीनता की शृखलाएँ छिन्न भिन्न कर उसे स्वतत्र बनाया; और विश्व कवि रवीन्द्रनाथ भारतीय चेतना के पुनर्जागरण के विख्यात चारण बन कर उदित हुए जिन्होने अपनी प्रतिभा से संसार के सभी देशों को विमुग्ध कर उनमे मानव एकता तथा विश्वबन्धुत्व की वैष्णव भावना का प्रचार किया। रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा ने, नि:संदेह, भारतवर्ष की कीर्ति पताका समस्त ससार मे फैलाकर तथा उसकी ओर विश्व के मनीषियों का ध्यान आकर्षित कर उसका सम्मान बढ़ाया। वैसे तो रवीन्द्रनाथ ने साहित्य के सभी क्षेत्रों को अपनी अद्भुत प्रतिभा तथा कला कुशलता से छूकर उनमे नवीन जीवन का सचार किया किन्तु वह मुख्यतः कवि और गीतिकार के रूप में ही हमको अपनी अजस्र रस माधुरी से चमत्कृत करते हैं। और मै तो कहूँगा कि कवि से भी अधिक वह अद्वितीय गीतिकार के रूप मे हमारे हृदय की तत्री को अपनी विचित्र भाव लहरी तथा स्वर योजना से आनंद विभोर कर देते हैं। रवीन्द्रनाथ के जोड़ का गीतिकार संसार के किसी भी भाषा साहित्य मे मिलना संभव नहीं। उनकी शब्द-योजना, पदभगी तथा स्वरगरिमा अपनी परिपूर्णता में अतुलनीय है। उन्होंने गीतों को लिखा नहीं है, उन्हें जैसे अपने हृदय के माधुर्य मे अनायास ही ढाल दिया है और गीतिकार के रूप में उनके यशः काय को जरा-मरण का भय नहीं है वह सदैव अक्षय एवं अक्षुण्ण रहेगा।

रवीन्द्रनाथ की महान् कीर्ति के अनेक कारण है। एक तो वह भारतीय पुनर्जागरण के कवि रहे है जिन्होंने भारतवर्ष की आध्यात्मिक भावना धारा को युग के अनुरूप नवीन सौन्दर्य तथा कलाबोध में रूपायित कर उसे संसार के सामने रखा। दूसरा, उन्होने पश्चिम की संस्कृति तथा साहित्य का भी गंभीर अध्ययन कर उसे अपनी अंतर्दृष्टि से भारतीय मानस के अनुकूल बना कर पूर्व और पश्चिम के छोरों को अपनी प्रतिभा के सुनहले सेतु से मिला दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के आविर्भाव के कारण

भारतीय दर्शन अपनी मध्ययुगीन सीमाओं को अतिक्रम कर एक बार फिर अपनी औपनिषदिक गरिमा मे जाग उठा था और कवीन्द्र रवीन्द्र से पूर्ववर्ती साहित्यिक बंगला भाषा का यथेष्ट परिष्कार तथा परिमार्जन कर चुके थे। साथ ही ब्रह्म समाज के रूप मे भारतीय जीवन प्रणाली मे पश्चिम के जीवन सौदर्य का प्रभाव एक नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण बन कर बगाल के प्रबुद्ध सस्कृत व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने लगा था। रवीन्द्रनाथ ने अपने महान् व्यक्तित्व मे इन सब प्रभावो को आत्मसात् कर तथा उन्हे अपने साहित्य में वाणी देकर उनमे एक व्यापक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उच्च तथा सपन्न कुल में पैदा होने के कारण उन्हे अपने विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ तथा सुविधाएँ भी मिल गई थीं। रवीन्द्रनाथ का पारिवारिक वातावरण भी अत्यन्त संस्कृत, कलात्मक तथा साहित्यमय रहा। इन सब बाह्य ऐश्वर्यों तथा सयोगों के परिवेश में पल कर उनकी प्रतिभा का संस्कार तथा विकास हो सका। वह कल्पना के सम्राट तो थे ही, उनकी गहन रस मर्मज्ञता, अद्‌भुत कलादृष्टि तथा सूक्ष्म सौदर्यानुभूति उनके काव्य के अतुल उपादान बन कर साहित्य पारखियों तथा कलाप्रेमियों को विमुग्ध तथा विस्मयाभिभूत करते रहे।

कवि रवीन्द्र का बाह्य स्वरूप भी अत्यन्त मोहक तथा दर्शनीय था। गौरवर्ण, लंबा डीलडौल, सुफेद दूधफेन सी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी रहस्यभरी आँखें और अपनी सुकुमार आकृति तथा विशिष्ट पहनावे के कारण वह देवपुत्र के समान प्रतीत होते थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव वैसा ही पड़ता था जैसे हिमालय के प्रशांत शुभ्र शिखर का। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व भी हिमालय ही के समान बृहदाकार था जिसमें अनेक ऊँचाइयों, गहराइयों तथा अनेक श्रेणियो का प्रसार था। शुभ्र आकाशचुंबी ज्ञान के आलोक शिखर से लेकर रंग विरंगे फल फूलों से सजीं, हरी-भरी, भौरों की गुंजारों तथा पक्षियों की अनेक स्वरों की बौछारों से मुखरित घाटियों तथा उपत्यकाओं की तरह फैला उनका महान् कृतित्व एक विराट् क्षितिज के समान मन को मोहित करता रहता है—ऐसा विशाल क्षितिज जिसमे धरती का सौन्दर्य तथा स्वर्ग का ऐश्वर्य एक ही कलात्मक रेखा में सिमट गए हों। निःसंदेह, उनका साहित्य रत्नाकर-समुद्र ही की तरह है जिसमे आप आजीवन अवगाहन करते रहिए पर उसकी थाह आप नहीं पा सकते।

रवीन्द्रनाथ विचारों तथा वाणी के ही धनी नहीं थे वह जीवन के भी धनी थे। उन्होंने पूर्ण अर्थ में कवि का जीवन व्यतीत किया और अपनी आयु के प्रत्येक क्षण का उपभोग तथा उपयोग कर अपने कल्पना संपन्न जीवन की अनुभूतियों का अपार मधु संचय किया। वह जीवन यापन की कला जानते थे, उन्होंने जीवन की प्रत्येक घटना से रस ग्रहण किया है और उसे अपनी कल्पना तथा सृजन शक्ति से सँवार कर अमर एवं अक्षय बना दिया है। वह जीते जागते सौंदर्य के देवता थे। जो लोग कवीन्द्र रवीन्द्र के व्यक्तिगत संपर्क मे आए है वही उनके व्यक्तित्व के आकर्षण को समझ सकते है।

उनके शिक्षा संस्थान शान्तिनिकेतन में अब भी उनके अनेक अमूल्य अविस्मरणीय स्मृति-चिह्न रखे हुए हैं जिनसे आप उस महान् कवि, कलाकार, सौंदर्य स्रष्टा तथा जीवन द्रष्टा के निरुपम व्यक्तित्व की झाँकी पा सकते हैं। नि सदेह उनके सौदर्य तथा रस की साधना इतनी महान् थी कि वह अपने प्रत्येक कर्म, प्रत्येक कृति में उसकी अमिट छाप छोड़ गए है और समस्त संसार को अपनी प्रभापुंज प्रभूत प्रतिभा से प्रभावित तथा चमत्कृत कर गए हैं। ऐसे महान् कलाकार सहस्रों वर्षो मे इस पृथ्वी पर जन्म लेते हैं और उसकी कुरूपता को सौदर्य मे, उसके रोदन को सगीत मे, उसके अधकार को आलोक मे तथा उसकी असंगतियों को रस संगति में बदल कर उसे युग युग तक मनुष्यों के रहने योग्य--सौदर्य, आनंद, प्रेम तथा शाति के स्वर्ग में परिणत तथा प्रतिष्ठित कर जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ का कवित्व

यदि मैं कहूँ कि रवीन्द्रनाथ ने साहित्य के शिखर पर उदित होकर भारतीय कविता की परिभाषा ही बदल दी तो यह अत्युक्ति नही होगी। वास्तव में रवीन्द्र समस्त भारत के भारतेन्दु कहे जा सकते हैं जिन्होंने भारतीय साहित्य में अनेक नवीन दिशाओ का उद्घाटन कर तथा सृजन कर्म को उच्च कोटि की कला रुचि, भाव संस्कार तथा नव नवोन्मेषिणी कल्पना के ऐश्वर्य से सँवार कर भारतीय चेतना में महान् जागरण का एक अकल्पनीय एवं नवीन अरुणोदय उपस्थित कर दिया। उनकी अतुलनीय मनस्विता, बहुमुखी प्रतिभा, गंभीर जीवन दृष्टि तथा आनन्दद्रवित रसबोध से जो महत् प्रेरणा भारतीय साहित्य को मिली उसका अनुमान लगाना सरल नही है। उनकी काव्य चेतना सहस्रों इन्द्रधनुषों में लिपटे हुए विद्युत्-प्रभ, रस-हरित मेघ की तरह भारतीय मानस क्षितिज में उमड़कर सर्वत्र छा गई। साहित्य की जिस विधा, जिस क्षेत्र को भी उन्होने अपनी अद्भुत प्रतिभा के पंखों से छुआ उसमे जैसे किसी जादू के बल से एक नवीन सौदर्य तथा सम्मोहन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। नि.सदेह रवीन्द्रनाथ जैसे महान् कलाकारों तथा जीवन द्रष्टाओं की आत्मा को गढ़ने के लिए इतिहास को सहस्रो वर्षों तक शुभ्र रस पीठिका पर अजस्र साधना करनी पड़ती है जिससे रवीन्द्रनाथ की कोटि के 'रसो वै स.' पुरुष का अवतार अथवा आविर्भाव होता है। रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा का सहस्रमुख स्रोत उनके गंभीर रस-समुद्र के समान अंतर में था, अपनी अनेक कविताओं में वह अपने अतंरतर में स्थित देवता को श्रद्धांजलि अर्पित कर उसके सौन्दर्य माधुर्य के गीत गाकर अपने अक्षय संगीत में बखेरते रहे हैं। उसी अंतर के गवाक्ष से वह मानव जीवन के सत्य का मुख निर्निमेष भावबोध मे देखते रहे और उसके आलोक से धरती के जीवन के सौन्दर्य को सँवारते एवं उसका संस्कार करते रहे। अपने युग की व्यापक पीठिका पर एकाग्र चित्त से रस-समाधि लगाकर उन्होंने सत्य शिव सुन्दर के मूल्यों को परखने पहचानने तथा खोजने के लिए अत्यन्त कठोर साधना की और एक ओर पश्चिम की बढ़ती हुई भौतिक सभ्यता के मूल्यों तथा जीवन प्रणाली का विश्लेषण तथा परीक्षण कर, उसके कल्याणप्रद भावात्मक तत्वों को आत्मसात् कर, उसे अपनी विचार सरणि, भावना धारा तथा सौन्दर्यबोध का अंग बनाया और दूसरी ओर अपने देश में सदियों से छाई हुई मध्ययुगीन जीवन-विमुख, संसार के प्रति विरक्त, निषेधात्मक, अंधरूढ़ि रीतियो से पथराई मानसिकता के कुहासे को अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा सम्यक् दृष्टि से चीर कर उन्होंने भारतीय चैतन्य के अक्षय, आनंद-सक्रिय आलोक-सिन्धु में अवगाहन कर उसके शांत शुभ्र मंगलमय प्रकाश को अपनी अमरवाणी की झंकारों के

द्वारा लोकमानस मे फैलाकर अपने देश मे व्याप्त युग युग के निष्क्रिय अवसाद के अंधकार को मिटाया। इस प्रकार अपने गंभीर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के बल पर रवीन्द्रनाथ ने एक ओर जहाँ पूर्व और पश्चिम दोनों भूभागो के लिए मगलप्रद मानववाद तथा विश्व-बन्धुत्व का संदेश अपने युग को दिया, वहाँ दूसरी ओर अपनी विलक्षण प्रतिभा, अपराजेय कल्पना तथा विश्वमोहिनी सृजन शक्ति के द्वारा एक नवीन जीवन-प्रिय तथा सौन्दर्य-सुघर प्राणवाद तथा आनदवाद के मर्मस्पर्शी गीत गाकर, जैसे वेदो के इद्र को फिर से मरुतों के रथ पर बिठाकर, उन्होने जीवन विजय की वैजयती फहराई। रवीन्द्रनाथ की भाषा एवं अभिव्यंजना की शैली जितनी भी अलकृत तथा शब्द-बहुल रही हो और उनकी विचारधारा तथा जीवन दर्शन जितना भी अस्पष्ट तथा रहस्य की अनिर्वचनीय ऊँचाइयों तथा प्रसारों मे खोया हुआ सा रहा हो उनके कृतित्व का महत्व उनके युग की परिस्थितियो के परिवेश को सामने रखते हुए किसी प्रकार भी न्यन अथवा नगण्य नहीं कहा जा सकता बल्कि इसके बिलकुल ही विपरीत उसका मूल्य आँकना इस संक्रान्ति युग की मानसिकता के लिए सभव एवं शक्य नही है। और समय आने पर जब इस परिवर्तनकाल के सदेह का कुहरा फट कर विलीन हो जायगा और मनीषियों तथा जनसाधारण के मन का अतरिक्ष नवीन आस्था की उज्ज्वलता में निखर उठेगा तब रवीन्द्र की वाणी अपनी रहस्य तथा भेद की गाँठ जन मन मे खोलेगी, और उनकी जीवन दृष्टि का स्वच्छ सौदर्य लोगों के मन मे एक नवीन मानव स्वर्ग का निर्माण करने में सफल होगा। उनके आशा उल्लास भरे, छद झंकृत, पद मधुर, भाव-मुखर तथा रस-द्रवित स्वरों से विश्व जीवन तथा भूजीवन के प्रति एक नई आस्था का उदय होगा जिसमें मानव आत्मा का आलोक, उसकी बुद्धि का ऐश्वर्य, उसके प्राणो का आनंद-रस तथा इद्रियों का सौदर्य अपने वैचित्र्य की एकता में घुल मिल कर मनुष्य के भीतर अपने प्रति, समाज तथा विश्व के प्रति एक ऐसे महत् सामजस्य भरे व्यापक दृष्टिकोण को जन्म देंगे जिसकी उसे सफल तथा समग्र जीवन व्यतीत करने के लिए आज एकांत एवं अनिवार्य आवश्यकता है।

रवीन्द्र के पूर्व समस्त भारतीय भाषाओ का साहित्य मध्ययुगीन रीति प्रभावों से पीड़ित, इतिवृत्तात्मक तथा पौराणिक पुरुषों के चतुर्दिक् औपचारिक परिक्रमा कर उनकी गुणगाथा गाता हुआ प्राचीन पिटे पिटाए आदर्शों का चर्वित चर्वण करता रहा। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि महत् नैतिक, सामाजिक एवं सार्वभौम व्यक्तित्वों के पीछे जो अविचल अलंघ्य चैतन्य का पर्वत शृंग अपनी अनिमेष ध्यान मौन गरिमा मे तिरोहित रहा उससे युग अनुरूप नवीन व्यापक मनुष्यत्व की प्रेरणा, जीवनी शक्ति तथा सौदर्य दृष्टि ग्रहण कर तथा आनंद शुभ्र नवीन साहित्य का प्रासाद निर्मित कर रवीन्द्रनाथ-जैसे प्रतिभाशाली कवि एवं कला शिल्पी समस्त विश्व को अपने महत् जीवन के स्वप्न से चमत्कृत

कर गए। उनसे पहिले भारतीय भाषाओं मे उस औद्भौम आलोक के रहस्यमय साक्षात्कार का महाप्राण सौदर्य तथा आनद नही प्रवाहित हो सका था। इस प्रकार वे एक प्रकार से समस्त आधुनिक भारतीय तथा विश्व साहित्य बोध के जनक है, जिन्हे नवीन युग का आदि कवि भी कहा जा सकता है। यह सच है कि रवीन्द्रनाथ का परवर्ती साहित्य अनेक रूप से अनेक दिशाओं मे बदल गया है और विचारों, मूल्यों, कला-शिल्प तथा रूप-विधान की दृष्टि से उसमे प्रतिदिन अनेक प्रकार के नये परिवर्तन के चिह्न प्रकट हो रहे है, पर उपलब्धि की दृष्टि से आज का कृति-युग रवीन्द्रनाथ के स्वर्गचुंबी व्यक्तित्व के टखनों तक भी नहीं पहुँच सका है। जिस जीवन दर्शन की गंभीर नींव कवि रवीन्द्रनाथ साहित्य में डाल गए है उसके अनुरूप महत् अनुभूति के मंगल विधान की रचना परवर्ती साहित्यकार नहीं कर सके हैं और अपने अहंता के कूबड़ के बोझ से दबी जो बौनी कलाकारों की जाति उनके बाद विश्वसाहित्य मे एक महा-ह्रास की प्रतिनिधि बन कर आई है और बौद्धिक बालुका पर क्षणिक भावोद्वेगों तथा अस्तित्वों के चित्र-विचित्र घरोंदे बना रही है, उनके तृणों के कीर्ति-स्तम्भों को काल उतने ही वेग से धराशायी भी कर रहा है। रवीन्द्रनाथ के महत् प्रकाशवान व्यक्तित्व के सूर्यास्त के बाद युग संध्या के अंधकार में भटकती हुई नयी पीढ़ियों को रवीन्द्रनाथ के महान् उद्बोधन के संगीत को समझने के लिए फिर से एक नवीन जीवन-सौदर्य के अरुणोदय मे जन्म लेना होगा, जहाँ नये माधुर्य, आनन्द, प्रेम तथा शाति का अतर्जगत उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और मानव जीवन एवं धरा-धाम को नयी स्वरसगति मे बाँध कर मानव मन को नवीन चैतन्य के प्रकाश-लोक में प्रवेश कराने के लिए आतुर है—वहाँ कवीन्द्र अपनी भुवन मोहिनी वीणा लेकर मंदस्मिति से उनके अभिवादन के लिए स्वय तत्पर मिलेगे। रवीन्द्रनाथ की काव्य चेतना मानव जीवन मे तथा इस धरती के आँगन मे सौन्दर्य मूर्त होकर प्रतिष्ठित हो सके, काल इसकी अपेक्षा कर रहा है। इन शब्दों मे मैं कवीन्द्र रवीन्द्र की शत वार्षिकी के शुभ अवसर पर उन्हें अपने हृदय की अनन्य श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

श्री अरविन्द को एक श्रद्धांजलि

इन दस वर्षों मे हमारे देश की चार महान् विभूतियाँ अचानक लुप्त हो गईं। कवीन्द्र रवीन्द्र के बाद महात्मा गांधी और महर्षि रमण के बाद कल रात्रि को एक बजकर ३० मिनट पर पाडिचेरी आश्रम के प्रकाश श्री अरविन्द भी महाप्रकाश मे विलीन हो गये। ये चारों महान् आत्माएँ एक ही नवीन युग चेतना के चार उच्च शिखरों के समान थे जिसकी स्वर्णशुभ्र चोटियाँ स्वर्ग की गरिमा से मडित थी और आज के विश्वव्यापी अधकार में प्रकाश की किरणें बखेरती रहती थी। इनमें कवीन्द्र रवीन्द्र गीत और सौदर्य के प्रतीक थे। महात्मा गाधी कर्म और लोक कल्याण के तथा महर्षि रमण और श्री अरविन्द आध्यात्मिक ज्ञान एव आलोक के प्रतीक थे। भारतीय पुनर्जागरण के लिए इन महापुरुषो का अनन्त दान अमर तथा अक्षय रहेगा, नवीन जीवन एवं विश्व सस्कृति के निर्माण का भी, इनके अदृश्य कर, अलक्ष्य रूप से संचालन करते रहेंगे, इसमे संदेह नही।

भारत के ऋषियो तथा सत्यद्रष्टाओं में श्री अरविन्द का स्थान अत्यन्त उच्च तथा चिर स्मरणीय रहेगा। विश्व के आध्यात्मिक क्षितिज पर उनका शुभागमन एक अभूतपूर्व अलौकिक स्वर्णोदय के समान हुआ, जिसकी नवीन चेतना के प्रकाश ने मानव जीवन तथा विश्वमन की गहरी से गहरी घाटियों को भी अपने अमृत स्पर्श से उत्फुल्ल तथा अलोकित कर दिया। निश्चय ही श्री अरविन्द मर्त्यों की इस धरती पर एक अपूर्व ज्योति वाहक की तरह विचरण करने के लिए आए। वह आजीवन मानव जीवन और मन की उच्च से उच्चतम पर्वत श्रेणियो पर चढ़ते रहे, और मानव भावनाओ तथा विचारों की अनेक हरी भरी, रंग विरगी शूल फूलों की घाटियों तथा उपत्यकाओं को पार करते हुए उन स्वर्ग चुबी चोटियो पर पहुँचे जहाँ से उन्होंने हमारे युग के ध्वंस, संहार, निराशा और विषाद से भरे हुए वातावरण मे नवीन आशाओं और संभावनाओं का रुपहला सुनहला प्रकाश उडेला और जाति वर्गो के भेदो मे विदीर्ण मानवता को एक नवीन व्यापक तथा सूक्ष्मतम आत्मिक एकता का सदेश दिया। उन्होने मानव मन की गठन तथा विश्व के अतर्विधान का जिस सूक्ष्मता तथा मर्म स्पर्शिता के साथ विश्लेषण तथा सश्लेषण किया और उसे एक महान् दार्शनिक की रहस्य भेदी दृष्टि तथा कुशल कवि की अद्भुत कला तथा चमत्कार के साथ वाणी दी उसे देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। ज्ञान की सर्वोच्च चोटी पर पहुँच जाने से ही उन्होने सतोष नही ग्रहण कर लिया, वह मानव चेतना के सर्वोच्च प्रकाश की ज्योति जाह्नवी को लोक कल्याण के लिए धरती पर अवतरित करने के भगीरथ प्रयत्न मे सलग्न रहे। उन्होने इस लोक और

परलोक के भेद को, आध्यात्मिकता और भौतिकता के विरोध को, जगत और परब्रह्म के बीच की अज्ञेय दुर्गम खाई को अपनी नवीन चेतना के प्रकाश से सदैव के लिए भर दिया। मानव के भूत और भविष्य का, पूर्व और पश्चिम का, व्यक्ति विश्व और ईश्वर का इतना व्यापक तथा गभीर विश्लेषण शायद ही और कोई कर सका है।

श्री अरविन्द एक महान् प्रतिभा थे। वह एक महान् दार्शनिक, महान् कवि तथा कलाकार थे। मानव चेतना के चरम शिखर पर अवस्थित होकर उन्होने जहाँ जीवन के हरित अधकार से भरी घाटियों की गहराइयो तथा सतरगी छायाभासों मे लिपटी मन की ऊँची नीची उपत्यकाओं की ओर दृष्टिपात किया वहाँ मानव चेतना के उस पार रजत शान्ति के आकाशों तथा ज्योति के असीम प्रसारो को अतिक्रम कर एव अपलक नेत्रो से शाश्वत सुख के अरूप, अवर्णनीय सौदर्य तथा आनन्द का पान कर, उसे अपनी वाणी के चेतना पट पर बुनकर मानव आत्मा के लिए एक नवीन अति मानसी परिधान की रचना की।

श्री अरविन्द मानव चेतना के रूपान्तर में विश्वास रखते थे। श्री माता जी के शब्दो मे: 'हम चाहते है सर्वांगपूर्ण रूपान्तर, शरीर और उसके सभी क्रिया-कलापों का रूपान्तर। किन्तु इसका एक प्रथम चरण है, जो पूर्ण रूप से अनिवार्य तथा अन्य सभी चीजो को प्रारम्भ करने से पहिले पूरा करना होगा, और वह है चेतना का रूपान्तर। ....कहा जा सकता है कि चेतना का यह परिवर्तन अकस्मात् होता है। जब यह होता है तब वह यकायक हो जाता है, मानो बहुत धीरे-धीरे और दीर्घ काल से उसके लिए तैयारी हो रही हो। मै यहाँ पर मानसिक दृष्टिकोण से होने वाले किसी सामान्य परिवर्तन की बात नही कहती बल्कि स्वयं चेतना के ही परिवर्तन की बात कह रही हूँ। वह एक प्रकार से पूर्ण और विशुद्ध परिवर्तन है: आधार भूत स्थिति में ही होने वाली एक क्रान्ति है, यह प्राय: ऐसी ही चीज है जैसे कि गेंद को भीतर से बाहर की ओर उलट देने की बात।....साधारण चेतना में तुम धीरे-धीरे चलते हो, एक के बाद एक प्रयोग करते हुए चलते हो, अज्ञान से किसी सुदूर स्थिति और यहाँ तक कि संदिग्ध ज्ञान की ओर जाते हो। पर रूपातरित चेतना मे तुम ज्ञान से आरम्भ करते हो। और ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर अग्रसर होते हो। फिर भी यह है आरम्भ ही। क्योंकि बाहरी चेतना, और बाहरी क्रियाशील सत्ता के विभिन्न स्तर और अश एक भीतरी रूपातर के फलस्वरूप केवल धीरे धीरे और क्रमश: ही रूपातरित होते है।'

हमारे युग के अविश्वास, सदेह, संघर्ष तथा हाहाकार से भरी पृथ्वी पर श्री अरविन्द एक अदम्य विश्वास के जाज्वल्यमान स्वर्ण स्तंभ की तरह ऊपर उठे और अपने अलौकिक ऐश्वर्य से अपने युग को मुग्ध कर गये। उन्होंने अपने आत्म मधुर मर्मभेदी शब्दो मे हमें सदेश दिया कि मानव चेतना विकास के पथ मे है। मन का बोध ही सपूर्ण बोध

नही ।√निर्दिष्ट समय पर यह मनुष्य देवता और यह पृथ्वी भगवान के सौदर्य और मधुरिमा की धाम बन जाएगी । ऐसे महान् और स्वर्गीय स्वप्नो के अतर्दष्टा रहे है योगिराज श्री अरविद । उनका योग केवल व्यक्तिगत मुक्ति के लिए नही था, वह सामूहिक मुक्ति के लिए था । वह मनुष्य के मन के टिमटिमाते हुए रुद्ध प्रकाश को उसकी अतर्चेतना के पूर्ण प्रकाश मे मुक्त, प्रोज्वल तथा विकसित करने के लिए था ।✓

पूर्व और पश्चिम के महान् विद्वान् तथा विचारक उनकी ओर समान रूप से आकर्षित हुए और उन्होंने उन्हे अनेक रूप से श्रद्धाजलि दी । डा० रवीन्द्र नाथ टैगोर ने उनके बारे मे इस प्रकार लिखा है ·

"प्रथम ही दृष्टि मे मुझे यह प्रतीत हो गया कि वह आत्मा के अनुसधान मे रत रहे है और उन्होने उसे प्राप्त भी कर लिया है । अपनी दीर्घ तप साधना से उन्होंने एक ऐसी शक्ति सचित कर ली है जो दूसरो को प्रभावित कर उनमे दिव्य प्रेरणा भर सकती है । उनका मुख अतर्ज्योति से आलोकित था । और उनकी उज्ज्वल पवित्र उपस्थिति से मेरे मन मे यह बात स्पष्ट हो गई कि उनकी आत्मा किसी ऐसे निर्मम नैतिक सिद्धांत के सकीर्ण घेरे मे नहीं बँधी हुई है जिसे आत्म पीड़न मे आनन्द मिलता है । मुझे लगा कि भारतीय ऋषियों की विराट् साम्य और विश्व की भावना उनके भीतर से फिर से वाणी पा रही है । मैने उनसे कहा कि आपके पास शब्द है, और हम दीक्षा लेने को तैयार है । भारतवर्ष आप ही की वाणी मे संसार से बोलेगा ।"

दूसरे स्थान पर डा० टैगोर उनको संबोधन कर लिखते है :

अरविन्द, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार ।
हे बधु, हे देशबन्धु, स्वदेश आत्मार
वाणी मूर्ति तुमि । . . . .
बंधन पीड़न दुख असम्मान माझे
हेंरिया तोमार मूर्ति, मर्म्मे मोर बाजे
आत्मार बधन हीन, आनदेर गान,
महातीर्थ यात्रीर सगीत , चिर प्राण
आशार उल्लास, गभीर निर्भय वाणी
उदार मृत्युर ! भारतेर वीणा-पाणि,
हे कवि, तोमार मुखे राखि दृष्टि तार
तारे तारे दियेछेन विपुल झकार
ए उदात्त संगीतेर तरंग माझार
अरविन्द, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार !

रोमा रोला ने "India on the March" मे श्री अरविन्द के सम्बन्ध मे लिखा है :

"पूर्व और पश्चिम की प्रतिभा का आजतक का सर्वांगपूर्ण संश्लेषण श्री अरविन्द मे मिलता है।" आगे चलकर वह कहते है "श्री अरविन्द वह अंतिम महान् ऋषि है जो अपने हाथ के दृढ़ अशिथिल पाश मे सृजन शक्ति का विराट् धनुष पकड़े हुए है।" श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ मे हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा इंगलैड में हुई। सन् १८९३ मे वह भारत लौटकर आए और १३ वर्षों तक बरौदा राज्य में कार्य करते रहे। उसके बाद वह Bengal National College के प्रिंसिपल के रूप मे कलकत्ता गये और बंगभग के समय वहाँ राजनीतिक आंदोलन का संचालन करते रहे। सन् १९०८ से १९०९ के बीच वह अलीपुर जेल मे रहे जहाँ उन्होंने अध्यात्म ज्ञान का अध्ययन मनन किया। वहाँ के एकान्तवास मे उन्हें प्रथम बार भगवत् साक्षात्कार हुआ। सन् १९१० में वह पाडिचेरी पहुँचकर एकमात्र योग साधन में लीन हो गये और अपनी पूरी शक्ति से आत्मानुसंधान की ओर प्रवृत्त हुए। वह अन्तः प्रकाश की आध्यात्मिक झाँकी पा चुके थे और उसी को अधिकृत करने में संलग्न रहे। सन् १९१४ मे श्री माता जी श्री अरविन्द के दर्शन करने पांडिचेरी आईं और वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि श्री अरविन्द की शक्ति मानव का अज्ञान दूर कर सकेगी और उनके ज्ञान के आलोक से मानव स्वभाव मे रूपांतर उपस्थित हो सकेगा।

२४ नवम्बर १९२६ में श्री अरविन्द को सिद्धि मिली है। वह उस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सके जिसे उन्होने अतिमानस कहा है। जहाँ ब्रह्म के निर्गुण सगुण, निष्क्रिय सक्रिय, एकत्व और बहुत्व के रूप स्वतः ही सहज समन्वय में युक्त हैं।

श्री अरविन्द आश्रम, उनके इसी विशालतम आध्यात्मिक ज्ञान को योग साधना द्वारा प्राप्त करने के लिए एक सामूहिक सिद्धि का केन्द्र है। हमें विश्वास है कि श्री अरविन्द की अमर अकाय आत्मा चिरकाल तक उनके पाठकों तथा अनुयायियों का पथ प्रदर्शन करती रहेगी। श्री अरविन्द निःसदेह संसार के एक महान् अमर महापुरुष की तरह चिर स्मरणीय तथा वदनीय रहेंगे। वह महान् मनीषी, विराट् प्रतिभाशाली सत्यद्रष्टा रहे। उन्होंने मानव आत्मा की अस्पृश्य अदृश्य चोटियों को प्रकाश में लाकर मानव के ज्ञान भंडार की ही अभिवृद्धि नही की प्रत्युत मानव जीवन की मान्यताओं को भी अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक बनाकर व्यक्ति विश्व और परमात्मा सम्बन्धी हमारी प्राचीन धारणाओ को एक नवीन अर्थ गौरव, नवीन सौंदर्य बोध तथा एक नवीन एवं अलौकिक आनन्द प्रदान कर दिया।

श्री अरविन्द निःसदेह ही मानव भविष्य के दार्शनिक हैं। ज्यों ज्यों हमारे युग के वातावरण में सामजस्य आता जायगा श्री अरविन्द की ओर विश्व के विचारक तथा समाज के शिल्पी अधिकाधिक आकर्षित होंगे और उनका महान दर्शन मानव जाति के लिए एक चिरतन प्ररणा का स्रोत बन जायगा। अंत में मैं श्री अरविन्द को इन थोड़े से शब्दों में श्रद्धांजलि देता हूँ :

श्रद्धांजलि अर्पित करता मन, हे मनुष्यता के उन्नायक,
जगजीवन के महायज्ञ मे अति मानवता के नव पावक!
लोक अभीप्सा की आहुति पा स्वर्ग शिखा-से उठे प्रज्वलित
देव, धरा के अंधकार को स्वर्णप्रात में करने दीपित।
महाकाल औ महादिशा ज्यों सहम उठे छवि देख अलौकिक,
रूपातरित हुए विमुग्ध त्रिभुवन––भौतिक, मानस, आध्यात्मिक।
निखिल व्यक्त अव्यक्त, सकल सीमा असीम लय हुए विमोहित
पुनः देव में स्वयं परम को देख दिव्य आभा मे मूर्तित।
जीवन मन के मान गल गये, मिटीं पूर्णताएँ अपूर्ण बन,
अल्प मनुज के स्वल्प राज्य घुल गये कुहासे-से उर के घन,
अतिमानस के ज्वलित स्वर्ण दर्पण मे सहज विलोक प्रतिफलित
शुभ्र भागवत जीवन का भूस्वर्ग, अतीन्द्रिय इन्द्रिय-शोभित!
धन्य अवनि, अवतरित हुए जो तुम अतिमानव लोक विधायक,
जन मन के चिर कुरुक्षेत्र के युग सारथि क्रम मे अतिनायक।

———

दार्शनिक अरविन्द की साहित्यिक देन

दार्शनिक, द्रष्टा, योगी और उच्च कोटि के कवि, . श्री अरविन्द एक में अनेक और अनेक मे एक है। सभवत उन्होने कही कहा है कि वह दार्शनिक और योगी से प्रथम कवि और राजनीतिज्ञ है। कवि वह राजनीतिज्ञ से भी पहिले रहे है और जब वह लदन मे विद्याध्ययन करते थे तब से अंत तक कविर्मनीषी बने रहे।

श्री अरविन्द मुख्यत अन्तश्चैतन्य के कवि हैं। उनके साहित्य का स्वर अत्यन्त उच्च, गभीर और व्यापक है। उन्हें सदैव और सर्वत्र सरलतापूर्वक समझ लेना सम्भव नही,—जब तक कि उनके चैतन्य के आलोक से आप परिचित न हों अथवा वह आपकी सहायता न करे। उन्होंने अपनी गूढ अरूप यौगिक अनुभूतियो को अपनी सूक्ष्म काव्य-प्रतिभा से अनेक प्रकार की रचनाओं मे मूर्त किया है। उनके प्रगीत, सॉनेट तथा 'सावित्री' के समान बडी रचनाएँ भी मुख्यतः भावपरक, प्रतीकात्मक तथा आत्मकथा पूर्ण है, जिनमें उच्चतम मानसिक, अधिमानसिक स्तरो की प्रेरणाएँ छदलय ध्वनियो की पूर्णता मे ढाल दी गयी है। उनकी आत्मकथा नि.सदेह उनकी उच्च, रहस्यपूर्ण यौगिक अनुभूतियों एवं उपलब्धियों की ही कथा है। श्री अरविन्द ने अपनी रचनाओ मे निराकार प्रकाश के देवों को जैसे वाणी का परिधान पहनाकर साकार कर दिया है। आप उनके साथ अनेक चैतन्यो के लोको मे विचरण कर शाति, सौंदर्य, आनन्द और प्रकाश के सागर मे डूब जाते है।

श्री अरविन्द ने प्रेम और प्रकृति सबधी कविताओ के अतिरिक्त मुख्यत अंतर्जगत के उच्च मानसिक स्तरो तथा आत्मा परमात्मा सबधी कविताएँ की है। कला शिल्प मे उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि रही है। सस्कृत, ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य के साथ ही पश्चिम की अन्य भाषाओ, विशेषत., अग्रेजी और फ्रेच के प्राचीन अर्वाचीन साहित्य के गहन अध्ययन एवं ज्ञान ने उनकी सौदर्य रुचि, कल्पना तथा कलादृष्टि को अत्यत मार्जित कर दिया था। उनका अपना आंतरिक सस्कार भी इस दिशा मे अत्यन्त विकसित था। उन्होंने सस्कृत और बगला मे सभवतः थोडा बहुत लिखा हो पर उनकी आत्माभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम अग्रेजी ही रही है और अग्रेजी भाषा को उनकी उच्चतम प्रकाश और चैतन्य की रचनाएँ अमर और अनूठी देन हैं।

उनकी इगलैड मे लिखी गई छात्रावस्था की रचनाओं में भी भाषा के निखार के साथ कवित्व एव कला के प्रचुर उपकरण मिलते है, किन्तु कलात्मक पूर्णता ही उनके काव्य का ध्येय नही कहा जा सकता। कलात्मक पूर्णता के भीतर जो एक और समग्र-पूर्णता—जिसे आत्मिक पूर्णता का ऐश्वर्य कह सकते हैं—जो उन्हें अपनी योग दृष्टि तथा

साधना से प्राप्त हुआ—उसी को हम वास्तव में श्री अरविन्द का काव्य सौंदर्य अथवा प्रकाश वैभव कह सकते है ।

श्री अरविन्द के प्रेम काव्य मे सौदर्य का पवित्र निखार, भावना की गहराई, सच्चाई और स्वाभाविकता मिलती है, उनमे प्राणों की ऊर्ध्वमुखी उजली आग का स्पर्श मिलता है। उनकी प्रकृति सबधी कविताओ में प्रकृति के मातृरूप के दर्शन होते है। करुणा, ममता, स्नेहमयी भूतों की जननी, जिसे पाशविक क्रूरता छू तक नहीं गई है। बाह्य प्रकृति के स्निग्ध मधुर रूप रग, श्रीसुषमा, एवं गध-ध्वनियों के मार्मिक वैचित्र्य का भी उन्होने चित्रण किया , पर व बाह्य निसर्ग को अतर्विश्व से पृथक् केवल छायाप्रकाश की चचल सृष्टि के रूप मे न देखकर उसे कवि ने मनश्चक्षु से, विश्व विधायिनी शक्ति के रूप मे, अपनी समग्रता मे ही अधिक देखते है । उच्च अधिमानसिक तथा आध्यात्मिक स्तरों की रचनाएँ तो उनकी प्रतिभा का सर्वाधिक प्रतिनिधि कृतित्व है ही । ऊँची से ऊँची अलंघ्य आध्यात्मिक उड़ान भरते हुए भी श्री अरविन्द के पैर पृथ्वी से नही उखडते है । वह आध्यात्मिकता के शून्य आकाश में खो जाने मे विश्वास नहीं करते थे प्रत्युत उच्च शिखरों की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतार कर उन्हे पृथ्वी की चेतना का अग बनाकर मानव जीवन को संपूर्ण, समृद्ध तथा सुन्दर बनाना चाहते थे ।

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त श्री अरविन्द ने भतृहरि के नीति शतक तथा कालिदास की विक्रमोर्वशी का भी भावानुवाद किया है जिनमें मौलिक सौदर्य तथा रस मिलता है । 'सांगज आफ सी' उनका किया आ सी० आर० दास के 'सागर सगीत' का भावानुवाद है । ये तीनों अनुवाद Collected Poems and Plays के नाम से दो भागो में प्रकाशित उनकी कविताओं तथा नाटको के बृहत् सकलन मे मिलते है । इस संकलन में श्री अरविन्द की सन् १९४२ मे प्रकाशित और भी उनकी रचनाएँ सम्मिलित हैं। प्रथम भाग में Songs to Myrtilla के अंतर्गत उनकी कुछ प्रारंभिक रचनाएँ हैं जो उन्होंन केम्ब्रिज और लंदन में १८९०-९२ के बीच लिखी थी । इसी में ४।५ और भी रचनाएं है जो उन्होंने १८९३ में भारत लौटने पर लिखी थी । 'उर्वशी' नामक वर्णनात्मक प्रेम काव्य भी उन्होंने इन्ही दिनो भारत आने पर लिखा था । Love and Death नामक रचना इसके कुछ ही काल बाद लिखी गई थी । जो अत्यत प्रसिद्ध कविता है। Ahana and Other Poems के अतर्गत उनकी कुछ पाडिचेरी जाने से पहिले की और बाद की कविताएँ एकत्रित है ।

दूसरे भाग में १९०२–१९१० तक की रचनाएँ है जब श्री अरविन्द राजनीतिक कार्यों में व्यस्त थे । इनमे से कुछ रचनाएँ पहिले Modern Review, Karma Yogin और Standard Bearer मे प्रकाशित हो चुकी थी । इस भाग की कुछ रचनाएँ पाडिचेरी मे भी लिखी गई है जिनमे 'सागर सगीत' का अनुवाद भी है जो

श्री चित्तरंजन दास के अनुरोध करने पर किया गया था। बगाल मे लिखी हुई श्री अरविन्द के राजनीतिक काल की अनेक रचनाएँ उनके अव्यवस्थित जीवन के कारण खो गई हैं। इनके अतिरिक्त १९२० और ३० के बीच की समस्त रचनाएँ जो तब तक अप्रकाशित थीं इस संकलन में नहीं आ सकी हैं।

उपर्युक्त संकलनों के अतिरिक्त अब श्री अरविन्द की रचनाओं के और भी अनेक सग्रह प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें Poems of the Past and Present etc. हैं।

श्री अरविन्द के योग तथा दर्शन ने संसार का ध्यान इतना अधिक आकर्षित कर लिया है कि उनकी महान् काव्य प्रतिभा की ओर ध्यान देने का अभी मनीषियों को अवसर ही नहीं मिल सका है। श्री अरविन्द दार्शनिक के रूप में तो कवि हैं ही, उच्च कवि के रूप में भी ऋषि दार्शनिक हैं। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति उनका 'सावित्री' नाम का महाकाव्य है जिसमें उन्होने अपने समस्त दर्शन के योगामृत को प्रकाश और सौंदर्य के कलश में भर कर विश्व को अमर भेंट के रूप में प्रदान किया है। सावित्री और सत्य-वान की सामान्य सी पौराणिक कथा को उन्होंने अपनी भागवत चेतना का अमृत पिलाकर अमृतत्व में परिणत कर दिया। 'सावित्री' श्री अरविन्द के अन्तश्चैतन्य की स्फटिक शुभ्र वाणी का भागवत प्रासाद अथवा मदिर है। वह ज्ञान शक्ति तथा चैतन्य का आनंद सिंधु है : निश्चेतन से अतिचेतन तक छहरा हुआ विश्व सत्य की आरपार व्यापी गहनतम अनुभूतियों का अनिर्वचनीय अपार्थिव इन्द्रधनुषी सौदर्य सेतु है...जिसके संबंध में इस छोटी सी वार्ता में कहना असम्भव है।

अन्त में उनकी रचनाओं के कुछ अंशों का अनुवाद प्रस्तुत कर इस वार्ता को समाप्त कर रहा हूँ : पहिला अंश है उनके—

'नील विहग' से......
मैं प्रभु के नभ का नील विहग,
दिव्योच्च विपलता में जो स्थित,
मै गाता सत्य मधुर के स्वर
देवों के स्वर्दूतो के हित।
मैं मृत्यु लोक से ज्वाला सा
उठता अनंत में शोक रहित,
मै पीड़ित मर्त्य धरा रज पर
बरसाता अग्नि बीज हर्षित।

दूसरा अंश है—

'अग्नि बधू' का
ऐ अग्निवधू, मुझको कस ले, बाँहों में अग्नि वधू उदार,
झर गए फूल के पार्थिव रँग, मैंने ममता को दिया मार!

आभाशोभे, आवृत कर ले, आभाशोभे, मेरा जीवन,
मैं तृष्णा त्यागी, शोकमुक्त, कर सकता तेरा हर्ष वहन !
निःसीम नाद, मेरे उर में जग, ए केवल के आमंत्रण,
अंकित कर उसमे चिर प्रकाश, जो मिटे न फिर जीवित पूषण ।

अंत मे सावित्री के तृतीय पर्व के द्वितीय सर्ग. . .भागवती माता की वंदना का एक छोटा सा अंश सुनिए :

संपूर्ण विश्व प्रकृति मूकभाव से उसी को पुकारती है
कि वह अपने पदो से जीवन की दुखती हुई धड़कन का उपचार करे
और मनुष्य की धुँधली आत्मा पर मुद्रित चिह्नों को तोड़े
तथा पदार्थों के रुद्ध हृदय मे अपनी आग सुलगाए ।
एक दिन यहाँ सब कुछ उसकी मधुरिमा का धाम बन जायगा ।
समस्त विरोध उसके सामंजस्य की तैयारी करते है,
हमारा ज्ञान उसी की ओर आरोहण करता है
हमारी कामना उसी को अंधकार में खोजती है,
उसके अलौकिक आनंदाधिक्य मे हमारा अधिवास होगा,
उसका परिरंभ हमारे दुःख को परमानंद में बदल देगा ।
हमारी आत्मा उसके द्वारा सब की आत्मा से एक हो जायगी
उसमें रूपान्तरित हो जाने के कारण उसी में प्रतिष्ठित होकर
हमारा जीवन अपने पूर्ण-काम उत्तर में
ऊपर, निःसीम मौन अपवर्गों को पाएगा,
नीचे, दैवी परिरंभ का विस्मय !

———

एक अनुभव

१८ ता० को तीसरे पहर इलाहाबाद से चला था—आज प्राय २८ घण्टो के बाद शाम को अल्मोड़ा पहुँचा हूँ। दूर से अस्ताचलगामी सूर्य की किरणो का मुकुट पहनी हुई पहाड़ की ऊँची ऊँची चोटियो को देखकर दिन भर की थकान दूर हो गयी। मन से एक बोझ सा उठ गया। इधर कई महीनो से भीतर ही भीतर जो उधेडबुन चल रही थी वह जैसे पलक मारते ही कुहासे की तरह फट गई। और मै जो जानना चाहता था वह अपने आप पहाड़ की ऊँची ऊँची चोटियों की तरह मन मे निखर आया। जैसे किरीट पक्ति देवताओं की श्रेणी मूर्तिमान हो उठी हो।—पहाडो का अपना एक सात्विक सौदर्य होता है, जिसका हृदय पर बड़ा स्वच्छ और स्वस्थ प्रभाव पड़ता है. वह मन को ऊपर उठाता है। यह मेरा बार-बार का असदिग्ध अनुभव है।—समुद्र के विशाल वक्ष को देखकर ऐसी प्रतिक्रिया मेरे भीतर नही हुई थी। समुद्र विराट् अवश्य है, पर मात्र पार्थिव-समतलता लिए हुए; किन्तु ये उच्च पर्वत शिखर तो आकाश से बातें करते है। सभवतः तभी इनका ऐसा निर्मल, आह्लादकारक, उन्नयनशील, शब्दहीन मौन-नील प्रभाव मन के उद्वेग को, आदोलित चित्त को शात कर देता है—जैसे शाति ही इनमे घनीभूत होकर सोई हुई हो।

यह जो भी हो, पर मन का ऊहापोह मिट जाने से न जाने कैसी गहरी प्रसन्नता का, कैसी स्वच्छ शान्ति और मुक्ति का अनुभव कर रहा हूँ—यह अच्छा ही हुआ। कल मेरा जन्मदिवस है। आज मेरा मन जैसे नए वर्ष का स्वागत करने के लिए—नई तैयारी करने के लिए निश्चिन्त हो गया। अँधेरा होने लगा है, धीरे-धीरे नीला अँधेरा—जैसे बहुत ही पतला नीला मलमल फहरा रहा हो। या किसी ने अपने घन-नील कुतलों का बारीक रेशम खोलकर मेरे चारों ओर बखेर दिया हो। दुलार भरी, वन गध सनी, चीड़ की सूइयो की श्लक्ष्ण आवाज़ मे गाती हुई, ठडी पहाड़ी वायु मेरी दुखती रगों म, तप्त शिराओ मे प्रवेश कर जैसे लोरियाँ भरी थपकी देकर मुझे सुला देना चाहती है। कल मै निदाघ दग्ध प्यासे चातक की तरह प्रयाग की लू में तड़प रहा था।

आज २० मई है जन्म दिन की खुशी को मैंने मन के बहुत भीतर छिपा लिया है। कौन कहता है दिन और रात पृथ्वी के अपने ध्रुव के चारों ओर किसी यान्त्रिक गति मे घूमने के कारण होते है? आज का दिवस सचमुच ही पृथ्वी के साथ चक्कर खाने वाला रोज का पिटापिटाया सामान्य दिन नहीं है: यह एक विशेष दिवस है जिसके भाव-मूल मेरी चेतना में अत्यन्त गहरे कही घुसे हुए है। यह दिवस नही अमृत कलश है, जिसे स्वयं

जीवन लक्ष्मी मेरे लिए अनन्त के आनंद सिंधु से भर कर लाई है, कुछ कुछ ऐसा ही सम्मोहन भरा लगता है अपना जन्मदिन। किरणहीन कोमल गीली धूप गुलाबी हाला की तरह आकाश की प्याली मे भरी छलक रही है। बहुत सबेरे ही उठकर बाहर निकल आया हूँ। समस्त पहाडी पर चोटी से लेकर कमर तक—नही, कमर पर तो मालरोड, जो अब गांधी मार्ग कहलाती है, कर्धनी की तरह वह पड़ी हुई है—पहाडी की कमर से भी नीचे—बिल्कुल नीचे, पैरो के टखनो तक बसा हुआ अल्मोडे का घना फैला हुआ नगर सामने सहसा चित्रपट की तरह खुला नजर आ रहा है!—यह क्या? यह जैसे केवल नगर का मानचित्र हो! या कुम्हार द्वारा मिट्टी से बनाया हुआ अथवा किसी कारीगर द्वारा मोम से ढाला हुआ नगर का नकली ढाँचा या शिल्पचित्र हो!—और असली नगर केवल किरणो की रेखाओं और ओस की चमकीली धुँधली भापो का बना हुआ इस मिट्टी गारे के नगर के ऊपर अलग से रखा हो!—यह दृष्टि भ्रम तो नही है? कभी कभी आँख को वस्तुओ के दुहरे रूप सूझने लगने लगते है।—मैंने फिर से आँखें मल कर देखा—नही, भ्रम नही है। यह नगर के देह-पंजर से ऊपर उठकर उसकी चेतना या आत्मा बाहर निकल आई है। नगर की मनोमय सूक्ष्म देह: करुणा, ममता और शक्ति से भरी हुई। यह जैसे अपनी विस्तृत स्नेहोच्छ्वसित दृष्टि से मुझे देख रही है। और मै उसकी आँखो मे जैसे उसकी समस्त मानसिक वेदना, आशा आकांक्षा और सुख-दुःख की कहानी पढ रहा हूँ। उफ, इतने स्पष्ट रूप मे तो मै अल्मोडे के जीवन को कभी नही समझ सका था—इस पहाडी नगरी की प्रसव वेदना को! पार्वती की तपश्चर्या को!—यह कैसा सूक्ष्म दर्शन है? मेरी आँखें न जाने किस अज्ञात सहानुभूति से, मार्मिक अनुभूति से वाष्पाकुल हो उठी है!

२१ मई

कल से उस दृष्टि ने अभी मन को नहीं छोडा—न जाने सालगिरह के दिन वह कैसा रहस्य भरा उद्‌घाटन मन की आँखो के सामने हुआ। तबसे चित्त व्याकुल, चिन्तन-मग्न और अशान्त है।—ऐसा लगता है कि उसको अधिक प्रकाश चाहिए, अधिक और अधिक प्रकाश।—पर उसे क्या केवल प्रकाश कहना ठीक होगा?—वह सभवत. प्रकाश से मिलती जुलती पर उससे अधिक ठोस और ग्रहणशील वास्तविकता है—जिसे मै प्रकाश कह रहा हूँ।—लगता है, हम सब जैसे कब से मृत्यु को ओढे हुए है। युगो के मृत पदार्थ को, निर्जीव संस्कारो को! न जाने कब का हमारा अपर्याप्त बोध, निर्जीव अँधियाले की तरह हमसे चिपटा हुआ—हमे विवश करके चला रहा है।—हम उसी के घेरे के भीतर हाथ पॉव मार रहे है—और सोच रहे हैं कि हम चल फिर रहे है—हम जीवित है और जीवन का उपभोग कर रहे है।—यह कैसी विवशता है? किन युगो के भूत प्रेत, रूढ़ि-रीति और चलन हमारे मन पर अधिकार जमाए हुए—हमारा रक्त पीकर अब

तक स्वय जी रहे है और हम उनके अंधकार का बोझ ढोने वाले उनके मूक वाहन बने हुए है। हाय रे रूढियो के पथराए हुए ढूह, मनुष्य के मन, तुम्हे नयी दृष्टि, व्यापक जीवन बोध, विकसित मान्यताएँ और अधिक पूर्ण चैतन्य चाहिए कि तुम वास्तविक जीवन व्यतीत कर सको---अधिक पूर्ण बन सको---अधकार के क्रमियों और पशुओ की योनि से बाहर निकल कर ईश्वर के कधे पर हाथ रख कर प्रकाश, सौदर्य और आनद की दिशा की ओर मुक्त अबाध गति से बढ सको---अल्मोडे की उस छायानगरी की करुण व्यथा भरी दृष्टि तब से रह रह कर मन को कचोट रही है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ !

जब मै भावुक किशोर था तब अपने आस पास की वस्तुएँ—पर्वत प्रांत का वातावरण तथा अपने चतुर्दिक् का परिवेश इतना वैचित्र्यभरा लगता था कि मेरा मन निरतर विस्मयाभिभूत रहता था । पीछे बडा होने पर मुझे अनुभव हुआ कि यह विश्व सचमुच ही बडा रहस्यमय है और विस्मयाभिभूत होने की किशोरप्रवृत्ति सवेदनशील मनुष्य के हृदय से कभी भी पूर्णत. नही मिटती । मेरा व्यक्तिगत जीवन स्वयं ही इतने उतार चढ़ावो तथा मोड़ो से होकर बीता कि मेरे मानस पटल पर अनेक सुख दु ख भरी स्मृतियों तथा जीवन के उत्थान पतनो की गंभीर रेखाएँ छोड गया है । वास्तव मे प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे कुछ ऐसी अविस्मरणीय तथा अघटित घटनाएँ घटती हैं और वे इतनी व्यक्तिगत एव निजी होती हैं कि न उन्हे किसी से कहते ही बनता है और न उन्हे चुपचाप भूलते ही बनता है । सभवत प्रत्येक व्यक्ति इस संसार मे अपना एक विशिष्ट स्वभाव, विशेष रुचि तथा भाव प्रवण दृष्टि बिन्दु लेकर पैदा होता है, उसकी अपनी पैतृक तथा पारिवारिक सस्कारो की भी सीमाएँ होती है और बचपन मे वह जिन परिस्थितियों या परिवेश मे पल कर बडा होता है वे भी अपना प्रभाव ज्ञात-अज्ञात रूप से उसके मन मे अकित कर जाते है । पर इसके बाद जब उसे साधारण ससार का, व्यापक जीवन तथा निर्मम समाज का सामना करना पडता है तब उसके भीतर अत्यत अनिवार्य मंथन चलता है और उसे अपनी अनेक प्रिय धारणाओ को बदलना तथा मन की इच्छाओ को कुचलना पड़ता है और अपने स्वभाव तथा आदर्शो से मेल न खाती हुई अनेक बाहरी परिस्थितियो से समझौता करना पड़ता है । जो सब के लिए सुखद तो किसी प्रकार भी नही ही होता है, वह सदैव सरल अथवा अपने बस का भी नही होता । ऐसे अवसरो पर व्यक्ति के मन को बड़ा धक्का पहुँचता है और वह अनेक प्रकार के तर्क वितर्क तथा ऊहापोह मे पड कर जीवन की सार्थकता खोजने के प्रयास मे अपने लिए एक जीवन दर्शन गढने का प्रयत्न करता है, जिसमे वह सदैव ही सफल नही होता और ऐसी स्थिति मे वह एक विचित्र मानसिक अवस्था मे होता है—जिसमे कटुता, मधुरता, साहस, भय, क्रोध, क्षमा, आशा-निराशा तथा हर्ष और विषाद उसके भीतर आँखमिचौनी खेलते रहते है और यदि वह स्वभाव से भावुक तथा उदार है तो वह परिस्थितियो के निर्मम आघातो को सहज भाव से झेलता हुआ अपने को दु.ख के बोझ से नही दबने देता और किसी प्रकार अपने गुण वैशिष्ठ्य की रक्षा करते हुए ससार के साथ समझौता कर आगे बढ़ने मे सफल होता है अन्यथा यदि वह अपनी ही अहता को अधिक महत्त्व देने वाला, आत्म परिवर्तन तथा मन.संस्कार के प्रति विमुख तथा दूसरों के प्रति असहनशील होता है तो वह कभी

न कभी जीवन संघर्ष मे टूट कर संसार के प्रति अत्यंत कटु, मानव जीवन के प्रति आस्था हीन तथा समाज के प्रति संदिग्ध होकर अत में आत्म पराजय स्वीकार कर विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार के अनेकानेक अनुभव छोटी बडी मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति को इस जटिल विश्व जीवन के क्षेत्र संसार में प्रायः हुआ करते हैं, और मनुष्य के भीतर अपना मीठा, तीता स्वाद छोड़ जाते हैं। विशेषकर हमारे युग मे जो कि महान् परिवर्तनों तथा विश्व क्रान्तियो का अत्यधिक संघर्षशील युग है, जिसमें व्यक्ति की ही नहीं, समस्त समाज, देश तथा जातियों की नियति मे भी विराट् परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उपर्युक्त अनुभूतियों की प्रक्रिया और भी तीव्रतर होकर मनुष्य को विस्मयाभिभूत के साथ कर्तव्यविमूढ भी बना देती है।

मै अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन के सघर्षपूर्ण उत्थान पतनों के सबध मे कई बार पहले भी संकेत कर चुका हूँ। मेरे भीतर एक स्वस्थ प्रवृत्ति किसी न किसी रूप मे निरतर काम करती रही है और वह यह कि मैंने अपने व्यक्तिगत जीवन के हर्ष विषाद को अपने युग के विराट् मानव संघर्ष को समर्पित कर विश्व जीवन की प्रगति के प्रति अपने मन को सदैव खुला रखा, जिससे मुझे अपने वैयक्तिक विकास मे भी बड़ी सहायता मिली। और सबसे अधिक, अपनी अनेक असफलताओ एव जीवन मन की कटुताओं का बोझ मुझे दु.सह नही प्रतीत हुआ क्योकि मेरे मन का आग्रह सदैव अपनी सीमाओं को अतिक्रम कर युग मानस के वातायन से विश्वजीवन का मुख निरखने-परखने की ओर रहा है। शीघ्र ही मेरे मन मे यह बात अच्छी तरह बैठ गई कि व्यक्ति की नियति—समाज की नियति, और इस युग मे, मानवता की नियति के साथ अविच्छिन्न रूप से बँधी हुई है और मानवता के विकास के साथ ही व्यक्ति का विकास होना सभव तथा सार्थक है। विश्वजीवन के राजपथ से विमुख होकर वैयक्तिक इच्छा की छोटी मोटी पगडडी का अनुसरण करना मनुष्यत्व के आत्म सम्मान के विरुद्ध होने के साथ ही कालान्तर मे अमगल का भी द्योतक है। अतः अपनी छोटी सी डोगी किनारे पर ही छोड़ कर मै—युग जीवन की उत्ताल तरगो से सघर्ष करते और उनके थपेडे सह कर उन्हे चीरते एवं आगे बढते हुए—मानवता के विशाल यान मे कूद पडा और विश्व जीवन के हर्ष विषाद, आशा निराशा भरे महान् उत्थान पतनों की चोट मे अपने व्यक्तिगत तुच्छ सुख दु ख, सफलता असफलता तथा यश अपयश की बात भूल गया। जब अपने विराट् युग जीवन के तट पर खडा मै अपनी कल्पना के आकाशचुबी अत शिखरो पर विचरण करता हुआ, अपनी चेतना के जीवन की यथार्थता तथा उसके रहस्यात्मक अनुभवों के बारे मे सोचता हूँ तो मेरा मन विस्मय से अवाक् होकर जैसे विचारमग्न हो कर कह उठता है—क्या भूलूँ क्या याद करूँ!